# प्रकाशकीय निवेदन।

सदरहु ग्रन्थमालानो जेओश्रीना उत्तम गुणोथी भक्तिभावे प्रेराईने प्रादुर्भाव करवामां आव्यो छे तेओश्री सकलागमरहस्यवेदी परमगीतार्थ स्वर्गस्थ आचार्यदेव श्रीमद् **विजयदानसूरीश्वरजीना** समुदायना मुनिपुंगवोना ज्ञानभक्तिना उपदेश तथा ग्रन्थना संशोधनमां पोताना अमूल्य समयनो लाभ आपवाद्वारा तैयार थयेल आ आवश्यकनिर्युक्तिदीपिका नामना ग्रन्थनो बीजो विभाग ज्ञानप्रिय जनताना हाथमां मूकता मने अत्यंत आनंद थाय छे.

सदरहु ग्रन्थनी उपयोगिता विषे प्रथम विभागना निवेदनमां जणावेल होवाथी अत्रे ते सबंधी कंई पण उल्लेख करवामां आवतो नथी.

सदरहु ग्रन्थना कर्ता विषे जो साहित्य उपलब्ध थशे तो पछीथी आपवामा आवशे एम प्रथम विभागना निवेदनमां जणाववामां आवेल, परंतु खेद साथे जणाववुं पडे छे के कंई पण विशिष्ट सामग्री प्राप्त थयेल नथी तेथी अत्रे आपवामां आवेल नथी.

सदरहु ग्रन्थना प्रथम विभागमां केटलीक अशुद्धिओ रही जवा पामी हती परंतु तेना प्रकाशन वखते अवसरना अभावे तेनु शुद्धिपत्रक ते साथे दाखल करवामां आव्युं न हतुं तेथी आ ग्रन्थमा बन्ने विभागोनु शुद्धिपत्रक दाखल करवामा आव्युं छे.

सदरहु ग्रन्थनु काळजीपूर्वक सशोधन करवामां पूज्य मुनिराजश्री **मानविजयजी** महाराजे अत्यत परिश्रम उठावेल छे, अने बन्ने भागो छपाईने तैयार थया पछी रही गयेल अशुद्धिओ शोधीने शुद्धिपत्रक पण तेओश्रीए तैयार करेल छे, छतां पण दृष्टिदोषथी अगर प्रेसदोषथी कंई पण क्षति रही जवा पामी होय तो विद्वद्वर्य्यो सुधारी लेशे एवी आशा छे.

सदरहु ग्रन्थने छपाववा माटे द्रव्यनी सहायना उपदेशदाता मुनिवर, संशोधक मुनिवर अने द्रव्यनी सहाय करनार ज्ञानप्रेमीओनो आ संस्था तरफथी अत्यंत आभार मानुं छुं अने ईच्छुं छुं के सदरहु संस्थाने आवा ग्रन्थोना वधु प्रकाशनमां पोतानी शक्तिओनो लाभ आपे ए ज कामना.

वि. सं. १९९७
अषाढ शुदि २, सुरत.

लि० संपादक–
**मास्तर हीरालाल रणछोडभाई**



| पृष्ठ | पुंठी | पंक्तिः | अशुद्धः | शुद्धः |
|---|---|---|---|---|
| ९ | २ | ९ | पच्चरकाणझयणं | पच्चरकाणज्झयणं |
| १२ | १ | १३ | युग्गपद- | युगपद- |
| १३ | २ | ७ | कइ | कई |
| १४ | १ | ९ | तिर्यक्लोके | तिर्यग्लोके |
| १४ | १ | १० | तिर्युक्लोके | तिर्यग्लोके |
| १५ | १ | ५ | नेकेन्द्रियाद्याः | नेकेन्द्रियाद्याः |
| ,, | २ | ८ | पूर्वपन्नाः | पूर्वप्रपन्नाः |
| ,, | ,, | १० | लेश्या | लेश्याः |
| १६ | ,, | ,, | वंर्णयितु | वंर्णयितुं |
| १७ | १ | ५ | असज्ञिश्रुंत | असज्ञिश्रुतं |
| १७ | १ | १३ | द्वीन्द्रियादि शब्दाः | द्वीन्द्रियादिशब्दाः |
| ,, | २ | ११ | नाणब्भितरे | नाणब्भिन्तरे |
| १८ | १ | १२ | निज्जुत्ति | निज्जुत्ति |

| पृष्ठः | पुंठी | पंक्तिः | अशुद्धः | शुद्धः |
|---|---|---|---|---|
| १९ | १ | ६ | नामानुयोगो | नामनुयोगो |
| २० | १ | ९ | पनकेम्यः | पनकेभ्यः |
| २१ | २ | ४ | गन्धादि पर्यायाः | गन्धादिपर्यायाः |
| २३ | १ | ४ | प्रादेशवत्त्वं | प्रदेशवत्त्व |
| २६ | २ | १३ | पृष्टौ | पृष्ठौ |
| २७ | २ | ५ | फड्ड | फड्डा |
| २८ | २ | ३ | विर्भगा | विभंगा |
| २९ | १ | ६ | चतुभङ्गी | चतुर्भङ्गी |
| ,, | २ | १० | ससूर्यांशु | स सूर्यांशु |
| ,, | ,, | १२ | विषयं | विषं |
| ३२ | ,, | २ | पाश्वस्थाद्या | पार्श्वस्थाद्या |
| ,, | ,, | ६ | शुद्धयते | शुद्ध्यते |
| ३४ | ,, | १२ | कीर्त्तयिमिष्यामि | कीर्त्तयिष्यामि |

| पृष्ठः | पुंठी | पंक्तिः | अशुद्धः | शुद्धः |
|---|---|---|---|---|
| ३८ | १ | ९ | ग्रन्थिं | ग्रन्थिं |
| ३९ | १ | ४ | मलिनार्धशुद्ध-- | मलिनार्धशुद्ध— |
| ,, | ,, | ७ | उत्कृष्टतो पतित | उत्कृष्टतोऽपतित |
| ,, | ,, | ९ | द्वसणर्लभं | द्वंसणलंभ |
| ,, | ,, | ११ | नात्मनामिति | नात्मानमिति |
| ४१ | ,, | ४ | क्रोधाद्यो | क्रोधाद्यौ |
| ,, | ,, | ७ | असख्याशान् | असख्याशान् |
| ४२ | २ | ११ | सम युग | समं युग |
| ४७ | २ | ३ | वामिता | वासिता |
| ५१ | १ | ११ | कुलकरोत्पत्ति | कुलकरोत्पत्ति |
| ५२ | २ | १ | भून्यभूत् | भुन्यभूत् |
| ५८ | २ | ३ | पकेष्वन्नं | पक्वेष्वन्नं |
| ५९ | १ | ११ | स्मश्रुकर्मेति | श्मश्रुकर्मेति |

| पृष्ठः | पुंठी | पंक्तिः | अशुद्धः | शुद्धः |
|---|---|---|---|---|
| ५९ | १ | ११ | स्मश्रु | श्मश्रु |
| ,, | २ | १० | पुर्व्वि | पुव्वि |
| ६० | ,, | २ | सिध्घुत्ति | सिद्धुत्ति |
| ६२ | २ | ५ | कियन्तिचिद्गाथा | काश्चिद्गाथा |
| ६७ | २ | २ | चतुर्दशपूर्वी— | चतुर्दशपूर्वि- |
| ६८ | १ | ११ | अद्धु | अद्ध |
| ६८ | २ | ८ | पन्ना | पण्ण |
| ७० | २ | ८ | ३१८ | ३०८ |
| ७२ | १ | ६ | वढनथ | वदतथ |
| ७३ | २ | १३ | ऋषभ | भरत |
| ७४ | १ | ४ | सयराहु | सयराहं |
| ७७ | १ | ३ | नूतननां | नूतनतां |
| ८२ | २ | २ | सागराकोटि | सागरकोटि |

| पृष्ठः | पुंठी | पंक्ति. | अशुद्धः | शुद्धः |
|---|---|---|---|---|
| ८७ | २ | ७ | स्त्रिपृष्टिः | स्त्रिपृष्ठिः |
| ९० | २ | ५ | दासीदाम | दासीदास |
| ९२ | २ | ११ | सीह | सीहा |
| ९३ | १ | ६ | स्वछच्न्द० | स्वच्छन्द० |
| ,, | ,, | १२ | साण | सण |
| ९५ | २ | ४ | ज्जनवलभो | ज्जनवल्लभो |
| ,, | ,, | ११ | आयातौ | आयातो |
| ९६ | १ | ८ | तत्रैकरार्त्रि | तत्रैकरात्रिं |
| ,, | ,, | १०. | 'अचियत्तुग्गहु'त्ति | 'अचियत्तुग्गही'ति |
| ,, | २ | १ | 'वासट्ठिअगामि'त्ति | 'वासट्ठिअग्गामि'त्ति |
| ,, | ,, | ३ | ग्रीष्मे | ग्रीष्मे |
| ,, | ,, | ११ | सप्तमा | सप्तमी |
| ९८ | ,, | ७ | भ०भतरं | म०भन्तरं |

| पृष्ठ | पुंठी | पंक्तिः | अशुद्धः | शुद्धः |
|---|---|---|---|---|
| ९९ | २ | ८ | मुक्तिं | मुक्तिं |
| १०० | १ | १ | स्थितः | स्थिताः |
| १०१ | ,, | ,, | प्रगलभभ्यां | प्रगल्भाभ्यां |
| ,, | ,, | १२ | षष्टवर्षासु | षष्ठवर्षासु |
| ,, | २ | १ | कुण्डक | कुण्डाक |
| ,, | ,, | १० | रुन्नके | रुन्नाके |
| १०२ | ,, | ११ | षष्टै | षष्ठै |
| १०३ | ,, | ३ | उवस्सग्गं | उवसग्गं |
| १०७ | १ | ११ | अनुबुद्ध | अनुबद्धं |
| ,, | २ | ४ | दतदग् | दत्तदग् |
| १११ | १ | ८ | गाथानुलोभ्या | गाथानुलोम्या |
| ,, | २ | ,, | एक्क | एक्के |
| ११५ | २ | ११ | जिक्खमणं | निक्खमणं |

| पृष्ठः | पुंठी | पंक्तिः | अशुद्ध. | शुद्धः |
|---|---|---|---|---|
| ११६ | १ | १० | महिंम | महिम |
| ,, | ,, | ,, | अमिरिसिओ | अमरिसिओ |
| ११९ | २ | ११ | विगुण | विगुणः |
| १२० | १ | १० | नारकणामेव | नारकाणामेव |
| ,, | २ | ५ | मुक्त्वै | मुक्त्वैष |
| १२१ | २ | ६ | मोत्तु | वोत्तुं |
| १२३ | ,, | ५ | दुलङ्घ्यौ | दुलङ्घ्यै |
| १२४ | ,, | ९ | नारकिर्यङ् | नारकितिर्यङ् |
| १२५ | ,, | ४ | अब्भु | अब्भ |
| १२६ | ,, | ७ | बालहीका | बाहलीका |
| ,, | ,, | ८ | रवलीन | खलीन |
| १२७ | १ | ७ | प्राघुणके | प्राघुर्णके |
| १२८ | ,, | ४ | लोपागमाभ्यास | लोपागमाभ्याम |

| पृष्ठः | पुंठी | पंक्तिः | अशुद्धः | शुद्धः |
|---|---|---|---|---|
| १३० | ,, | ३ | मुऽकाचार्य | ऽमुकाचार्य |
| १३१ | २ | ७ | अणाभिण्णो | अणभिण्णो |
| १३२ | १ | १४ | मासादर्वा | मासादर्वाग् |
| १३४ | १ | ५ | पर्यवासितः | पर्यवसित. |
| १३५ | २ | ,, | तंत्रातरा | तंत्रान्तरा |
| १४१ | ,, | १२ | वद्धमालस्स | वद्धमाणस्स |
| १४३ | ,, | २ | इत्याख्या | इत्याख्यां |
| १४५ | १ | १३ | ग्रन्थकारेः | ग्रन्थकारैः |
| १५० | २ | १० | भवान् | भावान् |
| १५१ | ,, | २ | समाइव | सामाइयं |
| १५२ | १ | ११ | णिव्विद्वुण | णिव्वेढुण |
| ,, | २ | ४ | पीठं विष्टरादि | पीठविष्टरादि |
| १५३ | १ | १ | तस्य | तस्स |

| पृष्ठः | पुंठी | पंक्तिः | अशुद्धः | शुद्धः |
|---|---|---|---|---|
| १५३ | १ | ११ | उर्ध्वा४ | उर्ध्वाध |
| ,, | ,, | १३ | वाधस्तनस्य | चाधस्तनस्य |
| ,, | २ | ४ | रुयगतिभा | रुयगनिभा |
| १५४ | १ | ३ | विति | विति |
| ,, | ,, | ,, | देवसंधाया | देवसघाया |
| १५५ | १ | ११ | सास्वादनभावे न | सास्वादनभावेन |
| १५६ | ,, | १० | सामायिकानाभावः | सामायिकानामभावः |
| ,, | २ | २ | वेदको | अवेदको |
| १५७ | १ | ४ | यागोपयो- | योगोपयो- |
| १५७ | १ | ५ | भवन्ती, | भवन्ती ' |
| ,, | २ | ३ | मतिद्वारे | मितिद्वारे |
| १६० | २ | १४ | यथाविधिर्नैमित्तिक | यथाविधि नैमित्तिक |
| १६९ | १ | १ | परिज्ञाद्वारे | प्रत्याख्यानद्वारे |

| पृष्ठः | पुंठी | पंक्तिः | अशुद्धः | शुद्धः |
|---|---|---|---|---|
| १७० | १ | १ | नामस्थाने | नामस्थापने |
| ,, | ,, | ५ | आख्यातकं | आख्यातिकं |
| १७१ | २ | ,, | भवे | भावे |
| ,, | ,, | ६ | कदाचित्क | कादाचित्क |
| १७५ | १ | १२ | वाद्यादिना | वातादिना |
| ,, | ,, | ,, | लेशनात् | श्लेषणात् |
| ,, | २ | १० | मनुज्येभ्यः | मनुष्येभ्यः |
| १८० | २ | ११ | ररकसी | रक्खसी |
| १८१ | १ | २ | यूगर्दभे-नां | गर्दभे-यूनां |
| ,, | २ | ८ | सुसनटोर्ध्वं | सुसनटोद्धर्वं |
| १८३ | १ | १ | नासिकसुंदरी नंदे[१४] | नासिकसुंदरीनंदे[१४] |
| ,, | ,, | ९ | नासिक्यसुन्दरी—नन्द | नासिक्यसुन्दरीनन्द |
| १८६ | ,, | ८ | पङ्क्याम् | पङ्क्त्याम् |

| पृष्ठः | पुंठी | पंक्तिः | अशुद्ध. | शुद्धः |
|---|---|---|---|---|
| १८७ | २ | ११ | तथापीभपृष्ठे | तथापीभपृष्ठे |
| १९२ | ,, | ८ | घड | घट |
| १९५ | १ | ११ | पच्चरकामि | पच्चक्खामि |
| २०४ | २ | १ | दाम्नाया भावान्न | दाम्नायाभावान्न |
| २०५ | २ | ४ | नयनः | नयतः |
| २०६ | १ | ९ | द्रव्याधारवानित्यर्थः | द्रव्याधारवानित्यर्थः |
| २०९ | २ | ,, | गुरुपामूलंमि | गुरुपायमूलंमि |

| पृष्ठः | पुंठी | पंक्तिः | अशुद्धः | शुद्धः |
|---|---|---|---|---|
| २१३ | १ | ८ | जीव | जाव |
| २१४ | ,, | १ | पच्चरकाण | पच्चक्खाण |
| २१८ | २ | ४ | चतुविंधो | चतुर्विधो |
| २२७ | १ | ३ | वेत्तिति | वेत्तीति |
| २२७ | २ | १ | तीथकरा | तीर्थकरा |
| २२८ | १ | २ | मिथ्यात्वविरति | मिथ्यात्वाविरति |

## द्वितीयविभागस्य शुद्धिपत्रकम्

| पृष्ठः | पुंठी | पंक्तिः | अशुद्धः | शुद्धः |
|---|---|---|---|---|
| २ | २ | ९ | भासन्तेः | भासन्ते |
| ३ | ,, | ७ | शय्यातरः | अशय्यातरः |

| पृष्ठः | पुंठीः | पंक्ति | अशुद्धः | शुद्धः |
|---|---|---|---|---|
| ४ | १ | ६ | (कया) | (क्या) |
| ६ | २ | १४ | तिंति णो | तिंतिणो |

| पृष्ठः | पुंठी | पंक्तिः | अशुद्धः | शुद्धः |
|---|---|---|---|---|
| ९ | २ | १२ | यद्योम्यं | यद्योग्यं |
| ,, | ,, | १३ | कज्ञा | कज्जा |
| १० | १ | ४ | पुरुषस्स | पुरुषस्य |
| ,, | २ | १० | मुनिगणसङ्कल्प | मुनिगुणसङ्कल्प |
| २४ | २ | ३ | स्तभा | स्तम्भा |
| २५ | १ | १३ | कम्मो | कओ |
| २७ | १ | ५ | वस्त्राद्यादते | वस्त्राद्याददते |
| ,, | ,, | ८ | विराधाना | विराधना |
| २८ | २ | ३ | नतिचारित्रस्य | नतिचारचारित्रस्य |
| ३२ | १ | ७ | शोधिविधि | शोधिविधि |
| ३४ | १ | ११ | इत्यनाभागो | इत्यनाभोगो |
| ३६ | १ | ६ | इत्र | इव |
| ४१ | १ | २ | चारोऽदिभूत्याह | चारोऽमूदित्याह |

| पृष्ठः | पुंठी | पंक्तिः | अशुक्तः | शुद्धः |
|---|---|---|---|---|
| ५८ | २ | ३ | ध्यानशतकं | पंचक्रियास्वरूपम् |
| ५९ | २ | ३ | ध्यानशतकं | पंचमहाव्रतस्वरूपम् |
| ६० | ,, | ,, | ध्यानशतकं | पारिष्ठापनिकीनिर्युक्तिः |
| ६३ | ,, | ५ | पुव्वत्तो | पुव्वुत्तो |
| ६६ | २ | ११ | कक्कम्वे | कक्कवे |
| ६८ | ,, | १ | स्तिर्यंग्भिः | स्तिर्यग्भिः |
| ६९ | १ | ४ | विंगिचणया | विगिंचणया |
| ७१ | ,, | ,, | णाण | णाणा |
| ७३ | ,, | १४ | कदाचिच्छवस्यो- | कदाचिच्छवस्यो- |
| ,, | २ | ३ | अन्याविष्ठे | अन्याविष्टे |
| ७४ | ,, | ९ | उर्ड्ढ | उर्द्धं |
| ७९ | २ | १ | निकायेहिं | निकाएहिं |
| ,, | ,, | ,, | लेसार्हि | लेसाहिं |

| पृष्ठः | पुंठी | पंक्तिः | अशुद्धः | शुद्धः |
|---|---|---|---|---|
| ८५ | २ | १ | भुज्जाना | भुञ्जाना |
| ८८ | १ | ७ | वध्धं | बध्धं |
| ८९ | २ | ७ | सम्यत्कवात् | सम्यक्त्वात् |
| ९० | १ | ९ | पुज्जो | पुञ्जो |
| ९० | १ | १४ | पुज्जत्रयं | पुञ्जत्रयं |
| ९५ | १ | १४ | अजीहिं | अजीवेहिं |
| ९९ | २ | १ | भुज्जीत | भुञ्जीन |
| १०० | १ | ७ | षण्मासान्तगण | षण्मासान्तर्गण |
| ,, | २ | १३ | प्रागलम्यभाजा | प्रागलभ्म्यभाजा |
| १०६ | २ | १० | नाऽज्ञापि | र्नाऽज्ञापि |
| १०७ | २ | १३ | खिइ | खिति |
| ११० | २ | १० | १२७२ | १२८२ |
| ११७ | १ | ४ | मुत्तरत्नौ | मुत्तरन्तौ |

| पृष्ठः | पुंठी | पंक्तिः | अशुद्धः | शुद्धः |
|---|---|---|---|---|
| ११९ | ,, | ११ | १३०९ | १३१० |
| ,, | २ | ३ | १३१० | १३११ |
| १२० | १ | १ | १३११ | १३१२ |
| ,, | ,, | ७ | १३१२ | १३१३ |
| ,, | ,, | १२ | १३१३ | १३१४ |
| ,, | २ | ७ | १३१४ | १३१५ |
| १२५ | १ | ४ | वर्षत्राणेन | वर्षात्राणेन |
| ,, | ,, | १३ | १२७३ | १३२८ |
| १३० | ,, | ५ | व्यूढे | वूढे |
| १३२ | २ | ६ | असज्झाये | असञ्झाए |
| १३५ | २ | ४ | एकस्मिन | एकस्मिन्न |
| १३९ | २ | २ | परियायाणामि | परियाणामि |
| १४१ | १ | २ | शुध्द्यौ | शुद्धै |

| पृष्ठः | पुंठी | पंक्तिः | अशुद्धः | शुद्धः |
|---|---|---|---|---|
| १४८ | १ | १० | उसि | उस्सि |
| १४९ | ,, | ४ | धनं | घनं |
| १५३ | ,, | ५ | ठाभि | ठामि |
| १५८ | ,, | ७ | वृत्तिश्चूर्ण्यादि | वृत्तिश्चूर्ण्यादि |
| ,, | ,, | १० | मोक्षस्तप्रत्यय | मोक्षस्तत्प्रत्ययं |
| ,, | ,, | ,, | श्रध्या | श्रद्धया |
| १६३ | १ | ६ | पन्नरसहं | पन्नरसण्हं |
| १६६ | १ | १३ | द्वाविंगति | द्वाविंशति |
| १६८ | २ | ९ | स्वः | स्व |
| १६८ | २ | १० | असत्थापनं | असत्स्थापनं |
| १७० | १ | ५ | असोयणया | असोयणयाए |
| ,, | २ | ४ | अनुज्ञाप्य | अननुज्ञाप्य |
| १७४ | २ | ३ | सजयविर- | संजयविरय— |

| पृष्ठः | पुंठी | पंक्तिः | अशुद्धः | शुद्धः |
|---|---|---|---|---|
| १७५ | १ | ५ | रक्ताद्विष्ट | अरक्ताद्विष्ट |
| ,, | ,, | ८ | भविष्यकाल | भविष्यत्काल |
| ,, | ,, | १० | पष्ट | षष्ठं |
| ,, | ,, | ,, | प्रज्ञानुदिश्यो | प्रज्ञानुद्दिश्यो |
| ,, | ,, | ११ | पष्टं | षष्ठं |
| १७८ | ,, | ४ | महाव्रतापकारकाश्च | महाव्रतोपकारकांश्च |
| १७९ | २ | ३ | एकसमाचारिका | एकसामाचारिका |
| ,, | ,, | ,, | अस्तिकता | आस्तिकता |
| १८१ | १ | ६ | तुराहाणां | तुराहाराणां |
| ,, | २ | ९ | कटादिसंस्तार | कटादिसंस्तारक |
| १८६ | १ | १३ | सर्वाहारानेन | सर्वाहारहानेन |
| १९४ | २ | १ | नइसंतारणे | नइसंतारे |
| १९८ | १ | ८ | दृष्ट्वा यातः | दृष्ट्वाऽऽयातः |

प्र. ९६ नी बीजी पुंठीनी १४ मी लीटी वधारानी छे माटे रद करवी.

प्र. ११७ नी बीजी पुंठीमां भाष्यनी गाथा २१३ तथा प्र. ११८ नी पहेली पुंठीमां भाष्यनी गाथा २१४ नी टीका ते ते गाथानी पूर्वे आपेल छे तो ते प्रमाणे समजी लेवुं.

प्र. १२३ थी गाथा नंबर १३१५ थी प्र. १२६ नी गाथा नबर १३३६ सुधीमा एकेक नंबर वधारी लेवो एटले १३१६ थी १३३७ समजवा.



॥ अर्हम् ॥

आचार्यश्री विजयदानसूरीश्वरगुरुभ्यो नमः

श्रीमद् माणेक्यशेखरसूरीश्वरविरचिता

# आवश्यकनिर्युक्तिदीपिका–द्वितीयो विभागः



## अथ तृतीयं वन्दनाध्ययनम्

अथ वन्दनाध्ययनं। प्राक् सामायिकदेष्टॄणां स्तव उक्तोऽत्र तु सामायिकगुणवतां सलिङ्गानां प्रतिपत्तिरुच्यते यथा 'सामाइए ठियस्स जहा तित्थगरा पुज्जा' मान्याश्च तथा गणधरा इति। 'वंद'

**वंदणचिइकिइकम्मं पूयाकम्मं च विणयकम्मं च। कायव्वं कस्स व केण, वावि काहे व कइखुत्तो॥११९०॥**

वन्दनं योगत्रयव्यापारेण नमनं १। चितिर्द्रव्यतो धर्म्मध्वजाद्यादानं भावतो रत्नत्रयादानं २। कृतिरावर्त्तादिकरणं ३। कर्मशब्दस्य प्रत्येकं योजनात् वन्दनस्य, चितौ सत्यां, कृतेश्च कर्म्म वन्दनकर्म्म १, चितिकर्म्म २, कृतिकर्म्म ३। पूजा

सन्मनोवाकायव्यापारः, विनयः प्रणामादिः, तयोः कर्म्म ४–५ । एते पञ्च सामान्यतो वन्दनपर्यायाः । 'वै च तु एव वा' शब्दाः पादपूरणसमुच्चयाद्यर्थाः सर्वगाथासु स्वबुद्ध्या यथासम्भवं ज्ञेयाः । अथ वक्ष्यमाणाणि नवद्वाराणि–कस्य १, केन २, कदा ३, कतिकृत्वः कति वारान् वन्दनं कर्त्तव्यं ४, वा समुच्चये ॥ १११० ॥ 'कइ'

**कइओणयं कइसिरं कइहिं च आवस्सएहि परिसुद्धं।कइदोसविप्पमुक्कं,किइकम्मं कीस कीरइ वा?॥१११**

कत्यवनतं कतिवारान् वन्दनेऽवनतं इषन्नमनं स्यात् ५, कति शिरः, अत्र कति शिरांसि कतिवारान् वा शिरोनामनं ६, कतिभिर्वावश्यकैः शुद्धं ७, कतिदोषविप्रमुक्तं ८, कस्माद्धेतोः ९ कृतिकर्म्म क्रियते ॥ ११११ ॥ वन्दनादीनि द्विधा–द्रव्यतो भावतश्च । द्रव्यतोऽनुपयुक्तस्य सम्यग्दृष्टेः, भावतस्तूपयुक्तस्य, तेषु क्रमाद् दृष्टान्ताः 'सीय'

**सीयले खुड्डए कण्हे, सेवए पालए तहा । पंचेते दिट्ठंता, किइकम्मे होंति णायव्वा ॥१११२॥**

राज्ञः सुतः शीतलः प्रव्रज्य सूरिर्जातस्तत्स्वसा केनचिद्राज्ञोढा, तत्पुत्राः ४ अन्यत्र प्रव्रज्य वहुश्रुता जाताः, गुरुं पृष्ट्वा मातुलं नन्तुकामाः पुरे गता विकालत्वाद्बहिःस्थाः मध्ये व्रजता श्राद्धेन सूरीन् दीक्षितभागिनेयागमनं ज्ञापितवतः, रात्रौ शुभाशयात् केवलज्ञानं । प्रातः सूरयः सूत्रपौरुषीं ततोऽर्थपौरुषीं चिरं निर्माप्य तद्देवकुलं गताः । ते तु वीतरागा नादरं कुर्वते । सूरिणा दण्डकोऽस्थापि । प्रतिक्रम्यालोच्याह 'कुतो वन्दे ?' ते आहुर्यतो रुचिः, ततो रोपात्सर्वान् वन्दित्वोत्थित-स्तैरूचे 'आर्य ! द्रव्यतो वन्दिता भावतो वन्दस्व' । तेन 'किमिदमपि वितथे'त्यादि प्रश्ने ज्ञानिनो ज्ञात्वा स्वनिन्दया भावतो-

वन्दनाध्य-
यने नव-
द्वाराणि ।

ऽन्त्यवन्दने केवलं लब्धम्। यद्यपि केवली अज्ञातः पूर्वं वृद्धोपचारं करोत्यत्र तु प्रागुपचाराभावात्तैर्विनयो न कृतः १। क्षुल्लकः सुलक्षणो गुरुणाऽन्तकाले सूरिः कृतः। सर्वैर्मान्यः स्थविरान्ते पठन् मोहोदयात् साधुषु भिक्षागतेषु द्वितीयेन जलमानाय्य मात्रकं लात्वा भग्नपरिणामो व्रजन् वने विश्रान्तो शंखरप्रायं बद्धपीठं खेजडमर्च्यन्तं जनं दृष्ट्वा दध्यौ–अहो ! भव्येष्वपि वृक्षेषु सत्सु पीठचितिभावाद्वृद्धाद्यर्यत्वाच्चायं पूज्यते, तथा अन्यबहुश्रुतराजसुतसाधुष्वप्यहं निर्गुणोऽपि गुरुमान्यत्वाद्रजोहरणादिचितिमत्वाच्च पूज्योऽभूवं इति निवृत्तः स्थाने समेते वृद्धायालोच्य प्रायश्चित्तं ललौ, तस्यादौ द्रव्यतः पश्चाद्भावतश्चितिः २। वीरकोलिकस्य तु कृष्णभक्त्या ददतो द्रव्यतः। कृष्णस्य १८,००० साधूनां द्वादशावर्त्तवन्दनं ददतो भावतः कृतिकर्म्म। कृष्णः श्रान्तो जिनं जगौ ३६० रणैर्न श्रान्तः, अर्हन्प्राह–क्षायिकसम्यक्त्वार्हत्त्वे आर्जिषातां, यदा वांह्रिर्विद्धस्तदा निन्दागर्हाभ्यां सप्तम्या भुवो बद्धमायुरुद्वेष्टमानेन तृतीया कृता। यद्यायुरधरिष्यत्ततः आद्यक्ष्मामकरिष्यत्, अन्ये तु वन्दनेनेति ३। द्वयोः सेवकयोर्विवदतो राजकुलं यातोः साधुर्मिलितः, एकेन भक्त्या प्रदक्षिणया नतोऽन्येन तु वितर्केण। आद्यस्य जयो भावपूजा चाभूदन्यस्य त्वन्यथा ४। पालकोऽभव्यः, शाम्बो भव्यः, इमौ सुतौ कृष्णेनोक्तौ 'पूर्वं श्रीनेमिवन्दकायेप्सितं दास्ये'। शाम्बेन शयनादुत्थाय गृहे एव भक्त्या नतः। अन्येन तु लोभात्समवसृतौ गत्वा नतः, केनादौ नतः ? इति कृष्णेनोक्तोऽर्हन्प्राह भावतः शाम्बेन द्रव्यतोऽन्येन, ततः शाम्बस्येप्सितं दत्तं। पश्चैते दृष्टान्ताः कृतिकर्म्मणि सामान्यतो वन्दनके ज्ञातव्याः स्युः ॥ १११२ ॥ अथ कस्येति द्वारं। तत्र हिताऽप्रवृत्तिरहितप्रवृत्तिर्महादोषायेति येषां न कर्तव्यं तानाह–'असं'

**असंजयं न वंदिज्जा, मायरं पियरं गुरुं । सेणावइं पसत्थारं, रायाणं देवयाणि य ॥१११३॥**

असंयतां मातरं, एवं पितरं गुरुं पितामहाद्यं सेनापतिं सेनान्यं( नीं ) प्रशास्तारं धर्म्मादिशास्त्राध्यापकं राजानं दैवतानि देवदेवीरूपाणि, चशब्दात्कलागुर्वादीन् न वन्देत वन्दनं न दद्यात् ॥ १११३ ॥ 'सम'

**समणं वंदिज्ज मेहावी, संजयं सुसमाहियं । पंचसमिय तिगुत्तं, अस्संजमदुगुंछगं ॥१११४॥**

श्रमणं वन्देत, यत्र 'मेहाविं' पाठः तत्र मेधाविनं मर्यादावन्तं, यतश्चूर्णौ मेरया धावतीति मेधावी । यत्र तु 'मेहावी'ति तत्र मेधावी न्यायस्थितः । इह मेधावी मेधाविना वन्देयव्वो, चउभंगो । चतुर्थे भङ्गे वंदनकफलं स्यात् । संयतं सम्यक् पापनिवृत्तं । सुष्ठु समाहितं रत्नत्रये उद्यतं, पञ्चसमितं पञ्चसमितियुक्तं, त्रिगुप्तियुक्तं । असंयमजुगुप्सकं निह्नवा ईदृशा अपि मेधाविनोऽतस्ते न वन्द्याः । यतश्चूर्णौ-'एवंगुणसंपउत्ता वंदणिज्जा, न पुण जे समणा मेधावी संजया जाव दुगंछगा इव प्रतिभासन्तेः जहा णिण्हगा जेण ण ते भट्टारगाण सयलं मेरं धावेतित्ति' ॥ १११४ ॥ अथ कस्येति द्वारमध्ये एव वाच्यद्वाराणि पञ्च 'पंच'

**पंचण्हं किइकम्मं, मालामरुएण होइ दिट्ठंतो । वेरुलियनाणदंसण—णीयावासे य जे दोसा ॥१११५॥**

पञ्चानां वक्ष्यमाणानां कृतिकर्म्म न कार्यं । तथा मालामरुकाभ्यां दृष्टान्तः । वैडूर्यदृष्टान्तः, ज्ञानदर्शनयोर्नित्यवासे, चशब्दाच्चैत्यभक्तादिषु ये दोषास्ते वाच्याः ॥ १११५ ॥

पासत्थो ओसन्नो, होइ कुसीलो तहेव संसत्तो। अहछंदोऽवि य एए, अवंदणिज्जा जिणमयंमि ॥ १ ॥

ज्ञानादीनां पार्श्वे तिष्ठतीति पार्श्वस्थः गलिगोवत् पार्श्वे पतितः १। क्रियायां अवसन्नवदवसन्नः २। कुत्सितं ज्ञानादिविराधकं शीलमस्य स कुशीलः ३। संसर्गाद्दोषैर्गुणैश्च संसज्यते संसक्तः ४। यथाच्छन्देन यथेच्छया आगमहीनं प्रवर्त्तते यथाच्छन्दः ५, एते जिनमतेऽवन्दनीयाः।

सो पासत्थो दुविहो, सव्वे देसे य होइ णायव्वो। सव्वंमि णाणदंसण-चरणाणं जो उ पासंमि ॥ २ ॥

'सव्वंमी' ति सर्वतः तानि न सेवते इत्यर्थः।

देसंमि य पासत्थो, सिज्जायरऽभिहड रायपिंडं वा। णिययं च अग्गपिंडं, भुंजति णिक्कारणेणं च ॥ ३ ॥

शय्यातराभ्याहृतराजपिण्डान् नित्यपिण्डं अग्रपिण्डं च निःकारणं चैव भुङ्क्ते। तत्र शय्यातरपिण्डविचारः 'सागारिउति १ को पुण २ काहे वा ३ कइविहो वा स पिंडो ४। असिज्जायरो च काहे ५ परिहरियव्वो य सो कस्स ६ ॥ १ ॥ दोसा व के च तस्स उ ७ कारणजाए व कप्पए कंमि ८। जयणाए वा कए ९ एगमणेगेसु घित्तव्वो १०' ॥ २ ॥ व्याख्या—सागारिको गृहस्थ एव शय्यातरः, १ कः पुनरसौ ? उच्यते य उपाश्रयस्येशस्तत्सन्दिष्टो वा। यदि ते बहवस्तदोत्सर्गतः सर्वेऽपि वर्ज्याः अनिर्वाहे तु परिपाट्या एकैको वर्ज्यः। यदा चोपाश्रयसङ्कीर्णतादिहेतोर्भिन्नोपाश्रयेषु च वसन्ति तदाऽन्यांस्त्यक्तुमशक्तानां यत्र गुरुः स्थितः स शय्यातरः २। कदा शय्यातरः स्यात् ? उच्यते 'जइ जग्गंति सुविहिया करंति आवस्सयं च अन्नत्थ। सिज्जायरो न होइ सुत्ते व कए व सो होइ' ॥ ३ ॥ तुर्यपदव्याख्या—स शय्यातरो

**असंजयं न वंदिज्जा, मायरं पियरं गुरुं । सेणावइं पसत्थारं, रायाणं देवयाणि य ॥१११३॥**

असंयतां मातरं, एवं पितरं गुरुं पितामहाद्यं सेनापतिं सेनान्यं( नीं ) प्रशास्तारं धर्म्मादिशास्त्राध्यापकं राजानं दैवतानि देवदेवीरूपाणि, चशब्दात्कलागुर्वादीन् न वन्देत वन्दनं न दद्यात् ॥ १११३ ॥ ' सम '

**समणं वंदिज्ज मेहावी, संजयं सुसमाहियं । पंचसमिय तिगुत्तं, अस्संजमदुगुंछगं ॥१११४॥**

श्रमणं वन्देत, यत्र 'मेहाविं' पाठः तत्र मेधाविनं मर्यादावन्तं, यतश्चूर्णौ मेरया धावतीति मेधावी । यत्र तु 'मेहावी'ति तत्र मेधावी न्यायस्थितः । इह मेधावी मेधाविना वन्देयव्वो, चउभंगो । चतुर्थे भङ्गे वंदनकफलं स्यात् । संयतं सम्यक् पापनिवृत्तं । सुष्ठु समाहितं रत्नत्रये उद्यतं, पञ्चसमितं पञ्चसमितियुक्तं, त्रिगुप्तियुक्तं । असंयमजुगुप्सकं निह्नवा ईदृशा अपि मेधाविनोऽतस्ते न वन्द्याः । यतश्चूर्णौ–' एवंगुणसंपउत्ता वंदणिज्जा, न पुण जे समणा मेधावी संजया जाव दुगंछगा इव प्रतिभासन्तेः जहा णिण्हगा जेण ण ते भट्टारगाण सयलं मेरं धावेतित्ति ' ॥ १११४ ॥ अथ कस्येति द्वारमध्ये एव वाच्यद्वाराणि पञ्च ' पंच '

**पंचण्हं किइकम्मं, मालामरुएण होइ दिट्ठंतो । वेरुलियनाणदंसण–णीयावासे य जे दोसा ॥१११५॥**

पञ्चानां वक्ष्यमाणानां कृतिकर्म्म न कार्यं । तथा मालामरुकाभ्यां दृष्टान्तः । वैडूर्यदृष्टान्तः, ज्ञानदर्शनयोर्नित्यवासे, चशब्दाच्चैत्यभक्तादिषु ये दोषास्ते वाच्याः ॥ १११५ ॥

पासत्थो ओसन्नो, होइ कुसीलो तहेव संसत्तो। अहछंदोऽवि य एए, अवंदणिज्जा जिणमयंमि ॥ १ ॥

ज्ञानादीनां पार्श्वे तिष्ठतीति पार्श्वस्थः गलिगोवत् पार्श्वे पतितः १। क्रियायां अवसन्नवदवसन्नः २। कुत्सितं ज्ञानादि-विराधकं शीलमस्य स कुशीलः ३। संसर्गाद्दोषैर्गुणैश्च संसज्यते संसक्तः ४। यथाच्छन्देन यथेच्छया आगमहीनं प्रवर्त्तते यथाच्छन्दः ५, एते जिनमतेऽवन्दनीयाः।

सो पासत्थो दुविहो, सव्वे देसे य होइ णायव्वो। सव्वंमि णाणदंसण—चरणाणं जो उ पासंमि ॥ २ ॥

'सव्वंमी' ति सर्वतः तानि न सेवते इत्यर्थः।

देसंमि य पासत्थो, सिज्जायरऽभिहड रायपिंडं वा। णियरं च अग्गपिंडं, भुंजति णिक्कारणेणं च ॥ ३ ॥

शय्यातराभ्याहृतराजपिण्डान् नित्यपिण्डं अग्रपिण्डं च निःकारणं चैव भुङ्क्ते। तत्र शय्यातरपिण्डविचारः 'सागारिउत्ति १ को पुण २ काहे वा ३ कइविहो वा स पिंडो ४। असिज्जायरो च काहे ५ परिहरियव्वो य सो कस्स ६ ॥ १ ॥ दोसा व के च तस्स उ ७ कारणजाए व कप्पए कंमि ८। जयणाए वा कए ९ एगमणेगेसु घित्तव्वो १०' ॥ २ ॥ व्याख्या—सागारिको गृहस्थ एव शय्यातरः, १ कः पुनरसौ ? उच्यते य उपाश्रयस्येशस्तत्सन्दिष्टो वा। यदि ते वहवस्तदोत्सर्गतः सर्वेऽपि वर्ज्याः अनिर्वाहे तु परिपाट्या एकैको वर्ज्यः। यदा चोपाश्रयसङ्कीर्णतादिहेतोर्भिन्नोपाश्रयेषु च वसन्ति तदाऽन्यांस्त्यक्तुमशक्तानां यत्र गुरुः स्थितः स शय्यातरः २। कदा शय्यातरः स्यात् ? उच्यते 'जइ जग्गंति सुविहिया करंनि आवस्सयं च अन्नत्थ। सिज्जायरो न होइ सुत्ते व कए व सो होइ' ॥ ३ ॥ तुर्यपदव्याख्या—स शय्यातरो

रात्रौ साधौ सुप्ते वा प्रभातावश्यके वा कृते भवति ३। कतिविधश्च तस्य पिण्डः? उच्यते द्वादशधा 'असणाईया चउरो पाउंछणवत्थपत्तकंबलयं। सूइछुरकण्णसोहण नहहरिणी सागरियापिंडो'। पाउंछणं रजोहरणं। 'तणडगलछारमल्लगसिज्जा-संथारपीढलेवाई। सिज्जायरपिंडो सो न होइ सेहो य सोवहिओ'। शिष्यश्च सोपधिः शय्यातरपिण्डो न भवेत् ४। अशय्यातरो वा कदा स्यात्? उच्यते—निर्गमकालादन्वष्टप्रहरांस्त्यजन्ति, ततोऽशय्यातरः। आदेशान्तरेण तु 'सुरत्थमणे दिणनिग्गयाणं सूरोदए असागरिओ। अत्थमिय निग्गयाणं बारसजामाउ सागरिओ'। १। सूर्यास्तमनकाले दिने सति निर्गतानां सूर्योदये जाते सति असागारिकोऽशय्यातरः स्यात्, एवं ४ यामाः, अस्तमनादनुनिर्गतानां तस्यां रात्रौ अन्यस्मिंश्चाहोरात्रे गते शय्यातरः स्यादेवं १२ यामाः सागारिकपिण्डः ५। कस्य परिहर्त्तव्यः? उच्यते 'लिंगत्थस्स उ वज्जो तं परिहरओ व भुंजतो वावि। जुत्तस्स अजुत्तस्स व रसावणो इत्थ दिट्ठंते'। तं शय्यातरपिण्डं परिहरतो भुञ्जानस्य गुणैर्युक्तस्यायुक्तस्य वा लिङ्गस्थस्य शय्यातरो वर्ज्यः। रसापणो दृष्टान्तः यथा—महाराष्ट्रे कल्पपालापणे मद्यं भवतु मा वा परं ध्वजो बध्यते तं दृष्ट्वा सर्वे भिक्षाचराद्यास्तु त्यजन्ति। एवं यस्य धर्म्मध्वजो दृश्यते तस्य शय्यातरो वर्ज्यः ६। दोषाः के तस्याऽऽदाने? उच्यते 'तित्थयरपडिकुट्ठो १ अन्नायं २ उग्गमो वि य न सुज्झे ३। अविमुत्ति ४ अलाघवया ५ दुल्लहसिज्जा य ६ वोच्छेओ ७'। व्याख्या—सर्वार्हद्भिर्निषिद्धो यतः 'पुरपच्छिमवज्जेहिं अवि कम्मं जिणवरेहिं। लेसेणं भुत्तं विदेहिएहि य न य सागारिस्स पिंडो उ'। कर्म्मेत्याधाकर्म्म तच्च पूर्वपश्चिमवर्जजिनैर्वैदेहिकैश्च यस्य कृते आधाकर्म्म कृतं तस्याकल्प्यं नत्वन्यस्येति तदुक्तं १। तथाऽज्ञातोंछो न स्यात् आसन्नवासेन ज्ञातस्वरूपत्वात् २। उद्गमोऽपि न शुद्ध्यति, कथं? 'बाहुल्ला गच्छस्स उ पढमालियपाणगाइ-

कज्जसु । सज्झायकरणआउट्टिपा करे उग्गमेगयरं’। गच्छस्य बाहुल्यात्प्रथमालिकादिकार्येषु स्वाध्यायकरणेनावार्त्तिता इत्या-वार्जिता गृहस्था उद्गमाद्येकतरं दोषं कुर्युः ३। तथाऽविमुक्तिः सलोभता, तथाऽलाघवता शरीरोपधिस्थूलत्वं परिचिततया प्रचुराहारोपधिलाभात् ४–५। तथा दुर्लभा शय्या स्यात्। येन किल शय्या देया तेनाहाराद्यपि देयमिति गृहिणां भयोत्पादनात् ६। तथा व्यवच्छेदो विनाशो दाने शय्यायाः शय्यातरेण क्रियते। एते शय्यातरपिण्डग्रहणे दोषाः ७। कस्मिन् कारणे स कल्प्यः? उच्यते ‘ दुविहे गेलन्नंमी निमंतणे दव्वदुल्लभे असिवे। ओमोयरियपओसे भए य गहणं अणुन्नायं ’। आगाढानागाढरूपे द्विविधे ग्लानत्वे, निमन्त्रणे श्राद्धस्य गाढाग्रहे, दुर्लभे क्षीरादिद्रव्येऽशिवे मरका(कया)दौ, अवमौदर्ये दुर्भिक्षे, प्रद्वेषे राज्ञा सर्वत्र भैक्ष्ये निषिद्धे ८। यतनाद्वारं यथा–‘ तिक्खुत्तो सक्खित्ते चउद्दिसिं मग्गिऊण गीयत्थो। दव्वंमि दुल्लभंमी सिज्जायरसंतिए गहणं’। गीतार्थः स्वक्षेत्रे त्रिकृत्वस्त्रीन् वारांश्चतुर्दिक्षु मार्गयित्वा दुर्लभे द्रव्ये शय्यातरसत्के गृहे ग्रहणं कुर्यात् ९। एकानेकद्वारं यथा–यत्रानेकपितृपुत्रादयः शय्यातराः स्युस्तत्र यावन्तः स्वामिनस्तत्सन्दिष्टा वा ते सर्वेऽप्यनुज्ञाप्याः। यो वा तन्मध्येऽनतिक्रमणीयवाक्यः स्यात्तस्यैव पिण्डो वर्ज्यः, तथा स्वस्थाने वसन् शय्यातरः स्याद्देशान्तरगतस्तु न, किन्तु भद्रकप्रान्तदोषात्त्याज्यः, यतो भद्रको विदेशे मदीयं लान्तीत्यशुद्धमपि दद्यात्। प्रान्तस्तु मम स्वगृहस्थस्य न लान्त्यत्र तु लान्तीति मायाविन इति ध्यात्वा वमतिव्यवच्छेदादि कुर्यादित्यावश्यकवृहद्वृत्तिटिप्पनिकाशयः। बृहत्कल्पभाष्ये तु ‘ मुत्तूण गेहं च सपुत्तदारो वणिज्जमाई जइ कारणेहिं। सयं च अण्णं च वणिज्जदेसं सिज्जायरो तत्थ स एव होइ ’। १। स्वकं अन्यं वा देशं व्रजति। तत्रापि दूरदेशादौ गतः स एव शय्यातरो भवति। उक्तः शय्यातरः पिण्डः, अथाभ्याहृताद्याः–स्वान्यग्रामादेः साधुकृते आनीतोऽभ्याहृतः। अथ

राजपिण्डः ' मुदितादिगुणो राया अट्ठविहो तस्स होइ पिंडो ३ त्ति । पुरिमेयराणमेसो वाघायाईहिं पडिकुट्ठो ' ॥ १ ॥ मुदितादिगुण आदितो मूर्द्धाभिषिक्तश्च यतः ' मुईओ मुद्धाभिसित्तो मुईओ जो होइ जोणिसुद्धो य । अभिसित्तो ईयरेहिं सयं च भरहो जहा राया ' । तत्र मुदितो मूर्द्धाभिषिक्तश्चात्र चतुर्भङ्गी । तत्राद्यो दोषाभावेऽपि वर्ज्यः अन्येषु तु दोषसम्भव एव । ' असणाइया चउरो वत्थं पायं च कंबलं चेव । पाउंछणगं च तहा अट्ठविहो रायपिंडो य ' । पूर्वपश्चिमार्हन्मुनीनामेष व्याघातादिभिर्दोषैर्निषिद्धः, तथाहि ' ईसरपभिईहि तहिं वाघाओ खद्धलोहुदाराणं । दंसणसंगो गरिहा ईयरेसि न अप्पमायाओ ' । १ । ईश्वरयुवराजादिभिः प्रविशद्भिर्निर्गच्छद्भिश्च तत्र साधोर्व्याघातः स्खलना स्यात् । अमङ्गलधिया हननं वा । संमर्दात्कायपात्राणां भङ्गो वा स्यात् । तथा ' खद्ध 'त्ति प्रचुरेऽन्नादौ लभ्यमाने लोभः स्यात् । तथा उदाराणां उदारदेहानां हस्त्यश्वस्त्रीनराणां दर्शनसङ्गोऽभिष्वङ्गः स्यात् । तथाऽहो ! राजप्रतिग्रहमप्येते न त्यजन्तीति गर्हा स्यात्, इतरेषां मध्यमार्हत्साधूनां नैते दोषाः स्युः, कुतः ? अप्रमादात्, उक्तो राजपिण्डः । अथ ' णिययं चे 'त्यादि नित्यं तवैतद्दास्यामि इति निमन्त्रणा, नित्यं तावन्मात्रं गृह्णतो नित्यपिण्डः । अग्रपिण्डः अग्रपिण्डं नवोत्तीर्णान्नस्थाल्या अव्यापारितायाः शिखा तथा तामन्यभाजने कृत्वा साधोः पिण्डदानमप्यग्रपिण्डो मण्डीप्राभृतिकाख्यः । अमून् पिण्डान् निष्कारणे भुञ्जानो देशपार्श्वस्थः प्रायः, यतः शीतलरूक्षाद्युचितं तेन सुखायाव्यापारितोष्णान्नाऽऽदाने ग्लानादिहेतुं विना दोषः दर्व्यादि संसृष्टं च स्यात् । परं अर्द्धभुक्ते गृह्णतः पुरःपश्चात्कर्मोष्णादिदोषाभावः, संविभागव्रते गृहिणात्ते तु साधुना गाढं यतना चिन्त्या उष्णे जन्तुयतना च चिन्त्या, कारणे यतनया भुञ्जानोऽपि शुद्धः ।

कुलणिस्साए विहरइ, ठवणकुलाणि य अकारणे विसइ । संखडिपलोयणाए, गच्छइ तह संथवं कुणई ॥ ४ ॥

कुलानि श्रद्धावतां, रसगृद्धस्तन्निश्रया विचरति । गुरुग्लानाद्यर्थं स्थापितानि कुलानि निःकारणं प्रविशति । संखड्य-न्तेऽत्र जीवा इति संखडी विवाहाद्या । तत्र कौतुकाल्लोभाद्वा तथाऽऽदर्शादौ रूपप्रलोकनाय याति । मातापित्रादिसम्बन्धेन संस्तवं परिचयं दातुर्गुणस्तवं वा करोति ।

ओसन्नोऽवि य दुविहो, सव्वे देसे य तत्थ सव्वम्मि । अवद्धपीठफलगो, ठवियभोई य णायव्वो ॥ ५ ॥

' अबद्धपीठे 'ति काष्ठमयसंस्तारकालाभे वंशादिखण्डैर्दृढं बन्धान् दत्त्वा वर्षासु संस्तारकः कार्यः, स च पक्षसन्ध्यादौ बन्धापगमेन प्रत्युपेक्ष्य इत्याज्ञा, यस्त्वेवं न प्रत्युपेक्षते सोऽबद्धपीठफलकः, यद्वा पुनः पुनः शयनादिहेतुं नित्यास्तीर्ण-संस्तार एकान्तानास्तीर्णसंस्तारो वा, उद्बद्धपीठफलको वा यद्वा ऋतुबद्धे वर्षाव्यतीते काले पीठफलसेवी स्थापितक-भोजी च । देशावसन्नमाह—

आवस्सगसज्झाए, पडिलेहणझाणभिक्खऽभत्तट्ठे । आगमणे णिग्गमणे, ठाणे य णिसीयणतुयट्टे ॥ ६ ॥

आवश्यके १, स्वाध्याये २, प्रत्युपेक्षणायां ३, ध्याने ' किं मे कडं किंच मे किच्चसेस 'मित्यादिरूपे एषु सूत्रोक्तयुक्त्यो-पयुक्तो न यतते ४ । भिक्षायां सुखार्थी न याति अनुपयुक्तः सदोषां वा लाति ५, भक्तार्थे इति भोजनमण्डल्यां नात्ति क्षेत्राद्यतीतं संयोजनादिदोषदुष्टं वा भक्तमत्ति ६, आगमनेन नैषेधिकीं ७, निर्गमने आवश्यकीं न करोति ८ । स्थाने इति कायोत्सर्गे गमनागमनादिसत्के प्रमाद्यति ९, निषीदने त्वग्वर्तने च संदंशभूप्रमार्जनादि न कुर्यात् । एतदेवाह—

आवस्सयाइयाइं ण करे, करेइ अहवावि हीणमधियाइं । गुरुवयणबलाइ, तथा भणिओ एसो य ओसन्नो ॥ ७ ॥

आवश्यकादीनि न करोति । प्रमादाद्दर्वाद्वा हीनाधिकान्यकाल एकको वा कुर्यात् । गुरुवचनं चालयति । एवं स स्खलिते मिथ्यादुःकृतं, गुरुवैयावृत्त्यं, प्रत्याख्यानवन्दनं, आदाननिक्षेपे प्रत्युपेक्षणादि च नो कुर्यात् ।

गोणो जहा वलंतो, भंजइ समिलं तु सोऽवि एमेव । गुरुवयणं अकरेंतो, वलइ कुणई व उस्सोढं ॥ ८ ॥

दुष्टो गौः प्रेरितो वलन् संमुखो भूत्वा समिलां भनक्ति । सोऽवसन्न एवमेव गुरुवचनमकुर्व्वन् संमुखो वलति करोति वा । परं ' उस्सोढं 'ति त्वत्पार्श्वेऽहमेवास्मि येन पुनः पुनर्मामेवादिशसीत्याद्युक्त्वा ।

तिविहो होइ कुसीलो, णाणे तह दंसण चरित्ते य । एसो अवंदणिज्जो, पन्नत्तो वीयरायेहिं ॥ ९ ॥

णाणे णाणायारं, जो उ विराहेइ कालमाईयं । दंसणे दंसणायारं, चरणकुसीलो इमो होइ ॥ १० ॥

कालादीत्यकालपाठादि कुर्यात् । दर्शनाचारं निःशङ्कितादि विराधयति ।

कोउय भूईकम्मे, पसिणापसिणे णिमित्तमाजीवे । कक्कुरुए य लक्खण, उवजीवइ विज्जमंताई ॥ ११ ॥

कौतुकं १, भूतिकर्म्म २, प्रश्नाप्रश्नं ३, निमित्तं ४, आजीवः ५, कल्ककुरुका ६, लक्षणानि ७, विद्यामन्त्राद्युपजीवति ८ ।

सोहग्गाइणिमित्तं, परेसि ण्हवणाइ कोउयं भणियं । जरियाइ भूइदाणं, भूईकम्मं विणिदिट्ठं ॥ १२ ॥

परेषां सौभाग्यादिनिमित्तं स्नपनादिकार्यं कौतुकं १ । ज्वरितादेर्भूतिदानं अभिमन्त्रितभस्मादिदानं २ ।

सुविणयविज्जाकहियं, आइंखणिघंटियाइकहियं वा । जं सासइ अन्नेसिं, पसिणापसिणं हवइ एयं ॥ १३ ॥

स्वप्नविद्यया स्वप्नान्तर्यद्वाऽऽख्यायिकाख्यसूर्या मन्त्राहूतया घण्टिकादिद्वारेण कथितं यदन्येषां पृच्छकानां शिष्यते कथ्यते । प्रागर्थिजनप्रश्नस्ततः सूर्यां प्रश्नस्य प्रश्नत्वात्प्रश्नाप्रश्नः ३ प्राकृतत्वादाकारः ।

तीताइभावकहणं होइ णिमित्तं इमं तु आजीवं । जाइकुलसिप्पकम्मे, तवगणसुत्ताइ सत्तविहं ॥ १४ ॥

अतीतादिभावकथनं निमित्तं भवति । अयं त्वाजीवः सप्तधा जातिर्मातृकी १, कुलं पैतृकं २, शिल्पं लेख्यादि ३, कर्म्म कृष्यादि ४, तपः क्षपणादि ५, गणो मल्लादि ६, सूत्रादिज्ञत्वं ७, एतान्युपजीवनाय दातुरग्रे वक्ति ममापि एषैव जातिरित्यादि ।

ककुरुगा य माया, णियडीए जं भणंति तं भणियं । थीलक्खणाइ लक्खण, विज्जामंताइया पयडा ॥ १५ ॥

कल्ककुरुका माया उच्यते, कोऽर्थः निकृत्या परेषां दम्भनं वचनं यद्भणितं जिनैः, लक्षणं स्त्रीलक्षणादि विद्यामन्त्रादिकाः भावाः प्रकटा अतो न व्याख्याताः ।

संसत्तो य इदाणीं, सो पुण गोभत्तलंदए चेव । उच्चिट्ठमणुच्चिट्ठं, जं किंची छुब्भई सव्वं ॥ १६ ॥

इदानीं संसक्तः, स पुनर्गोभक्तलन्दक एव, यथा तत्रोच्छिष्टमनुच्छिष्टं यत्किञ्चित्तत्सर्वं क्षिप्यते ।

एसेव य मूलुत्तर–दोसा य गुणा य जत्तिया केइ । ते तम्मिवि सन्निहिया, संसत्तो भण्णइ तम्हा ॥ १७ ॥

एवमेव मूलं पञ्चमहाव्रतानि उत्तरं पिण्डविशोध्यादि, यथा–' पिंडस्स जा विसोही ४ समिइउ ५ भावणा २५ तवो दुविहो १२ । अभिग्गहो वि य उत्तरगुणिमो वियाणाहि ' ॥ १ ॥ पिण्डश्चतुर्द्धाऽऽहार उपलक्षणाद्वसतिवस्त्रपात्राणां चतुर्णां

विशोधिरभिग्रहो द्रव्य १ क्षेत्र २ काल ३ भावैः ४, इमान् उत्तरगुणान् विजानीहि । मूलोत्तरगुणयोर्दोषाश्च यावन्तः केऽपि ते तस्मिन् सन्निहिताः समीपस्थाः ।

रायविदूसगमाई, अहवावि णडो जहाउ बहुरूवो । अहवा वि मेलगो जो, हलिद्दरागाइ बहुवण्णो ॥ १८ ॥

राजविदूषकादिरथवा नटः क्षणे क्षणे भिन्नचेष्टकत्वात् बहुरूपी अथवा मोऽलाक्षणिकः । एडकस्तु हरिद्रारागादिना बहुवर्णः स्यात् । हरिद्रालिप्तः पीतस्ततः प्रक्षाल्य गुलीलिप्तः कृष्ण इत्यादि ।

सो दुविकप्पो भणिओ, जिणेहि जियरागदोसमोहेहिं । एगो उ संकिलिट्ठो, असंकिलिट्ठो तहा अण्णो ॥ १९ ॥

पंचासवप्पवत्तो, जो खलु तिहि गारवेहि पडिबद्धो । इत्थिगिहिसंकिलिट्ठो, संसत्तो संकिलिट्ठो उ ॥ २० ॥

स संसक्तो द्विविधः पञ्चाश्रवेषु प्राणातिपातादिषु प्रवृत्तः, ऋद्धिरससातैस्त्रिभिर्गारवैः प्रतिबद्धो युक्तः, स्त्रीगृहिसंक्लिष्टः स्त्रीसेवनात् गृहिसम्बन्धितप्तिकरणाच्च । असंक्लिष्टस्त्वेवं—

पासत्थाईएसुं संविग्गेसुं च जत्थ मिलती उ । तहि तारिसओ भवई, पियधम्मो अहव इयरो उ ॥ २१ ॥

उक्तः संसक्तः ।

उस्सुतमायरंतो, उस्सुत्तं चेव पन्नवेमाणो । एसो उ अहाछंदो, इच्छाछंदोत्ति एगट्ठा ॥ २२ ॥

उत्सूत्रमाचरन् उत्सूत्रं चैवान्येभ्यः प्ररूपयन् यथाच्छन्द इच्छाछन्दश्चेत्येकार्थौ शब्दौ ।

उस्सुत्तमणुवदिट्ठं, सच्छंदविगप्पियं अणणुवाई । परतत्तिपवित्तेतिति णो य इणमो अहाच्छंदो ॥ २३ ॥

उत्सूत्रं च तत् यदनुपदिष्टं जिनाद्यैः स्वच्छन्देन स्वाशयेन विकल्पितं । तथाऽननुपाती सिद्धान्ताननुयायी, परतप्ति-प्रवृत्तस्तितिणः स्वल्पेप्यपराधे यत्किञ्चिद्भाषी, अयं यथाच्छन्दः ।

मच्छंदमइविगप्पिय, किंची सुहसायविगइपडिबद्धो । तिर्हि गारवेहिं मज्जइ, तं जाणाही अहाछंदं ॥ २४ ॥

स्वच्छन्दमत्या किंचित्कदालम्बनं विकल्प्य सुखस्वादविकृतिषु प्रतिबद्ध आसक्तस्त्रिभिर्गारवैर्लब्धैर्माद्यति ॥१११५॥ 'पास'

**पासत्थाई वंदमाणस्स, नेव कित्ती न निज्जरा होइ। कायकिलेसं एमेव, कुणई तह कम्मबंधं च ॥१११६॥**

स एवमेव मुधैव कायक्लेशं प्रयासं कर्म्मणां ज्ञानावरणादीनां बन्धं विशिष्टरचनया आत्मनि स्थापनं चशब्दादाज्ञाभङ्गादिदोषांश्च करोति ॥ १११६ ॥ 'जे बं'

**जे बंभचेरभट्ठा, पाए उड्डंति बंभयारीणं । ते होंति कुंटमंटा, बोही य सुदुल्लहा तेसिं ॥१११७॥**

ये पार्श्वस्थाद्या ब्रह्मचर्यं संयमचरणं इति चूर्णौ तद्भ्रष्टाः पादान् 'उड्डंति' स्थापयन्ति, ब्रह्मचारिणां वन्दमानानां तेन नरकादिदुखं भुक्त्वा कष्टान्नृ ( जन्म ) प्राप्य कुंटा वक्रपाणयो मंटा वक्रांह्रयः स्युः ॥ १११७ ॥ 'सुट्ठु'

**सुट्ठुतरं नासंती, अप्पाणं जे चरित्तपब्भट्ठा । गुरुजण वंदाविंति सुसमण जहुत्तकारिं च ॥१११८॥**

सुष्ठुतरं अतिशयेन सन्मार्गादात्मानं नाशयन्ति । ये चारित्रप्रभ्रष्टा गुणस्थसाधुजनं सुश्रमणं यथोक्तक्रियाकलापकारिणं च वन्दयन्ति । १ । अत्राग्रपिण्डभोक्ताद्यल्पदोषेऽपि स्त्रीसेवादिमहादोषेऽपि च यदवन्द्यत्वमुक्तं तत्रायं भावः—उत्तरगुणापरा-

२

धेऽपि सालम्बनः पूज्यः । यतः कल्पभाष्यं–' संकिन्नवराहपओ अणणुतावी अ होइ अवरद्धे । उत्तरगुणपडिसेवी, आलंबणवज्जिओ वज्जो '। अपराधपदैः सङ्कीर्णो व्याप्तः अवरद्धे च अननुतापी पश्चात्तापरहितः, उत्तरगुणापराधप्रतिपेधी आलम्बनवर्जितः सन् वर्ज्यः । कल्पचूर्णिः–' संकिण्णो नाम बहूहिं, उत्तरगुणावराहपएहिं । तेउकाउं नाणुतप्पइ, निस्संको निद्दओ पवत्तइ । यः आलम्बनं नाणाई तेहिं वज्जिओ स न वन्दनार्हः । तथा कुणमाणो वि य कडणं, कयकरणो नेव दोस समब्भेइ । अप्पेण बहु इच्छइ, विसुद्धआलंबणो समणो । कृतकरणः पुलाकलब्धिमान्, ' कडणं ' ति कटकमर्दमपि कुर्वन्न दोषमभ्येति । विशुद्धालम्बनो अल्पेन बह्विच्छति ॥ १११८ ॥ अथ मालामरुकादिदृष्टान्ताः ' असु '

**असुइट्ठाणे पडिया, चंपगमाला न कीरई सीसे। पासत्थाईठाणेसु, वट्टमाणा तह अपुज्जा ॥ १११९ ॥**

अशुचिस्थाने पतिता, पार्श्वादीनां स्थानेषु वसत्यादिषु शय्यातरपिण्डाद्याजीविषु च वर्त्तमानाः सुसाधवोऽप्यपूज्याः ॥ १११९ ॥ ' पक्क '

**पक्कणकुले वसंतो,सउणीपारोऽवि गरहिओ होइ। इय गरहिया सुविहिया, मज्झि वसंता कुसीलाणं।११२०**

पक्कणोऽन्त्यजजन्मकुले वसन्, शकुनीशब्देन चतुर्दशविद्या उच्यन्ते, ताश्च शिक्षा १ कल्प २ व्याकरण ३ छन्दो ४ ज्योतिष ५ निरुक्ति ६ नामानि षडङ्गानि । ऋग् ७ यजुः ८ सामऽथर्वणः ९–१० वेदाः, मीमांसाः ११ तर्कविद्या १२ धर्मशास्त्र १३ पुराण १४ रूपाः, तत्पारगोऽपि गर्हितः, एवं सुविहिताः कुशीलानां पार्श्वस्थादीनां मध्ये वसन्तो गर्हिताः । उक्तं च ' जो

स्युः'। क्वाप्येषा गाथा व्यत्तया( त्ययेन ) दृश्यते । परं वृत्तौ चूर्णौ

जारिसेण मित्ति० तिलाऽपि तद्गन्धिकाः कुसुमगन्धभाजः स्युः'। क्वाप्येषा गाथा व्यत्तया( त्ययेन ) दृश्यते । परं वृत्तौ चूर्णौ

चात्रास्ति(च एवमेवास्ति) ॥ ११२० ॥ चोयग—ननु पार्श्वस्थादिषु वसन्तो निर्मलस्य कुतो दोषः, यतः 'सुचि'

सुचिरंपि अच्छमाणो, वेरुलिओ कायमणीयउम्मीसो। नोवेइ कायभावं, पाहण्णगुणेण नियएणं ॥११२१॥

वैडूर्यः काचमणिकोन्मिश्रः सुचिरमपि तिष्ठन् काचभावं नोपैति । निजकेन प्राधान्यगुणेन नैर्मल्यगुणेन ॥ ११२१ ॥

आचार्यः 'भावु'

भावुगअभावुगाणि य, लोए दुविहाणि होंति दव्वाणि। वेरुलिओ तत्थ मणी, अभावुगो अन्नदव्वेहिं।११२२

भाव्यंते परगुणैरिति भाव्यानि प्राकृतत्वाद्भावुगाणीति । यद्वा परसङ्गात्तद्गुणानि भवन्तीति भावुकानि च, तत्र वैडूर्योऽ-

भावुकः ॥ ११२२ ॥ 'जीवो'

जीवो अणाइनिहणो, तब्भावणभाविओ य संसारे। खिप्पं सो भाविज्जइ, मेलणदोसाणुभावेणं ॥११२३॥

जीवोऽनादिनिधन आद्यन्तरहितस्तया पार्श्वस्थाद्याचरितप्रमादभावनया भावितः संसारे वर्त्तते । ततः स क्षिप्रं असद्भाव-

नया भाव्यते, केन, मील्यते इति मेलनं परवस्तु तद्दोषानुभावेन ॥ ११२३ ॥ 'अंब'

अंबस्स य निंबस्स य, दुण्हंपि समागयाइं मूलाइं। संसग्गीइ विणट्ठो, अंबो निंबत्तणं पत्तो ॥ ११२४ ॥

द्वयोरपि समागते मूले निम्बरसभावितजलस्य संसर्गसङ्गत्या ॥ ११२४ ॥ 'सुचि'

सुचिरंपि अच्छमाणो, नलथंभो उच्छुवाडमज्झंमि। कीस न जायइ महुरो? जइ संसग्गी पमाणं ते ॥११२५

नलो नाम तृणं तत्स्तम्बवृन्दं इक्षुवाटमध्ये तिष्ठन् किं मधुरो न जायते ?॥ ११२५॥ आचार्यः 'भावुगअभावुगाणी'त्यनेन प्रागेवास्योत्तरं दत्तं। अत्रापि केवली पार्श्वस्थादिभिरभाव्यः सरागस्तु भाव्य इति । चोयगः तैः सहालापमात्रसंसर्ग्यां को दोषः ? उच्यते 'ऊण'

ऊणगसयभागेणं बिंबाइं परिणमंति तब्भावं। लवणागराइसु जहा वज्जेह कुसीलसंसग्गिं ॥ ११२६ ॥

यथा लवणाकरादिषु ऊनश्चासौ शतभागोऽपि न पूर्ण इत्यर्थः। इयन्मात्रेणापि लवणेन सम्बद्धानि बिम्बानि पदार्थास्तद्भावं परिणमन्ति लवणीभवन्ति, ततः कुशीलसंसर्गं वर्जयेत् ॥ ११२६ ॥ 'जह'

जह नाम महुरसलिलं सायरसलिलं, कमेण संपत्तं। पावेइ लोणभावं, मेलणदोसाणुभावेणं ॥ ११२७ ॥

नामेत्यामन्त्रणे यथा मधुरसलिलं नदीपयः क्रमेण सागरसलिलं सम्प्राप्तं सत् लवणभावं प्राप्नोति ॥ ११२७ ॥ 'एवं'

एवं खु सीलवंतो, असीलवंतेहिं मीलिओ संतो। पावइ गुणपरिहाणिं, मेलणदोसाणुभावेणं ॥ ११२८ ॥

खुरेवार्थे ॥ ११२८ ॥ 'खण'

खणमवि न खमं काउं, अणाययणसेवणं सुविहियाणं। हंदि समुद्दमइगयं, उदयं लवणत्तणमुवेइ॥११२९॥

सुष्ठु शोभनं विहितमनुष्ठानं येषां ते सुविहितास्तेषामनायतनं पार्श्वस्थादिस्थानं तस्य सेवनं क्षणमपि कर्तुं न क्षमं न

युक्तं । हंदीति दृष्टान्तदर्शने, समुद्रोपगतं ॥ ११२९ ॥ ‘ सुवि ’

**सुविहिय दुव्विहियं वा, नाहं जाणामि हं खु छउमत्थो। लिंगं तु पूययामी, तिगरणसुद्धेण भावेणं ॥११३०॥**

सुविहितं दुर्विहितं वाऽहं न जानामि, यतोऽन्तःकरणशुद्ध्यशुद्धिकृतं सुविहितादित्वं । खुः पुनरर्थेऽहं छद्मस्थः, लिङ्गं तु रजोहरणगोच्छप्रतिग्रहरूपं पूजयामि । त्रिकरणशुद्धेन मनोवाक्कायशुद्धेन भावेन ॥ ११३० ॥ आचार्यः ‘ जइ ’

**जइ ते लिंग पमाणं, वंदाही निण्हवे तुमे सव्वे। एए अवंदमाणस्स, लिंगमवि अप्पमाणं ते ॥ ११३१॥**

यदि ते लिङ्गं प्रमाणं, तर्हि सर्वान् निह्नवान् वन्दस्व । एतान् निह्नवान् मिथ्यात्विनो ज्ञात्वा न वन्दसे ॥११३१॥ चोदकः ‘जइ’

**जइ लिंगमप्पमाणं न, नज्जई निच्छएण को भावो ?। दट्ठूणं समणलिंगं, किं कायव्वं तु समणेणं ?॥११३२॥**

यदि लिङ्गमप्रमाणं किन्तु भावः प्रमाणं, तर्हि निश्चयेन परमार्थेन न ज्ञायते कस्य साधोः को भावः, ततः श्रमणलिङ्गं दृष्ट्वा श्रमणेन किं कर्त्तव्यं ? ॥ ११३२ ॥ आचार्यः ‘ अपु ’

**अपुव्वं दट्ठूणं, अब्भुट्ठाणं तु होइ कायव्वं। साहुम्मि दिट्ठपुव्वे, जहारिहं जस्स जं जोग्गं ॥ ११३३ ॥**

अपूर्वं साधुं दृष्ट्वा अभ्युत्थानं दण्डादिग्रहणं च कर्त्तव्यं भवति । साधौ पूर्वदृष्टे मिलिते यथार्हं कार्यमिति कोऽर्थः यस्य यद्योग्यं सत्क्रियस्य बहुश्रुतादेरभ्युत्थानादि कार्यं, अक्रियस्य तूत्सर्गपदे न कार्यं ॥ ११३३ ॥ ‘ मुक्क ’

**मुक्कधुरासंपागड-सेवीचरणकरणपब्भट्ठे। लिंगावसेसमित्ते, जं कीरइ तं पुणो वोच्छं ॥ ११३४ ॥**

मुक्ता धुः संयमभारो येन तस्मिन् मुक्तधुरि । सम्प्रकटं सावद्यसेविनि अत एव चरणकरणप्रभ्रष्टे, चरणं व्रतादि करणं पिण्डविशुद्ध्यादि । लिङ्गविशेषमात्रे कारणमाश्रित्य यत्क्रियते तद्वक्ष्ये, निष्कारणं तु प्रतिषेध एव ॥ ११३४ ॥ 'वाया'

**वायाइ नमोक्कारो, हत्थुस्सेहो य सीसनमणं च। संपुच्छणऽच्छणं, छोभवंदणं वंदणं वावि ॥११३५॥**

पथि दृष्टस्य वाचाभिलापः 'स्वागतं तवे'त्यादि । १ । तथाविधं च पुरुषं कारणं चाश्रित्य 'नमस्ते'त्ति । २ । हस्तोच्छ्रयोऽभिलापनमस्कारगर्भं हस्तयोजनं ३ शिरोनमनं ४ आरोग्यादिसम्प्रश्नं ५ 'अच्छणं' पार्श्वेऽवस्थानं बहुमानायोपवेशनं ६ उपाश्रये गत्वा छोभवन्दनं लघुवन्दनं अनादरेणारभटवृत्त्या ७ वन्दनं कृतिकर्मापि वा क्रियते ॥ ११३५ ॥ तत्रालम्बनान्याह 'परि'

**परियायपरिसपुरिसे, खित्तं कालं च आगमं नच्चा। कारणजाए जाए, जहारिहं जस्स जं जुग्गं ॥११३६॥**

पर्यायं पर्षदं, पुरुषं, क्षेत्रं, कालं, आगमं च, लिङ्गिनि, ज्ञात्वा कारणजाते कारणप्रकारे जाते सति यथार्हं यथानुकूलं यस्य यद्योग्यं कालाद्याश्रित्य स्यात्तत्कार्यं ॥ ११३६ ॥ भाष्यं परि

**परियाय बंभचेरं, परिस विणीया सि पुरिस णच्चा वा। कुलकज्जादायत्ता, आघवउ गुणागमसुयं वा ।२०५।**

पर्यायोऽत्र ब्रह्मचर्यं तद्यस्यास्ति । 'सि' तस्य पर्षत्साध्व्यादिततिर्विनीता, पुरुषं वा ज्ञात्वा यथा कुलकार्यादीन्यस्याऽऽय-

तानि। क्षेत्रेऽत्रायमर्थवान्। काले गुणा दुर्भिक्षप्रतिजागरणादयः। आगमे आगमरूपं श्रुतं वा यस्य ॥ २०५ ॥ अत्र (द्वे)
क्षेपकगाथा (थे) (परं क्वापि न दृश्येते अतो न निबद्धे) 'खित्तं' यस्य साधोः पार्श्वस्थादेः प्रभावेन साधुभिः क्षेत्रे
निरुपसर्गं यथा भवति तथा स मुख्यते, यश्चावमे दुर्भिक्षे परितप्यते प्रतिजागर्त्ति साधून् यश्चागमज्ञः। १। 'एवं'
कारणप्रकारे उत्पन्ने सति एवंविधस्य पुरुषस्य यथा योग्यं कलयित्वा वाग्नमस्कारादीनि कुर्यात्। २। 'एता'

एताइं अकुवंतो, जहारिहं अरिहदेसिए मग्गे। न भवइ पवयणभत्ती, अभत्तिमंतादओ दोसा ॥११३७॥

एता यथार्हं अर्हद्दर्शिते मार्गे एतानि सकषायत्वेनाकुर्वतः प्रवचनभक्तिर्न भवत्यभक्तिमत्वादयो दोषाः स्युः। आदि-
शब्दात् स्वार्थभ्रंशबन्धनादयः ॥ ११३७ ॥ किं नः पर्यायाद्यन्वेषणेन ? लिङ्गमेव वन्द्यं, यतः 'तित्थ'

तित्थयरगुणा पडिमासु, नत्थि निस्संसयं वियाणंतो। तित्थयरेत्ति नमंतो, सो पावइ निज्जरं विउलं ॥११३८॥

तीर्थकरगुणा ज्ञानादयः प्रतिमासु न सन्ति, इति निःसंशयं विजानन् तीर्थकरोऽयमिति भावशुद्ध्या नमन् ॥११३८॥ 'लिङ्गं'

लिङ्गं जिणपण्णत्तं, एव नमंतस्स निज्जरा विउला। जइवि गुणविप्पहीणं, वंदइ अज्झप्पसोहीए ॥११३९॥

एवं जिनप्रणीतं लिङ्गं नमतो विपुला निर्जरा, यद्यपि गुणविप्रहीणं पुरुषं वन्दे तथाप्यात्मानमधिकृत्य प्रवृत्तमित्यध्यात्म-
चेतस्तस्य शुद्ध्या निर्जरैव ॥ ११३९ ॥ आ० 'संता'

संता तित्थयरगुणा, तित्थयरे तेसिमं तु अज्झप्पं। न य सावज्जा किरिया, इयरेसु धुवा समणुण्णा ॥११४०॥

सन्तो विद्यमानास्तीर्थंकरगुणास्तीर्थंकरे। इयं च प्रतिमा तस्येति। तेषां नन्तॄणामध्यात्मचेतः न च सावद्या क्रिया तासु। इतरेषु पार्श्वस्थादिषु ध्रुवा सावद्यक्रिया ततो नमतः समनुज्ञा सावद्यक्रिया समनुमतिः स्यात् ॥११४०॥ चो० 'जह'

**जह सावज्जा किरिया, नत्थि य पडिमासु एवमियरावि। तयभावे नत्थि फलं, अह होइ अहेउगं होइ।११४१**

एवं इतरा निरवद्यापि नास्ति। तदभावे निरवद्यक्रियाऽभावे नमतः फलं नास्ति। अथ स्यात्तदाह अहेतुकं निष्कारणं। तत्तथा चातिप्रसङ्गः ॥ ११४१ ॥ आचार्यः 'कामं'

**कामं उभयाभावो, तहवि फलं अत्थि मणविसुद्धिए। तीइ पुण मणविसुद्धिए, कारणं होंति पडिमाउ११४२**

कामं अनुमतं, यदुभयाभावः प्रतिमासु सावद्यानवद्यक्रियाऽभावः। नन्वेवं लिङ्गेऽप्यस्ति, उच्यते ॥ ११४२॥ 'जइ'

**जइवि य पडिमाउ जहा, मुणिगुणसंकप्पकारणं लिंगं। उभयवि अत्थि लिंगे, न य पडिमासूभयं अत्थि ॥**

यद्यपि यथा प्रतिमाः गुणसङ्कल्पकारणं तथा मुनिगुणसङ्कल्पकारणं द्रव्यलिङ्गं, तथा च प्रतिमाभिः सह वैधर्म्यं, यतः लिङ्गे उभयं सावद्यं निरवद्यं च कर्म्मास्ति। तत्र सावद्ये कर्म्मणि दृष्टे मुनिगणसङ्कल्प एव नोत्पद्यते, उत्पद्यते चेत्तदा वितथत्वात् क्लेशफलः। प्रतिमासु चोभयमपि नास्त्यतस्तत्र तीर्थङ्करगुणारोपप्रवृत्तेर्नाभावः ॥ ११४३ ॥ तत एवाह—'निय'

**नियमा जिणेसु उ गुणा, पडिमाओ दिस्स जे मणे कुणइ। अगुणे उ वियाणंतो, कं नमउ मणे गुणं काउं?**

जिनेषु गुणा नियमात् सन्ति यान् प्रतिमामुद्दिश्याऽऽरोप्य मनसि करोति स्थापयति। अगुणांस्तु विजानन् कं गुणं

मनसि कृत्वा नमतु अन्यसाधुगुणं तेष्वारोप्य नमतोऽपि दोष एव ॥ ११४४ ॥ 'जह'

जह वेलंवगलिंगं, जाणंतस्स नमओ हवइ दोसो। निद्धंधसमिय नाऊण, वंदमाणे धुवो दोसो ।११४५।

विडंबकेन भाण्डादिना कृतलिङ्गं जानतो नमतो दोषः प्रवचनहीलादिरूपो भवति निद्धंधसं शासनोपघातनिरपेक्षं 'इय' एवं 'नाउण' ज्ञात्वा वन्द्यमाने ध्रुवो दोष आज्ञाभङ्गादि । पाठान्तरे 'निद्धंधसंपि नाऊण वंदमाणस्स दोसाओ' ॥ ११४५ ॥ चो० 'कह' ( गाहा ) एषा क्षेपकगाथा (स्थानशुद्ध्यभावेन नात्र निबद्धा) । जिनं केवलिनं देवाः सुविहितस्य नेपथ्यं वेषः तत्परिहीणं न नमति । आ० द्रव्यभावलिङ्गाभ्यामेव नतियोग्यः, यतः 'रुप्पं'

रुप्पं टंकं विसमा-हयक्खरं नवि रूवओ छेओ। दोण्हंपि समाओगे, रूवो छेयत्तणमुवेइ ॥ ११४६ ॥

चतुर्भङ्गी रूप्यमशुद्धं टंकं टंकनिका विषमाहताऽक्षरं विषमं कूटं आह तं पतितमक्षरं यत्र तत् इत्याद्यो भङ्गः । नापि च नैव स रूपकश्छेको भव्यः । १ रूप्यमशुद्धं टंकं टंकनिका समाहताक्षरं २ रूप्यं शुद्धं टंकं विषमाहताक्षरं ३ रूप्यं शुद्धं टंकं समाहताक्षरं ४ । इह रूप्यं भावलिङ्गं टंकं द्रव्यलिङ्गं । 'दोण्हं०' द्वयो रूप्यसमाक्षरयोर्योगे रूपकः छेकत्वं श्लाघ्यत्वमुपैति । इहाद्ये भङ्गे तापसाः १ । द्वितीये पार्श्वस्थादयः २ । तृतीये प्रत्येकबुद्धाः अन्तर्मुहूर्तमात्रं कालमगृहीतद्रव्यलिङ्गत्वात् ३ । चतुर्थे सुसाधवः ४ । ॥११४६॥ 'रुप्पं'

रुप्पं पत्तेयबुद्धा, टंकं जे लिंगधारिणो समणा। दव्वस्स य भावस्स य, छेओ समणो समाओगो ॥११४७॥

रूप्यं प्रत्येकबुद्धाः । टंकं ये लिङ्गधारिणः श्रमणाः, द्रव्यभावस्य समायोगः श्रमणः छेकः ॥ ११४७॥ गतं वैडूर्यद्वारं । ज्ञानमेव वरं यतः एवं सिद्धांते 'जं अण्णाणी कम्मं, खवेइ बहुयाहिं वासकोडीहिं । तं णाणी तिहि गुत्तो, खवेइ उसासमित्तेणं' ॥ १ ॥ यत्कर्म्माज्ञानी मिथ्यादृष्टिस्तपस्तप्यमानो बहुकाभिर्वर्षकोटीभिः क्षपयति, ज्ञानी सम्यग्दृष्टिः त्रिभिः मनोवाक्कायैर्गुप्तः सन् तत्कर्म्मोच्छ्वासमात्रेण क्षपयति १ । 'सूई जहा ससुत्ता, ण णासई कयवरंमि पडियावि । जीवो तहा ससुत्तो, ण णस्सइ गओऽवि संसारे' ॥ २ ॥ यथा ससूत्रा दवरकसहिता सूची कचवरे पतितापि न नश्यति तथा जीवः ससूत्रो ज्ञानसहितः सन् संसारगतोऽपि न नश्यति, पुनर्धर्म्मं लभते एव २ । 'णाणं गिण्हइ णाणं, गुणेइ णाणेण किणइ किच्चाइं । भवसंसारसमुद्दं, णाणी णाणे ठिओ तरइ' ॥ ३ ॥ ज्ञानं गृह्णाति ज्ञानं गुणयति ज्ञानेन कार्याणि कुरुते । भवेषु संसरणं भवसंसारस्तद्भवसमुद्रं । तस्मात् ज्ञान्येव वन्द्यः ३ । ननु प्राग्गाथायां द्रव्यभावाभ्यां सुश्रमणो वन्द्यः इत्युक्तः भावश्चरणं, तस्माच्चारित्र्येव वन्द्य इत्याशङ्क्य ज्ञाननय एवाह 'कामं'

**कामं चरणं भावो, तं पुण णाणसहिओ समाणेई । न य नाणं तु न भावो, तेण र णाणिं पणिवयामो ॥११४८।**

कामं इति संमतं, यत् चरणं चारित्रं भावो भावलिङ्गं तत्पुनर्ज्ञानसहितः समापयति निष्ठां नयति, न च ज्ञानं तु न भावः किन्तु ज्ञानमपि भाव एव । तेन हेतुना रः पादपूर्त्तौ ज्ञानिनं प्रणिपतामः ॥ ११४८॥ यतश्चाज्ञानिनो बाह्यकरणवतोऽपि न चरणं 'तम्हा'

तम्हा ण वज्झकरणं, मज्झ पमाणं न यावि चारित्तं। नाणं मज्झ पमाणं, नाणे अ ठिअं जओ तित्थं॥११४९॥

तस्मात् बाह्यकरणं पिण्डविशुद्ध्यादि मम न प्रमाणं, न चारित्रं व्रतरूपं, ज्ञानाभावे तयोरभावात्। ज्ञानं मम प्रमाणं यतस्तीर्थं ज्ञाने स्थितं ॥ ११४९ ॥ 'नाऊ'

नाऊण य सब्भावं, अहिगमसंमंपि होइ जीवस्स। जाईसरणनिसग्गुग्गयावि न निरागमा दिट्ठी ॥११५०॥

सम्यक्त्वं द्विधा–परोपदेशजं अधिगमसम्यक्त्वं, स्वतो जातं निसर्गसम्यक्त्वं। तत्राधिगमसम्यक्त्वमपि तत्त्वसद्भावं ज्ञात्वा स्यात्। जातिस्मरणभावान्निसर्गोद्गतापि दृष्टिर्नैसर्गिकमपि सम्यक्त्वं न निरागमा न आगमरहिता यतोऽन्त्याब्धिमत्स्यानामपि प्रतिमाकारमत्स्यदर्शनाज्जातिं स्मृत्वा पूर्वानुभूतागमादेव सम्यक्त्वं जायते। अतो ज्ञानमेव वरं ॥ ११५० ॥ आचार्यः 'नाणं'

नाणं सविसयनिययं, न नाणमित्तेण कज्जनिप्फत्ती। मग्गण्णू दिट्ठंतो, होइ सचिट्ठो अचिट्ठो य ॥११५१॥

ज्ञानं स्वविषये प्रकाशकत्वे निश्चितं, ततो न ज्ञानमात्रेण कार्यनिष्पत्तिः इह मार्गज्ञो दृष्टान्तो भवति, यथा सचेष्टो गमनचेष्टावान् सन्निष्टस्थानं लभतेऽचेष्टस्तु न ॥ ११५१ ॥ किञ्च 'आउ'

आउज्जनट्टकुसलावि, नट्टिया तं जणं न तोसेइ। जोगं अजुंजमाणी, निंदं खिंसं च सा लहइ ॥११५२॥

आतोद्यानि वाद्यानि तैर्नाद्यं आतोद्यनाद्यं, तस्मिन् कुशलापि नर्त्तकी योगं कायव्यापारमयुञ्जती तं रङ्गजनं न तोषयति,

अपि तु तस्माज्जनान्निन्दां प्रत्यक्षतो हीलां परोक्षतश्च सा लभते द्रव्यं च नाप्नोति ॥ ११५२ ॥ ' इय '

**इय लिंगनाणसहिओ, काइयजोगं न जुंजइ जो उ। न लहइ स मुक्खसुक्खं, लहइ य निंदं सपक्खाओ**

एवं लिङ्गज्ञानाभ्यां सहितो यः कायिकयोगं क्रियारूपं न युङ्क्ते स मोक्षसौख्यं न लभते, स्वपक्षाच्च निन्दां लभते । इहाऽऽतोद्यरूपं द्रव्यलिङ्गं नाद्यकौशल्यतुल्यं ज्ञानं ॥ ११५३ ॥ ' जाणं '

**जाणंतोऽवि य तरिउं, काइयजोगं न जुंजइ नईए। सो वुज्झइ सोएणं, एवं नाणी चरणहीणो ॥११५४॥**

तरीतुं जानन्नपि नद्यां कायिकयोगं न युङ्क्ते स श्रोतसाऽम्बुवाहेनोह्यते । एवं ज्ञानी चरणहीनः संसारनद्यां प्रमादश्रोतसोह्यते ॥ ११५४ ॥ चो० ' गुणा '

**गुणाहिए वंदणयं, छउमत्थे गुणागुणे अयाणंतो। वंदिज्जा गुणहीणं, गुणाहियं वावि वंदावे ॥११५५॥**

गुणाधिके वन्दनं स्यात् । छद्मस्थस्तु गुणागुणानात्मान्तरवर्त्तिनोऽजानन् गुणहीनं वन्देत वा, गुणाधिकं वा वन्दापयेत् ॥ ११५५ ॥ आचार्यो व्यवहारनयेनाह ' आल '

**आलएणं विहारेणं, ठाणाचंकमणेण य। सक्को सुविहिओ, नाउं भासावेणइएण य ॥ ११५६ ॥**

आलयो वसतिर्निरवद्या स्त्र्यादिहीना च, विहारो मासकल्पादिः, स्थानं योग्यदेशे कायोत्सर्गादिः, चङ्क्रमणं युगमात्रदृष्ट्या, भाषा निर्दोषा गीर्विनय एव वैनयिकं कर्म्म, एभिः सुविहितो ज्ञातुं शक्यः ॥ ११५६ ॥ चो० ' आल '

आलएणं विहारेणं, ठाणाचंकमणेण य । न सक्को सुविहिओ, नाउं भासावेणइएण य ॥ ११५७॥

आलयादिना न शक्य उदायिमारकादिवत् । यद्वाऽसंयता भिक्षादिहेतवे संयतवत्संयता अपि कारणतोऽसंयतवच्चेष्टन्ते इति ॥ ११५७ ॥ किञ्च ' भर '

भरहो पसन्नचंदो, सब्भिंतरबाहिरं उदाहरणं। दोसुप्पत्तिगुणकरं, न तेसि बज्झं भवे करणं ॥११५८॥

साभ्यन्तरं बाह्यं करणमाश्रित्य भरतः प्रसन्नचन्द्रश्च उदाहरणं । तत्राभ्यन्तरं भरतो यतस्तस्य बाह्यकरणरहितस्यापि भावनया केवलमुत्पन्नं, बाह्यं तु प्रसन्नचन्द्रः तस्य बाह्यकरणवतोऽभ्यन्तःकरणाभावे सप्तमभूकर्म्मबन्धोऽभूत् । ततस्तयोर्बाह्यं करणं भूपादि लोचादि च दोषोत्पत्तिकारकं गुणकारकं च नाभूत् । किन्त्वान्तरं करणं भाव एव प्रमाणं जातं ॥ ११५८ ॥ आचा० ' पत्ते '

पत्तेयबुद्धकरणे, चरणं नासंति जिणवरिंदाणं । आहच्चभावकहणे, पंचहि ठाणेहि पासत्था ॥११५९॥

प्रत्येकबुद्धाः प्राग्भवाभ्यस्तोभयकरणा भरतादयस्तेषां आन्तरैककरणे सति मूढा मूर्खा जिनेन्द्राणामुक्तं चरणं तस्यान्येषां च नाशयन्ति । किम्भूताः सन्तः ? ' आहच्चे 'ति कदाचिदर्थेऽयं भावः—भरतादिसम्बन्धिकादाचित्कभावकथनेन । सप्तमी तृतीयार्थे । पञ्चभिः प्राणहिंसादिस्थानैः पार्श्वस्थाः सिद्धिमार्गस्य पार्श्वे स्थिताः सन्तः ॥ ११५९ ॥ एतदेवाह ' उम्म '

उम्मग्गदेसणाए, चरणं नासिंति जिणवरिंदाणं। वावण्णयदंसणा खलु, न हु लब्भा तारिसा दट्ठुं॥११६०

आद्यार्थः स्पष्टं। तादृशा व्यापन्नदर्शना विनष्टसम्यक्त्वाद्द्रष्टुं दुर्निश्चये न लभ्या न योग्याः ॥११६०॥ अथ दर्शननयः 'जह'

**जह णाणेणं न विना, चरणं नादंसणिस्स इय नाणं। न य दंसणं न भावो, तेन र दिट्ठिं पणिवयामो ॥११६१**

यथा ज्ञानेन विना चरणं न, एवमदर्शनस्यासम्यक्त्वस्य ज्ञानं न। न च वाच्यं दर्शनं भावो भावलिङ्गं न किन्तु भाव एव। तेन दर्शनिनं सम्यक्त्ववन्तं प्रणिपतामः नमामः ॥ ११६१ ॥ सम्यक्त्वज्ञानयोः समं भावान्न कस्याप्याधिक्यमिति न वाच्यं, यतः 'जुग'

**जुगवंपि समुप्पन्नं, सम्मत्तं अहिगमं विसोहेइ। जह कायगमंजणाई, जलदिट्ठीओ विसोहंति ॥११६२॥**

युगपत् समकालं ज्ञानेन सह सम्यक्त्वमुत्पन्नमप्यधिगमं ज्ञानं विशोधयति। यथा कतकांजने जलदृष्टी विशोधयतस्तत्र कतकवृक्षफलं मलिनं जलं, अञ्जनं तु दृष्टिं ॥ ११६२ ॥ 'जह'

**जह २ सुज्झइ सलिलं, तह २ रूवाइं पासई दिट्ठी। इय जह जह तत्तरूई, तह तह तत्तागमो होइ ॥११६३**

यथा यथा सलिलं शुद्ध्यति निर्मलीस्यात् तथा तथा द्रष्टा वीक्षको जले रूपाणि पश्यति, तत्त्वरुचिः सम्यक्त्वरूपा। तथा तथा तत्त्वागमो ज्ञानं स्यात् ॥ ११६३ ॥ किञ्च 'कार'

**कारणकज्जविभागो, दीवपगासाण जुगवजम्मेवि। जुगवुप्पन्नंपि तहा, हेऊ नाणस्स सम्मत्तं ॥११६४॥**

यथा दीपप्रकाशयोर्युगपज्जन्मेऽपि कारणकार्यविभागोऽस्ति। कारणं दीपः, कार्यं प्रकाशः। तथा युगपदुत्पन्नमपि

' नाणस्स जइवि हेऊ, सविसयनियथं तहावि सम्मत्तं । तम्हा फलसंपत्ती, न
सम्यक्त्वं ज्ञानस्य हेतुः स्यात् ॥ ११६४ ॥ यद्यपि तत्त्वतो हेतुरेव न स्यात्,
जुज्जए नाणपक्खे व ' ॥ १ ॥ ज्ञानस्य यद्यपि हेतुः सम्यक्त्वं, यद्यपीत्यपिशब्दोऽभ्युपगमे । यद्यपि तत्त्वतो हेतुरेव न स्यात्,
द्वयोरपि विशिष्टक्षयोपशमजत्वात्, तथाप्यभ्युपगम्य ब्रूमः । स्वविषये तत्त्वरुचौ नियतं सम्यक्त्वं । परं तस्माद्दर्शनात् फलं
मोक्षस्तत्सम्प्राप्तिर्ज्ञाननयपक्षे इवात्रापि न युज्यते १ । ' जह तिक्खरुईवि नरो, गंतुं देसंतरं नयविहूणो । पावेइ न तं देसं,
नयजुत्तो चेव पाउणइ ' ॥ २ ॥ देशान्तरं गन्तुं तीक्ष्णरुचिरपि ज्ञानगतिक्रियारूपनयद्वयहीनस्तद्देशं न प्राप्नोति, नययुक्तश्चैव
प्राप्नोति २ । ' इय नाणचरणहीणो, सम्मदिट्ठीवि मुक्खदेसं तु । पाउणइ नेय नाणाइ-संजुओ चेव पाउणइ ' ॥ ३ ॥ इदं
गाथात्रयमन्यकर्तृकं । ' धम्म '

धम्मनियत्तमईया, परलोगपरम्मुहा विसयगिद्धा । चरणकरणे असत्ता, सेणियरायं ववइसंति ॥ ११६५ ॥

चारित्रधर्म्मान्निवृत्तमतयः, परलोको मुक्तिः तस्यां पराङ्मुखाः । विषयेषु गृद्धाश्चरणकरणेऽशक्ताः । श्रेणिकराजं व्युपदिश-
न्त्यालम्बनविषयं कुर्व्वन्ति ॥ ११६५ ॥ यथा ' ण से '

ण सेणिओ आसि तया बहुस्सुओ, न यावि पन्नत्तिधरो न वायगो ।
सो आगमिस्साइ जिणो भविस्सइ, समिक्ख पन्नाइ वरं खु दंसणं ॥ ११६६ ॥

श्रेणिकस्तदा बहुश्रुतो नासीन्न चापि प्रज्ञप्तिधरो भगवत्यङ्गवेत्ता, न वाचकः न पूर्वधरः । स आगमिष्यति काले

जिनो भविष्यति। प्रज्ञया बुद्ध्या दर्शनविपाकं मोक्षसाधकं समीक्ष्य दृष्ट्वा वरं दर्शनमेव ॥ ११६६ ॥ 'भट्ठे'

भट्ठेण चरित्ताओ सुट्ठुयरं दंसणं गहेयव्वं। सिज्झंति चरणरहिया दंसणरहिया न सिज्झंति ॥११६७

एवं पराभिप्रायं साशङ्क्याह। ॥ ११६७ ॥ 'दसा'

दसारसीहस्स य सेणियस्सा, पेढालपुत्तस्स य सच्चइस्स।
अणुत्तरा दंसणसंपया तया, विणा चरित्तेणऽहरं गइं गया ॥ ११६८ ॥

दशारसिंहस्य कृष्णस्य पेढालपुत्रस्य सत्यकिनोऽनुत्तरा प्रधाना दर्शनसम्पत्तदा आसीत्। परं चारित्रेण विनाऽधरां गतिमऽधोगतिं गतः ॥ ११६८ ॥ 'सव्वा'

सव्वाओवि गईओ, अविरहिया नाणदंसणधरेहिं। ता मा कासि पमायं, नाणेण चरित्तरहिएणं॥११६९॥

सर्वा गतयो ज्ञानदर्शनधरैरविरहिताः सहिताः परं चारित्री नृगतावेव। ततश्चारित्ररहितेन ज्ञानेन हेतुभूतेन प्रमादं मा कार्षीः ॥ ११६९ ॥ 'सम्म'

सम्मत्तं अचरित्तस्स,हुज्ज भयणाइ नियमसो नत्थि। जो पुण चरित्तजुतो,तस्स उ नियमेण सम्मत्तं११७०

अचारित्रस्य जीवस्य सम्यक्त्वं भजनया विकल्पेन स्यात्, न तु नियमशोऽस्ति ॥ ११७० ॥ 'जिण'

ज्ञानदर्शन-
चारित्र-
त्रययोगे
संपूर्णफल-
सिद्धिः ॥

**जिणवयणबाहिरा, भावणाहिं उवट्टणं अयाणंता। नेरइयतिरियएगिंदिएहि जह सिज्झई जीवो ॥११७१॥**

जिनवचनबाह्या ज्ञानादिनयवन्तो 'भावणाहि'न्ति ज्ञानदर्शनभावनाभ्यां मोक्षमिच्छन्तीति वाक्यशेषः। नारकादिभ्यो यथा जीवः सिद्ध्यति तथोद्वर्त्तनामजानानाः, अयं भावः—नारकतिर्यग्भ्यो ज्ञानदर्शनवद्भ्य एकेन्द्रियेभ्यस्त्वज्ञानिभ्य उद्धृत्य नृत्वं प्राप्य चरणेन सिद्ध्यति। ततो रत्नत्रयमेव मुक्त्यै नत्वेकैकं ॥ ११७१ ॥ 'सुट्ठु'

**सुट्ठुवि सम्मदिट्ठी, न सिज्झई चरणकरणपरिहीणो। जं चेव सिद्धिमूलं, मूढो तं चेव नासेइ ॥११७२॥**

सुष्ठु अपि अतिशयेनापि सम्यग्दृष्टिश्चरणकरणपरिहीणः सम्यक्त्वमेव समर्थयन् न सिद्ध्यति। यदेव सिद्धिमूलं सम्यक्त्वं मूढ एकान्तवादेन तदेव नाशयति ॥ ११७२ ॥ 'दंस'

**दंसणपक्खो सावय, चरित्तभट्ठे य मंदधम्मे य। दंसणचारित्तपक्खो, समणे परलोगकंखिम्मि ॥११७३॥**

दर्शनपक्षः श्रावकेऽविरतसम्यग्दृष्टौ, चारित्रभ्रष्टे इत्युक्ते चारित्रे मन्दधर्म्मे पार्श्वस्थादौ च घटते। दर्शनचारित्रपक्षः परलोककाङ्क्षिणि श्रमणे स्यात्। दर्शनग्रहणेन ज्ञानमपि ज्ञेयं ॥११७३॥ चो० एवं चेच्चारित्रं वरं तदलं ज्ञानदर्शनाभ्यां। आचा० 'पारं'

**पारंपरप्पसिद्धी, दंसणनाणेहिं होइ चरणस्स। पारंपरप्पसिद्धी, जह होइ तहऽन्नपाणाणं ॥११७४॥**

पारम्पर्येण क्रमेण दर्शनज्ञानाभ्यां चरणस्य प्रकृष्टा सिद्धिः स्यात्। यथान्नपानानां पारम्पर्यात्प्रसिद्धिः स्यात्तथा लोकेऽपि प्रतीता। तथा चान्नार्थी स्थालीन्धनाद्यपि लाति पानार्थी द्राक्षाद्यप्यतस्त्रयं धार्यं ॥ ११७४ ॥ यद्येवं तर्हि चरणस्य किं प्राधा-

न्यं ? आ० ' जम्हा '

**जम्हा दंसणनाणा, संपुण्णफलं न दिंति पत्तेयं। चारित्तजुया दिंति उ, विसिस्सए तेण चारित्तं ॥११७५**

यस्माद्दर्शनज्ञाने प्रत्येकं इति केवले सम्पूर्णफलं न दत्तः, चारित्रयुक्ते तु दत्तस्तेन चारित्रं विशिष्यते ॥ ११७५ ॥ नन्वेवं सारं चारित्र किन्तु ' उज्ज '

**उज्जममाणस्स गुणा, जह हुंति ससत्तिओ तवसुएसुं। एमेव जहासत्ती, संजममाणे कहं न गुणा ? ॥११७६**

यथा तपश्रुतयोर्विषये स्वशक्त्योद्यच्छतो गुणाः स्युर्न दोषाः, एवमेव यथाशक्त्या संयमयति संयमं कुर्वति कथं न गुणाः। अयं भावः यथा साधुः शक्त्यपेक्ष्यं तपः कुरुते श्रुतं चाधीते, एवं संयमेऽपि महाव्रतानि यथाशक्त्या पालयतु न चैतन्मन्यतेऽल्पे पि महाव्रताऽपालने दोषोक्तेः ॥ ११७६ ॥ आचार्यः ' अणि '

**अणिगूहंतो विरियं, न विराहेइ चरणं तवसुएसुं। जइ संजमेऽवि विरियं, न निगूहिज्जा न हाविज्जा ॥११७७**

तपःश्रुतयोः वीर्यमनिगूहन् प्रकटयन् चरणं न विराधयेत्। षट्कायरक्षादिरूपे संयमेऽपि वीर्यं मायया न निगूहेत् तदा चरणं न हापयेत् न खण्डयेत्। शक्तौ सत्यां चेत् सावद्यं सेवते तदा दोषोऽन्यथा तु गुणः ॥ ११७७ ॥ ' संज '

**संजमजोएसु सया, जे पुण संतविरियावि सीयंति। कह ते विसुद्धचरणा, बाहिरकरणालसा हुंति ?**

ये पुनः सद्वीर्या विद्यमानवीर्या अपि संयमयोगेषु षट्कायरक्षाव्यापारेषु विषीदन्ति नोत्सहन्ते ते बाह्यकरणे प्रतिक्रमणादौ

अलसाः सन्तो विशुद्धचरणाः कथं भवन्ति ? ॥११७८॥ चो० ये आलम्बनेन बाह्यकरणालसास्तेषु का वार्त्ता ? आ० 'आलं०'

**आलंबणेण केणइ, जे मन्ने संयमं पमायंति । न हु तं होइ पमाणं, भूयत्थगवेसणं कुज्जा ॥११७९॥**

अहं एवं मन्ये ये केनाप्यालम्बनेन संयमं प्रमादयन्ति त्यजन्ति न तदालम्बनं प्रमाणं, किन्तु भूतार्थगवेषणं तत्त्वार्था-न्वेषणं कुर्यात् 'किमिदं आलम्बनं पुष्टमपुष्टं चे'ति। अपुष्टालम्बनेऽशुद्धचरणाः पुष्टे तु शुद्धाः ॥ ११७९ ॥ चो० पुष्टालम्बनात् को विशेषः ? आचार्यः 'मालं'

**सालंबणो पडंतो अप्पणं दुग्गमेऽवि धारेइ । इय सालंबणसेवा धारेइ जइं असढभावं ॥ ११८० ॥**

मालम्बनः पुष्टद्रव्यालम्बनवान् नर आत्मानं दुर्गमे गर्त्तादौ पतन्तं धारयति। एवं पुष्टभावालम्बनसहिता सेवाऽशठभावं यतिं भवं पतन्तं धारयति। पुष्टालम्बनानि त्वमूनि 'काहं अच्छित्तिं अदुवा अहीहं तवोवहाणेसु य उज्जमिस्सं। गणं व णीईइ व हु सारविस्सं, सालंबसेवी समुवेइ मुक्खं' ॥ १ ॥ 'अच्छित्तिं' धर्म्मस्याच्छेदं करिष्ये। अथवाऽध्येष्ये। तपोविधानेषु तपोभेदेषु उद्यमिष्यामि। गणं गच्छं नीत्या सारयिष्यामि। विकृत्यादेरेवं सालम्बसेवी मोक्षं समुपैति ॥ ११८० ॥ 'आलं'

**आलंबणहीणो पुण, निवडइ खलिओ अहे दुरुत्तारे। इय निक्कारणसेवी, पडइ भवोहे अगाहंमि ।११८१।**

आलम्बनहीनः पुनः स्खलितः सन् 'अहे' इति गर्त्ते दुरुतरे निपतति। एवं निःकारणे सेवी पुष्टालम्बनं विना सेवमानः भवस्य ओघे प्रवाहे अगाधे पतति ॥ ११८१ ॥ गतं दर्शनद्वारं। यथा प्रमादिनो ज्ञानदर्शनैकान्तमालम्बन्ते तथा नित्य-

वासाद्यपि सेवंते, तत आह 'जे ज'

**जे जत्थ जया भग्गा, ओगासं ते परं अविंदंता । गंतुं तत्थऽचयंता, इमं पहाणंति घोसंति ॥११८२॥**

ये शीतलविहारिणो यत्रानित्यवासादौ यदा भग्ना निर्विण्णास्ते परं अन्यदवकाशं अविन्दन्तोऽलभमाना मूढा अनित्यवासादि सन्मार्गादि गन्तुमशक्नुवन्त इदं अस्मदादृतं नित्यवासादि प्रधानं इति घोषयन्ति ॥ ११८२ ॥ तथा 'नीया'

**नीयावासविहारं, चेइयभत्तिं च अज्जियालाभं । विगईसु य पडिबंधं, निद्दोसं चोइया बिंति ॥११८३॥**

ते च परैर्नोदिताः सन्तो नित्यवासेन विहारं नित्यवासकल्पं, चैत्यभक्तिं बिंबपूजामार्यिकालाभं, विकृतिषु प्रतिबन्धं आसङ्गं निर्दोषमिति ब्रुवते ॥ ११८७ ॥ तथाहि 'जाहे'

**जाहेवि य परितंता, गामागरनगरपट्टणमडंता । तो केइ नीयवासी, संगमथेरं ववइसंति ॥११८४॥**

यदाऽपि ग्रामाकरनगरपत्तनाद्यटन्तः परितान्ताः श्रान्ताः, ततः केऽपि नित्यवासिनः सङ्गमस्थविरं सङ्गमाख्यं स्थविरं वृद्धं उदाहरणतया व्युपदिशन्ति भाषन्ते ॥ ११८४ ॥ कथं 'संग'

**संगमथेरायरिओ, सुट्ठु तवस्सी तहेव गीयत्थो । पेहित्ता गुणदोसं, नीयावासे पवत्तो उ ॥ ११८५ ॥**

सङ्गमः स्थविर आचार्यः सुष्ठु तपस्वी गीतार्थो गुणं दोषं च प्रेक्ष्य नित्यवासं प्रपन्नः ॥ ११८५ ॥ 'ओमे'

**ओमे सीसपवासं, अप्पडिबंधं अजंगमत्तं च । न गणंति एगखित्ते, गणंति वासं नियवासी ।११८६।**

अवमे शिष्यानां प्रवासं विदेशगमनं, अप्रतिबन्धं निर्ममत्वं, अजङ्गमत्वं वृद्धत्वं, चशब्दात् क्षेत्रस्य नवभागकरणं च । इदमालम्बनजालं न गणयन्ति न प्रेक्षयन्ते किन्तु नित्यवासिन एकक्षेत्रे वासं गणयन्ति ॥ ११८६ ॥ 'चेइ'

**चेइयकुलगणसंघे, अन्नं वा किंचि काउ निस्साणं । अहवावि अज्जवयरं, तो सेवंती अकरणिज्जं ॥११८७॥**

चैत्यकुलगणसङ्घान् अन्यदपि किञ्चिदपुष्टालम्बनं निश्रां कृत्वा यथा नान्यः कोऽपि चैत्यशुश्रुषकोऽतोऽस्माभिराद्दतमित्यादि । अथवा आर्यवज्रं निश्रीकृत्य ततोऽकरणीयमसंयमं सेवन्ते ॥ ११८७ ॥ वदंति 'चेइ'

**चेइयपूया किं वयरसामिणा मुणियपुव्वसारेणं । न कया पुरियाइ ? तओ मुक्खंग सावि साहूणं ।११८८।**

मुणितं ज्ञातं पूर्वसारं येन पुर्याख्यनगर्यां चैत्यपूजा किं न कृता । ततः सापि साधूनां मोक्षाङ्गं ॥ ११८८ ॥ 'ओहा'

**ओहावणं परेसिं, सतित्थउब्भावणं च वच्छल्लं । न गणंति गणेमाणा, पुव्वुच्चियपुप्फमहिमं च ।११८९।**

ते अपभ्राजनां लाञ्छनं परेषां शाक्यादीनां स्वतीर्थस्योद्भावनां प्रभावनां श्रावकाणां वात्सल्यं च न गणयन्त्यालम्बनानि गणयन्तः सन्तः । तथा पूर्वावचितैः पूर्वं चुण्टितैर्हुताशनगृहे धूपेनाचित्तीकृतैश्च पुष्पैर्महिमानं पूजां च न गणयन्ति ॥ ११८९ ॥ 'अज्जि'

**अज्जियलाभे गिद्धा, सएण लाभेण जे असंतुट्ठा । भिक्खायरियाभग्गा, अन्नियपुत्तं ववइसंति ॥११९०॥**

आर्जिकाः साध्व्यस्ताभिरानीतस्य लाभे गृद्धा लोलुपाः, स्वेन लाभेन येऽसन्तुष्टा भिक्षाचर्यायां गमने आलस्याद्भग्ना

अन्निकापुत्रं आलम्बनतया व्युपदिशन्ति ॥ ११९० ॥ कथं 'अन्नि'

**अन्नियपुत्तायरिओ, भत्तं पाणं च पुप्फचूलाए। उवणीयं भुंजंतो, तेणेव भवेण अंतगडो ॥ १ प्र० ॥**

पुष्पचूलासाध्व्या उपनीतं आनीतं भुञ्जानस्तस्मिन्नेव भवे संसारान्तकृज्जातः, अन्यकर्तृकी गाथा ॥ १ ॥ 'गय'

**गयसीसगणं ओमे, भिक्खायरियाअपच्चलं थेरं। न गणंति सहावि सढा, अज्जियलाहं गवेसंता ।११९१।**

अवमे गतशिष्यगणं भिक्षाचर्यायामप्रत्यलमक्षमं स्थविरं न गणयन्ति सहाः क्षमा अपि शठा आर्यिकालाभं गवेषयन्तः। ॥ ११९१ ॥ 'भत्तं'

**भत्तं वा पाणं वा, भुत्तूणं लावलवियमविसुद्धं। तो अवज्जपडिच्छन्ना, उदायणरिसिं ववइसंति ॥११९२॥**

'लावलवियं' ति लौल्योपेतं अशुद्धं विकृत्यादिमिश्रं तथा च निःकारणे प्रतिषिद्ध एव विकृतिपरिभोगः। उक्तं च 'विगई विगईभीओ, विगइगयं जो उ भुंजए साहू। विगई विगइसहावा विगई विगइं बला नेइ'। विगतेर्दुर्गतेर्भीतो यः साधुर्विकृतिं क्षीरादिकं विकृतिगतं क्षीरान्नादि च भुङ्क्ते। विकृतिर्विकृतिस्वभावा विकारजननस्वभावा स्यात्ततो विकृतिर्बलात्तं विगतिं नयति। ततो लोल्याद्विकृतिं गृह्णन्तः केनापि चोदिता अवद्यप्रतिच्छन्नाः पापप्रच्छादिता उदायनर्षिं व्युपदिशन्त्यालम्बनतया ॥ ११९२ ॥ 'सीय'

**सीयललुक्खाणुचियं, वएसु विगईगयेण जाविंतं। हट्ठावि भणंति सढा, किमासी उदायणो न मुणी? ११९३**

तं शीतलरूक्षामस्यानुचितं राजर्षित्वात् रोगित्वाच्च व्रजेषु कुलेषु विकृतिगतेन विकृतिमिश्रेण भक्तेन यापयन्तं निर्वाह-
यन्तं दृष्टाः क्षमा अपि न गणयन्ति भणन्ति च किं उदायनो मुनिर्न आसीत् न अभूत् ? ॥ ११९३ ॥ इह कथाः
कोल्लागपुरे सङ्गमाचार्यो दुर्भिक्षे साधून् विसृज्य वृद्धत्वात् पुरं नवधा विभज्याटति, दत्तः शिष्यस्तच्छुद्ध्यर्थं समेतो नित्य-
वासित्वात्पृथगस्थात् । गुरुस्तं भिक्षायां सहाहूतं प्रान्ताहारग्रहणात् क्लिश्यन्तं दृष्ट्वा क्वापि श्रेष्ठिगृहे रेवतिकात्तं बालं षण्मा-
सेभ्यः प्रभृति रुदन्तं चर्पटिकया मा रोदीरिति दोषाद्विमोच्य तत् पितृभ्यां भव्यान्नं शिष्याय दापयित्वा तं विसृज्य स्वयं
प्रान्तं बुभुजे । शिष्यश्च सायं सह प्रतिक्रामन् धात्रीपिण्डमालोचयेति गुरूक्तो नित्यवासादिस्वदोषान्न पश्यतेत्यवक् । भक्त्या
सूर्या तच्छिक्षायै अतिध्वान्ते कृते बिभ्यद्गुरुणैहीत्युक्तो ध्वान्ते कथमायामीति वदन् गुरोर्दीप्ताङ्गुल्योद्योते कृतेऽहो तप
इत्यादरेणालोच्य गुरोश्च क्षेत्रनवभागादिक्रियां ज्ञात्वा प्रीतः । अन्निकापुत्रकथा योगसङ्ग्रहे वक्ष्यते । वीतभयेशोदायनो जामेये
राज्यं दत्त्वा दीक्षितो भिक्षाहाराद्रोगे वैद्योक्त्या व्रजेषु दधि गृह्णन् वीतभये गतो मन्त्रिपरावर्तितजामेयकेशिनृपदापितविष-
मिश्रं दधि ज्ञात्वा सदा दध्यत्यजत् । रोगवृद्धौ पुनर्गृह्णाति सूर्या विषं ज्ञातं हृतं च । एवं बहुशो जाते सूर्यां प्रमत्तायां सविषं
दधि भुक्त्वा मृतः सिद्धः । सूर्या पुरं धूल्याऽऽच्छादितं। शय्यातरः कुलालः सेनापल्यां मुक्तः । तत्र कुम्भकारप्रक्षेपाख्यं पत्तनं
जातं ' सुत्त '

सुत्तत्थबालवुड्ढे य, असहुदव्वाइआवईओ या । निस्साणपयं काउं, संथरमाणावि सीयंति ॥ ११९४ ॥

सूत्रार्थबालवृद्धान् असहद्रव्याद्यापदश्च निश्राणां पदं कृत्वा संस्तरतो निर्वहन्तोऽपि सीदन्ति क्रियायां प्रमाद्यन्ति । तत्र

सूत्रार्थौ अहं भणामि । तथा बालो वृद्धोऽसहो वाहं मत्परिवारो वा । द्रव्यापत् दुर्लभमिदं द्रव्यं । क्षेत्रापल्लघुक्षेत्रं । कालापद् दुर्भिक्षादि, भावापद् ग्लानोऽहमित्यादीनि ॥ ११९४ ॥ 'आलं'

**आलंबणाण लोगो, भरिओ जीवस्स अजउकामस्स । जं जं पिच्छइ लोए, तं तं आलंबणं कुणइ ११९५**

अयतितुकामस्य क्रियां प्रति यत्नमनिच्छतो जीवस्य लोक आलम्बनानां गर्णैर्भृतोऽस्ति । स तु लोके यन्नित्यवासादि प्रेक्षते तत्तदालम्बनं करोति ॥ ११९५ ॥ 'जे ज'

**जे जत्थ जया जइया, बहुस्सुया चरणकरणपब्भट्ठा । जं ते समायरंती, आलंबण मंदसड्ढाणं ॥११९६॥**

ये पार्श्वस्थादयः यत्र ग्रामादौ यदा सुषमदुःषमादौ यदा च दुर्भिक्षादौ बहुश्रुताश्चरणकरणप्रभ्रष्टा मथुरायां मंगुवत् । यत्ते समाचरन्ति तदालम्बनं मन्दश्रद्धानां स्यात्, यथा बहुश्रुतश्चेदेवं कुरुते तदेत्थमेव धर्म्म इति ॥ ११९६ ॥ 'जे ज'

**जे जत्थ जया जइया, बहुस्सुया चरणकरणसंपन्ना । जं ते समायरंती, आलंबण मंदसड्ढाणं ॥११९७॥**

स्पष्टार्था ॥ ११९७ ॥ 'गतं प्रासङ्गिकं, तस्मात् पञ्च न वन्द्या इति स्थितं तच्च निगमयति 'दंस'

**दंसणनाणचरित्ते, तवविणये निच्चकालपासत्था । एए अवंदणिज्जा, जे जसघाई पवयणस्स ॥११९८॥**

दर्शनज्ञानेतिव्यत्ययः प्राकृतत्वात्ततो ज्ञानदर्शनचारित्रेषु नित्यकालं पार्श्वस्थाः, नित्यकालग्रहणादित्वरकालं ज्ञानादिप्रमादेऽपि साधव एवेति वन्द्याः, ये प्रवचनस्य यशोघातिनः ॥ ११९८ ॥ एतद्वन्दने दोषाः 'किइ'

किइकम्मं च पसंसा, सुहसीलजणम्मि कम्मबंधाय। जे जे पमायठाणा, ते ते उवबूहिया हुंति ॥११९९॥

मुखशीलजने कृतिकर्म्म प्रशंसा च कर्म्मबन्धाय, यतः सोऽर्चितो बाढं प्रमत्तः स्यात्। ततो यानि यानि प्रमादस्थानानि तानि तानि उपबृंहितानि समर्थितानि ॥ ११९९ ॥ 'दंस'

दंसणनाणचरित्ते, तवविणये निच्चकालमुज्जुत्ता। एए उ वंदणिज्जा, जे जसकारी पवयणस्स ॥१२००॥

'उज्जुत्ता' उद्यमवन्तः, एते, तुशब्द एवार्थे ॥ १२०० ॥ 'किइ'

किइकम्मं च पसंसा, संविग्गजणंमि निज्जरट्ठाए। जे जे विरईठाणा, ते ते उवबूहिया हुंति ॥१२०१॥

विरतिस्थानानि विरतानां मुनीनां पुण्यस्थानानि ॥ १२०१ ॥ 'आय'

आयरिय उवज्झाए, पवति थेरे तहेव रायणिए। एएसिं किइकम्मं, कायव्वं निज्जरट्ठाए ॥ १२०२ ॥

प्रवर्त्तकः, स्थविरः रत्नाधिको गणावच्छेदकः। एषां पञ्चानां लघुपर्यायाणामपि पर्यायज्येष्ठैर्वन्दनं निर्जरार्थाय कर्त्तव्यं। अन्ये भणंति 'अण्णो वि जो तहाविओ रायणिओ सो वन्देयव्वो। रायणिओ नाम जो दंसणनाणचरणे सुट्ठु पयओ एतेसिं नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए विसेसओ नियोगो च कम्मखवणट्ठयाए'। तत्र आचार्यादिव्याख्यायां क्षेपकगाथाः 'सुत्तत्थविऊ लक्खणजुत्तो, गच्छस्स मेढिभूओ य। गणतत्तिविप्पमुक्को, अत्थं भासेइ आयरिओ, ॥ १ ॥ सूत्रार्थवित् सूत्रार्थज्ञाता, लक्षणानि 'पडिरूवो तेयस्सी'त्यादीनि तैर्युक्तः गच्छस्य मेढिभूतः स्तम्भभूतः गणस्य तस्या चिन्तया विप्रयुक्तः उपाध्यायादिषु सूत्रा-

ध्यापनादिसर्वचिन्ताया न्यस्तत्वात्, अर्थं भाषते आचार्यो गणधरः, न तु सूत्रं १। यतः 'एगग्गया य झाणे, वुड्ढी तित्थयरअणुकिती गरुआ। आणाहिज्जमिइ गुरू कयरिणमुक्का न वाएइ' ॥२॥ सूत्रस्यादानेनार्थमेव ददतः सूरेर्ध्यानेऽर्थचिन्तारूपे एकाग्रता स्यात् न तु सूत्रवाचने बहुव्यग्रत्वात्। 'वुड्ढी'त्ति एकाग्रध्यानेऽर्थबुद्धिवृद्धिस्तीर्थकरानुकृतिस्तीर्थकरा ह्यर्थमेवाहुर्न सूत्रं। सूत्रदानस्यान्यैरपि साध्यत्वादर्थमेव वदतो गुरुता गरिमा। आज्ञायां च स्थैर्यं जिनाज्ञा पालिता स्यात्। यावद्गुरुः सर्वं सूत्रं शिष्यान्न भाणयेत्तावद् ऋणी उच्यते। अतः सामान्यावस्थायां साधवः सूत्रं पाठिता इति कृतसूत्रऋणमोक्षः। एतैर्हेतुभिः सूत्रं न वाचयति २। 'सम्मत्तणाणसंजमजुत्तो, सुत्तत्थतदुभयविहिन्नू। आयरियठाणजुग्गो, सुत्तं वाएउवज्झाओ' ॥३॥ सम्यक्त्वज्ञानसंयमयुक्तः, सूत्रं अर्थं तदुभयस्य सूत्रार्थयोर्दानादिविधिं च जानातीति सूत्रार्थतदुभयविधिज्ञः, आचार्यस्थानस्य आचार्यपदस्य योग्यः सूत्रं वाचयत्युपाध्यायः ३। (किं निमित्तं ?) 'सुत्तत्थेसु थिरत्तं, रिणमुक्को आयतीयऽपडिबंधो। पाडिच्छामोहजओ, सुत्तं वाए उवज्झाओ' ॥ ४ ॥ सूत्रवाचनेऽयं हेतुः सूत्रार्थेषु स्थिरत्वं ऋणमोक्षः प्राग्वत्। आयत्यां एष्यत्काले अप्रतिबन्धः सूत्रार्थाविच्छेदः, प्रतीच्छका येऽन्यत एत्य सूत्रोपसम्पदं गृह्णन्ति तेषामनुग्रहः। मोहस्य वेदमोहनीयस्य जयो वाचनारसिकत्वात्। तस्मात् सूत्रं वाचयेत् ४। 'तवसंजमजोगेसु, जो जोगो तत्थ तं पवत्तेइ। असुहं च नियत्तेई, गणतत्तिल्लो पवत्ती उ' ॥५॥ तपःसंयमयोर्योगेषु व्यापारेषु यो योग्यस्तत्र तं प्रवर्त्तयेत्, असहं दुर्बलं तपसो निवर्त्तयेत्। गणतप्तिवान् प्रवर्त्तकः ५। 'थिरकरणा पुण थेरो, पवत्तिवावारिएसु अत्थेसुं। जो जत्थ सीयइ, जई संतबलो तं थिरं कुणइ' ॥ ६ ॥ प्रवर्त्तकव्यापारितेष्वर्थेषु साधूनां स्थिरकरणत्वात् स्थविरः। कथं ? यो यत्र पुण्यकृत्ये यतिः सद्बलो

बलमहितः सन् सीदति, सीदन्तं तं साधुं स्थिरं करोति ६ । ‘ उद्भावणापहावणखित्तोवधिमग्गणासु अविसाई । सुत्तत्थतदु-
भयविऊ, गणवच्छो एरिसो होइ ’ ॥ ७ ॥ गच्छकार्ये जाते क्षेत्रोपध्योर्मार्गणायां अन्वेषणायां उत्प्राबल्येन धावना, आत्मानु-
प्रहबुद्धया तत्करणप्रवृत्तिः प्रधावना शीघ्रं कार्यनिष्पादनं । तयोरविषादी विषादरहितः ७। गतं आद्यगाथायां ‘ कायव्वं
कम्म वे’त्याद्यां कस्येति द्वारं ॥ १२०२ ॥ अथ केनेति द्वारं ‘ माय ’

**मायरं पियरं वावि, जिट्ठगं वावि भायरं । किइकम्मं न कारिज्जा, सव्वे राइणिए तहा ॥ १२०३ ॥**

संयतां मातरं, संयतं पितरं, सर्वान् रत्नाधिकान् पर्यायज्येष्ठान् विनयार्थं यद्दीयते तदभ्युत्थानाख्यं वन्दनं न कारयेत् ।
आलोचनादौ तु सागारिकाद्यभावे कारयेत्। गृहस्थांस्तु तान् कारयेत् । जइ पुण ताणिवि भणिज्जा–अम्हे तुमे विणयमूलाउ
धम्माउ फेडिता । होमो मा वारेहि त्ति तो वंदावेति । यदि पुण पढंति तो सव्वाणिवि वंदाविज्जंति जतणयाए, किमिति ?
सुतं भट्टारगं वंदिज्जतित्ति। इदरहा णाणविणओ विराहितो भवति । नवरं कारणे उद्देसाईए कारेयव्वो ’ ॥ १२०३ ॥
‘ वियडणपच्चक्खाणे सुयंमि रायणियावि हु करंति । मज्झिले न करंती सो चेव करेइ तेसिं तु ’। १ । विकटने आलोचनायां
योगविधिप्रत्याख्याने श्रुतग्रहणे रत्नाधिकाः पर्यायज्येष्ठा अपि लघोर्वन्दनं कुर्युः । मध्यमानि वक्ष्यमाणप्राघूर्णकवन्दना-
दीनि । स एव पर्यायलघुस्तेषां रत्नाधिकानां करोति । एषा क्षेपकगाथा वृत्तौ चूर्णौ च न ‘ पंच ’

**पंचमहव्वयजुत्तो, अणलस माणपरिवज्जियमईओ । संविग्गनिज्जरट्ठी, किइकम्मकरो हवइ साहू॥१२०४॥**

अनलसो मानपरिवर्जितमतिः संविग्नः सर्वतोऽवद्यभीतो 'नीयागोयादिस्स कम्मस्स निज्जरट्ठी' कृतिकर्मकरः साधुर्भवति, अत्रानुक्तोऽपि 'सीयले खुड्डए कन्हे' इत्यादौ कृष्णाद्यैर्वन्दनकदानात् श्राद्धोऽपि यथार्हगुणो ज्ञेयः ॥ १२०४ ॥ गतं केन द्वा० २ अथ कदा द्वारं 'वक्खि'

कदा कतिकृत्वश्च वन्दनं कार्यम् ॥

**वक्खित्तपराहुत्ते अ, पमत्ते मा कया हु वंदिज्जा। आहारं च करिंतो, नीहारं वा जइ करेइ ॥१२०५॥**

व्याक्षिप्तं धर्मकथादिना, 'पराहुत्तं' पराङ्मुखं, चशब्दादुत्सुकादिग्रहणं, प्रमत्तं क्रोधादिना, मा कदाचिद्वन्देत। आहारं कुर्वाणं नीहारं वा यदि करोति तदा तं न वन्देत ॥ १२०५ ॥ 'पसं'

**पसंते आसणत्थे य, उवसंते उवट्ठिए। अणुन्नवित्तु मेहावी, किइकम्मं पउंजए ॥ १२०६ ॥**

प्रशान्तं अव्यग्रं, आसनस्थं निषद्यास्थं, उपशान्तं अप्रमत्तं, उपस्थितं छन्देनेत्यादिवचनोद्यतं अनुज्ञाप्य मेधावी कृतिकर्म प्रयुञ्जीत। तत्र ध्रुववन्दनेषु नानुज्ञापयति, औत्पत्तिकेषु त्वनुज्ञापयति। गतं कदा द्वारम्, अथ कतिकृत्वो द्वारम् ।१२०६। 'पडि'

**पडिक्कमणे सज्झाए, काउस्सग्गावराहपाहुणए। आलोयणसंवरणे, उत्तमट्ठे य वंदणयं ॥१२०७॥**

प्रतिक्रमणे, स्वाध्याये प्रस्थापने वन्दनानि ध्रुवाणि, औत्पत्तिकानि तु कायोत्सर्गे विकृतित्यागविसर्जनार्थेऽपराधे गुर्वाशातनारूपे क्षामणार्थे पाक्षिकवन्दनान्यपराधमध्ये ज्ञेयानि। प्राघूर्णके ज्येष्ठे समेते वन्दनं कार्यं, लघौ समेते तु कारयितव्यं। प्राघूर्णका द्विधा, साम्भोगिका एकसामाचारीका अन्ये त्वन्यसाम्भोगिकाः। सूत्रं–'संभोइय अण्णसंभोइया य, दुविहा हवंति

पाहुणया । संभोइय आयरियं, आपुच्छित्ता उ वंदेइ ॥ १ ॥ इयरे पुण आयरियं, वंदित्ता संदिसाविउं तह य । पच्छा वंदेइ जई, गयमोहा अहव वंदावे ' ॥ २ ॥ साम्भोगिकान् पाघूर्णकान् आचार्यं पृष्ट्वा वन्दन्ते। इतरानन्यसाम्भोगिकान् पुनराचार्यं वन्दित्वा तथा च सन्देश्यादेशं याचित्वा वन्दन्ते यतयः अथवा गतमोहाः सन्तो वन्दापयन्ति । तथा आलोचनायां अपराधविहारोत्तमार्थभेदभिन्नायां, संवरणे वैकालिकप्रत्याख्याने यद्वा प्रत्याख्यानं कृत्वा कारणे सति भोजने, उत्तमार्थेऽनशने च वन्दनं भवति ॥ १२०७ ॥ ध्रुववन्दनसङ्ख्यामाह ' चत्ता '

**चत्तारि पडिक्कमणे, किइकम्मा तिन्नि हुंति सज्झाए। पुव्वण्हे अवरण्हे किइकम्मा चउदस हवंति॥१२०८**

प्रतिक्रमणे चत्वारि कृतिकर्माणि, कथं ? ' गुरुं पुवसंज्ञाए वंदित्ता आलोएइति एयं एक्कं ' अब्भुट्ठियावसाणे जं पुणो वंदंति गुरुं एतं बितियं । एत्थ य (विही)-पच्छा जहन्नेणं तिन्नि मज्झिमं पंच वा सत्त वा उक्कोसं सवे वन्दियव्वा । यदा व्याकुलो व्याक्षेपो वा तो एक्केण ऊणगा जाव तिन्नि अवस्सं वंदियव्वा । एवं देवसिए । पक्खिए पंच अवस्सं । चाउम्मासिए संवच्छरिएवि सत्त अवस्संति । ते वंदिऊण जं पुणो आयरियस्स अल्लिविज्जति, यत्पुनराचार्यस्यार्प्यते, तं ततियं, पच्चक्खाणे चउत्थं । सज्झाए वंदित्ता पट्ठवेति पढमं, पट्ठविए पवेयंतस्स बितियं पच्छा उद्दिट्ठं समुद्दिट्ठं पढति । ततो जाहे चउब्भागावसेसा पोरिसी ताहे पत्ते पडिलेहेत्ति । जति न पढितुकामो तो वंदति । अह पढिउकामो तो अवंदित्ता पाए पडिलेहेति । पडिलेहित्ता पच्छा पढइ। कालवेलाए वंदिउं पडिक्कमइ। अह उग्घाडकालियं न पढइ ताहे वंदिउं पाए पडिलेहेत्ति, एयं तइयं। एवं पुव्वण्हे सत्त अवरण्हे एए चेव सत्त। एयाणि अब्भत्तट्ठियस्स नियमा। भत्तट्ठियस्स पच्चक्खाणवंदणं अब्भहियं ॥१२०८॥

गतं कतिकृत्वो द्वारं, अथ कत्यवनतं, कतिशिर इति द्वारद्वयं। तथा अवनामशिरोद्वारद्वयं आवश्यकेभ्यः पृथक् निधार्य यदुक्तं तद्विशिष्य विनयमूलधर्मज्ञप्त्यै, अन्यथाऽवनामो शिरसा गुरुचरणस्पर्शनं च गुरोर्नमनं चानुपयुक्तस्य न स्युः। 'दुओ'

**दुओणयं अहाजायं किइकम्मं बारसावयं। चउसिरं तिगुत्तं च, दुपवेसं एगनिक्खमणं ॥ १२०९ ॥**

द्विकृत्वोऽवनतं द्व्यवनतं, यथा वन्दनकद्वयेऽपि 'इच्छामि खमासमणो वंदिउं जावणिज्जाए निस्सीहियाए' उक्त्वा छन्दोनुज्ञापनायामवनमनं २। यथाजातं श्रामण्ये योनिनिःक्रमणे च। श्रामण्ये साधुर्धर्म्मध्वजमुखपोतिचोलपट्टयुग् श्रमणो जातः। साध्वी तु सर्वाङ्गोपकरणधर्मध्वजमुखपोतियुक्ता जाता। उपलक्षणात् श्राद्धः श्राद्धिका च सिद्धान्तयुक्त्या पञ्चविधाभिगमविधिना देशविरतिं प्रतिपन्ना। ततः साध्वादयो यथाजातमुद्रया वन्दनं ददतीति दातुरभिन्नत्वाद्वन्दनकमपि यथाजातं। योनिनिःक्रमणे तु रचितकरसम्पुटो योन्या निर्गतस्तथाभूतश्च वन्दते। चुर्णौ तु 'अंजलिं सीसे काऊण णीति' तत्रायमर्थो घटते 'खमणिज्जो मे किलामो' इत्यादिभणने शिरस्यञ्जलिकरणं यथाजातमुद्रयोक्तं ३। कृतिकर्म्मवन्दनं द्वादशावर्तं 'अहो १ कायं २ काय ३ जत्ता मे ४ जवणि ५ ज्जं च भे' ६ इत्येकस्मिन् ६, द्वितीयेऽपि ६, एवं १२ आवर्त्ताः गुरुचरणन्यस्तहस्तशिरःस्थापनरूपाः १५। यथाजातद्वादशावर्त्तरूपं द्वारद्वयं कत्यवनतद्वारेण सूचितं ज्ञेयं। द्वारं ५। कति शिरांसीत्याह 'चउसिरं' द्विकृत्वः क्षामणाकाले शिष्याचार्यशिरोद्वयनमनमिति चत्वारि शिरांसि यत्र तच्चतुःशिरः १९। द्वारं ६। त्रिगुप्तं मनसा सावधानस्य वाचाऽस्खलिताक्षराण्युच्चरतः कायेनावश्यकानि कुर्व्वतः। २२। द्विकृत्वोऽवग्रहान्तरनुज्ञाप्य प्रवेशनं २४। एकनिःक्रमणमावश्यिक्या निर्गच्छतः द्वितीयवेलायां ह्यवग्रहान्न निर्गच्छति। पादपतित एव सूत्रं समापयतीति। २५। त्रिगुप्त-

कत्यवनतं कतिशिरं चेतिद्वारद्वयम् ॥

द्विप्रवेशैकनिःक्रमणरूपं द्वारत्रयं कतिशिरोद्वारेण सूचितं ज्ञेयं । अथ कतिविधावश्यकैः शुद्धमित्यत्रान्यकर्तृके गाथे—
'अवणामा दुअहाजायं, आवत्ता बारसेव उ । सीसा चत्तारि गुत्तीओ, तिन्नि दो य पवेसणा ॥ १ ॥ एगनिक्खमणं चेव,
पणवीसं वियाहिया । आवस्सगेहिं परिसुद्धं, किइकम्मं जेहि कीरई' ॥ २ ॥ (एते द्वे गाथे हारि० वृत्तौ निर्युक्तिगाथात्वेन
दर्शिते ) अवनामौ, यथाजातं, पञ्चविंशतिरावश्यकानि व्याहृतानि, तुरेवार्थे, प्राकृतत्वाल्लिङ्गव्यत्ययः, यैरावश्यकैर्हेतुभूतैः
परिशुद्धं कृतिकर्म्म क्रियतेऽन्यथा द्रव्यकृतिकर्म्म स्यात् ॥ १२०९ ॥ आह च 'किइ'

किइकम्मंपि करिंतो, न होइ किइकम्मनिज्जराभागी। पणवीसामन्नयरं, साहू ठाणं विराहंतो ॥१२१०॥

यथा विकलानुष्ठाना विद्याऽफला स्यात् । एवं पञ्चविंशतेरावश्यकानामन्यतरत् स्थानं आवश्यकरूपं विराधयन् कृतिकर्म्म कुर्वन्नपि कृतिकर्म्मनिर्जराभाजी(गी) न स्यात् ॥ १२१० ॥ 'पण'

पणवीसाआवस्सगपरिसुद्धं किइकम्मं जो पउंजइ गुरूणं। सो पावइ निव्वाणं, अचिरेण विमाणवासं वा

स्पष्टा, वाशब्दादर्हत्त्वगणभृत्त्वचक्रित्वादि प्राप्नोति ॥ १२११ ॥ अथ कतिदोषमुक्तमिति द्वारं 'अणा' 'मच्छु'
'तेणि' 'दिट्ठ' 'मूयं'

अणाढियं च थद्धं च, पविद्धं परिपिंडियं। टोलगइ अंकुसं चेव, तहा कच्छभरिंगियं ॥ १२१२ ॥

मच्छुवत्तं मणसा, पउट्ठं तह य वेइयाबद्धं । भयसा चेव भयंतं, मित्ती गारवकारणा ॥ १२१३ ॥

तेणियं पडिणियं चेव, रुट्ठं तज्जियमेव य । सढं च हीलियं चेव, तहा विपलिउंचियं ॥ १२१४ ॥
दिट्ठमदिट्ठं च तहा, सिंगं च करमोअणं । आलिट्ठमणालिट्ठं, ऊणं उत्तरचूलियं ॥ १२१५ ॥
मूयं च ढड्ढरं चेव, चुडुलिं च अपच्छिमं । बत्तीसदोसपरिसुद्धं, किइकम्मं पउंजई ॥ १२१६ ॥

एता मूलगाथाः । अनादृतं १, स्तब्धं २, प्रविद्धं ३, परिपिण्डितं ४, टोलगतिं ५, अङ्कुशं ६, कच्छपरिङ्गितं ७, मच्छोद्वृत्तं ८, मनसा प्रद्विष्टं ९, वेदिकाबद्धं १०, 'भयसे'ति भयेन ११, 'भयंतं' भजमानं १२, मैत्र्या १३, गर्वात् १४, कारणात् १५, स्तैनिकं १६, प्रत्यनीकं १७, रुष्टं १८, तर्जितं १९, शठं २०, हीलितं २१, विपलिकुञ्चितं २२, दृष्टादृष्टं २३, शृङ्गं २४, करं २५, मोचनं २६, आश्लिष्टानाश्लिष्टं २७, ऊनं २८, उत्तरचूलिकं २९, मूकं ३०, ढड्ढरं ३१, चूडलिं ३२, अपश्चिमं अन्त्यं दोषमाहुः । एभिर्द्वात्रिंशद्दोषैः परिशुद्धं विमुक्तं कृतिकर्म्म प्रयुञ्जीत । अथ क्षेपकगाथाः, परं वृत्तौ न 'आयर'

आयरकरणं आढा, तव्विवरीयं अणाढियं होइ । दव्वे भावे थद्धो, चउभंगो दव्वओ भइओ ॥ १ ॥

आदरकरणं 'आढा' आदृतता तया कृतं आदृतं तद्विपरीतं अनादृतं १ स्तब्धो द्रव्यतो देहेन, भावतो जात्यादिमदैः, अत्र चतुर्भङ्गी, द्रव्यभावस्तब्धः भावस्तब्धो न द्रव्यादिति भङ्गौ नार्हौ । द्रव्यतस्तब्धो न भावात् । एष भङ्गो भाज्यः सत्यां शक्तौ नार्होऽसत्यां त्वर्हः, द्रव्यभावाऽस्तब्धः एष भङ्गोऽर्हः १ । 'पविद्ध'

पविद्धमणुवयारं, जं अप्पिंतो णिजंतिओ होइ । जत्थ व तत्थ व उज्झइ, कियकिच्चोवरकरं चेव ॥ २ ॥

प्रवृ(वि)द्धमनुपचारं उच्यते । यद्वन्दनं अर्पयन् ददानोऽनियन्त्रितोऽनवस्थितः स्यात् । तेन च यत्र तत्रासमाप्तमप्युज्झति स यथा कृतकृत्य आत्तभाटकः वक्करं वस्तु यत्र वा तत्र वा क्षिपति २ । ' संपिंडि '

संपिंडिय व वंदइ, परिपिंडियवयणकरणओ वावि । टोलोव्व उप्फिडंतो, ओसक्कहिसक्कणे कुणइ ॥ ३ ॥

संपिडितान् संमिलितान् बहून् आचार्यादीन् एकवन्दनेन वन्दते । यद्वा परिपिण्डितानि पिण्डीकृतानि वचनान्यालापकाः कारणान्यावर्त्तकाः करांह्रयो वा येन । स ऊरूर्ध्वं करौ कृत्वा पिण्डिताङ्गोऽव्यक्तसूत्रोच्चारो वन्दते इत्यर्थः । टोलवत् तिड्डवत् उत्प्लवमानोऽप्रतिलेख्याप्रमार्ज्योत्ष्वकणमग्रतः सरणं अभिष्वष्कणं पश्चादपसरणं करोति । विसंस्थुलं वा वन्दते तत्टोलगति ३ । ' उवग '

उवगरणे हत्थंमि व, घेत्तु निवेसेइ अंकुसं विंति । ठिउवट्ठरिंगणं जं तं, कच्छवरिंगियं जाण ॥ ४ ॥

उपकरणे चोलादौ हस्ते वा गुरुं गृहीत्वा आसने उपवेशयति तदङ्कुशं, न हि पूज्यानामाकर्पणं युक्तं । किन्तु प्रणम्य वाच्यं विशन्तु भगवन्तोऽहं वन्दे । वृत्तौ त्वङ्कुशवद्रजोहरणं करद्वयेनादाय वन्दते । चूर्णौ तूभयथापि । ' ठिउ० ' स्थितस्योर्ध्वस्थस्य 'पडिक्कमामि खमासमणाणं देवसियाए' इत्यादिसूत्रं भणत उपविष्टस्य च 'अहो कायं' भणतः कच्छपवद्रिङ्गितं अग्रतः पश्चात् किञ्चिचलनं ४ । ' उड्डितो '

उड्डितो निवेसिंतो, उव्वत्तइ मच्छउव्व जलमज्झे । वंदिउकामो वऽन्नं, झसो व परियत्तए तुरियं ॥ ५ ॥

उत्तिष्ठन् निवेशमानो मत्स्य इव जलमध्ये उद्वर्तते उल्ललति, यद्वैकं नत्वाऽन्यं नन्तुमना झषो मत्स्यस्तद्वन्निविष्ट एव

परावर्त्तते ५ । 'अप्प' 'कुणइ'

अप्पपरपत्तिएणं, मणप्पओसो य वेइयापणगं । तं पुण जाणूवरि, जाणुहिट्ठाओ जाणुबाहिं वा ॥ ६ ॥

कुणइ करे जाणुं वा एगयरं ठवइ करजुयलमज्झे । उच्छंगे करइ करे, भयं तु निज्जूहणाईयं ॥ ७ ॥

आत्मपरप्रत्ययेन मनःप्रद्वेषोऽनेकोत्थानः स्यात् । तत्रात्मप्रत्ययः स्वस्य गुरुताडनया, परप्रत्ययः स्वमित्रादेः गुरुताडनया एवमाद्यन्यकारणैरपि ९ । पञ्च वेदिका उत्सङ्गे जान्वोरूर्ध्वं १ अधः २ पार्श्वयोः ३ । ४ एकतरं जानुं करद्वयान्तः करद्वयमध्ये वा ५ कृत्वा वन्दते १० । भयं निर्यूहणं गच्छान्निःकासनं तदादिकं मनसि कृत्वा वन्दते ११ ॥ ६-७ ॥ 'भयइ'

भयइ व भयिस्सइत्ति य, इअ वंदइ ण्होरयं निवेसंतो । एमेव य मित्तीए, गारवसिरकाविणीओऽहं ॥ ८ ॥

एष मां भजति इत्यनुवर्त्तते, अग्रे भजिष्यतीति वा इति निहोरकं निवेशयन् वन्दते । यथा स्मर्त्तव्यं त्वया वयमपि वन्दमानाः स्म इति १२ । 'एमे' एवमेव निहोरकवन्मैत्र्यापि हेतुभूतया वन्दते १३ । 'गारव०' शिक्षायां वन्दनादिसामाचार्यां विनीतो दक्षोऽहं इति गर्वाद्वन्दते १४ ॥ ८ ॥ 'नाणा'

नाणाइतिगं मोत्तुं, कारणमिहलोयसाहयं होइ । पूयागारवहेऊं, नाणग्गहणेवि एमेव ॥ ९ ॥

ज्ञानादित्रयं मुक्त्वा इहलोकस्य साधकं वस्त्रादिवाञ्छारूपं कारणं ब्रुवते तदर्थं यो वन्दते । अहं विनयेन जनेषु पूज्यो भवामीति स्वस्य पूजागौरवार्थं वन्दते, ज्ञानग्रहणेऽप्येवमेव कारणदोषः । तथा 'आयर हंदी' तीहलोककारणस्यैव दर्शनेऽतिशयादरेणामुं वन्दे, तेन पश्चादेतद्वस्तु प्रणयिष्ये याचिष्ये वन्दनकमूल्यरूपभावात् प्रणयस्य याच्ञायां भङ्गं न

करिष्यति १५ । ‘ हाउं ’

हाउं परस्स दिट्ठिं, वंदते तेणिय हवइ एयं । तेणो विव अप्पाणं, गूहइ ओभावणा मा मे ॥ १० ॥

परस्य साध्वादेर्दृष्टिं हापयित्वा वञ्चयित्वा वन्दमाने स्तैन्यं स्तेन इवात्मानं गूहति गोपयते । मा मेऽपभ्राजना मानम्लानिरस्तु । यथाऽयं विद्वानप्यन्येषां वन्दनं दत्ते इति १६ । १० ॥ ‘ आहा ’

आहारस्स उ काले, नीहारस्सावि होइ पडिणीयं । रोसेण धमधमंतो, जं वंदइ रुट्ठमेयं तु ॥ ११ ॥

आहारनीहारयोः काले प्रत्यनीकं १७ । ‘ रोसेण ’ रोषेण धमधमयन् १८ ॥ ११ ॥ ‘ नवि ’

नवि कुप्पसि न पसीयसि, कट्ठसिवो चेव तज्जिय एयं । सीसंगुलिमाईहि य, तज्जेइ गुरुं पणिवयंतो ॥ १२ ॥

काष्टमयशिववत् अनतो न कुप्यसि नतो न प्रसीदसीति वदते, वन्दने तर्जितं, यद्वा संभ्रान्तमां वन्दापयन्नसि परं ज्ञास्ये तवैकाकिन इति शीर्षतर्जन्यङ्गुल्यादिभिस्तर्जयति १९ ॥ १२ ॥ ‘ वीसंभ ’

वीसंभट्ठाणमिणं, सब्भावजढे सढं भवइ एयं । कवडंति कइयवंति य, सढयावि य हुंति एगट्ठा ॥ १३ ॥

विश्रम्भस्थानमिदं वन्दनमस्मिन् श्राद्धादयो विश्वसन्तीत्याशयस्तेन वन्दमाने सद्भावजढे सम्यग्भावरहिते शठं, यद्वा ग्लानादिमिषात् सम्यग् न वन्दते । कपटं कैतवं शठता २० ॥ १३ ॥ ‘ गणि ’

गणिवायगजिट्ठज्जत्ति, हीलिउं किं तुमे पणमिऊण ? । दरवंदियंमिवि कहं, करेइ पलिउंचियं एयं ॥ १४ ॥

गणिन् ! वाचक ! ज्येष्ठार्य ! त्वं ज्ञानं न ब्रूषे किमपि न दत्से, किं त्वया प्रणतेनेति हीलया वन्दनं हीलितं २१ ।

'दरे'ति ईषद्वन्दितेऽपि वन्दनान्तर्विकथां करो(ती)ति विपलिकुञ्चितं २२ ॥ १४ ॥ 'अंतरि'

अंतरिओ तमसे वा, न वंदई वंदई उ दीसंतो । एयं दिट्ठमदिट्ठं, सिंगं पुण मुद्धपासेहिं ॥ १५ ॥

स्तभाद्यन्तरितस्तमसि वा न वन्दते दृश्यमानस्तु वन्दते । तद् दृष्टादृष्टं २३ । कुम्भं भालं तत्पार्श्वयोर्वामदक्षिणयोरावर्त्तक्षणे स्पृशति योजिताञ्जलिं वा पार्श्वयोर्दत्ते । शीर्षैकदेशेन वा सम्यगकृताञ्जलिर्वा वन्दते २४ ॥ १५ ॥ 'करमि'

करमिव मन्नइ दिंतो, वंदणयं आरहंतिय करोत्ति । लोइयकराउ मुक्का, न मुच्चिमो वंदणकरस्स ॥ १६ ॥

वन्दनं ददत् करमिव मन्यते । यथाऽयमार्हत्यकरो दण्डः २५ । 'लोइ' लौकिककरात् मुक्ताः परं वन्दनकरान्न मुच्यामहे इति मोचनं २६ ॥ १६ ॥ 'आलिद्ध'

आलिद्धमणालिद्धं, रयहरणसिरेहिं होइ चउभंगो । वयणक्खरेहिं ऊणं, जहन्नकालेवि सेसेहिं ॥ १७ ॥

आश्लिष्टानाश्लिष्टं रजोहरणे शीर्षे च भङ्गाः ४ । रजोहरणे शीर्षे चाश्लिष्टं इत्याद्यो भङ्गः शुद्धः । शेषा ३ अशुद्धाः २७ । 'वयण' जघन्यकालेऽल्पकाले औत्सुक्याद्वन्दमानस्यावशेषैरवनामाद्यावश्यकैरूनं २८ ॥ १७ ॥ 'दाउण'

दाउण वंदणं मत्थएण, वंदामि चूलिया एसा । मूयव्व सद्दरहिओ, जं वंदइ मूयगं तं तु ॥ १८ ॥

वंदनं कृत्वा 'मत्थएण वन्दामी'ति वदन् । एषा चूलिका २९ । मूक इव शब्दरहितं आलापकाननुच्चारयन् वन्दते ३० ॥ १८ ॥ 'ढड्ढर'

१ अवनतादि

डड्डरमरेण जो पुण, सुत्तं वोसेइ डड्डर तमिह । चूडलिं व गिण्हिऊणं रयहरणं होइ चुडलि तु ॥ १९ ॥

( महता शब्देन वन्दते ) । ११ । 'चुड' चुडलि उल्मकं (उल्का) तद्वद्रजोहरणदशिकाः पुरः कृत्वा दीर्घहस्तं प्रसार्य वन्दे इति वदन्वा हस्तं भ्रमयित्वा सर्वान् वन्दते तच्चुडलि १२ । एष्वन्यतरदोषदुष्टं कृतिकर्म्म कुर्वंस्तत्फलं नाप्नोतीति आह च ॥ १९ ॥ 'किति'

कितिकम्मंपि करिंतो, न होइ कम्मानिज्जराभागी । बत्तीसामन्नयरं, साहू ठाणं विराहिंतो ॥१२१७॥

द्वात्रिंशतोऽन्यतरद्दोषस्थानं विशेपेण राधयन् साधयन् सन् ॥ १२१७ ॥ 'बत्ती' 'आव'

बत्तीसदोसपरिसुद्धं, किइकम्मं जो पउंजइ गुरूणं । सो पावइ निव्वाणं अचिरेण विमाणवासं वा ।१२१८।

आवस्सएसु जह जह, कुणइ पयत्तं अहीणमइरित्तं । तिविहकरणोवउत्तो, तह तह से निज्जरा होइ ।१२१९।

प्रयत्नं अहीनातिरिक्तं यथा यथा करोति । त्रिविधे मनोवाक्कायरूपे करणे उपयुक्तः ॥ १२१८–१२१९ ॥ द्वारं ८ । किमर्थं क्रियते इत्याह 'विण' 'विण'

विणओवयार माणस्स, भंजणा पूयणा गुरुजणस्स । तित्थयराण य आणा, सुअधम्माराहणाऽकिरिया ॥

विणओ सासणे मूलं, विणीओ संजओ भवे । विणयाउ विप्पमुक्कस्स, कओ धम्मो कम्मो तवो ? ।१२२१।

विनयोपचारो विनयप्रतिपत्तिः कृता स्यात्, यतो 'विणओ सासणे मूलं' विनयः शासने मूलं धर्म्मस्य, शेपा गाथा

स्पष्टा ॥ १२२०—२१ ॥ विनयस्य त्विदं निरुक्तं 'जम्हा'

**जम्हा विणयइ कम्मं, अट्ठविहं चाउरंतमुक्खाए। तम्हा उ वयंति विऊ, विणउत्ति विलीनसंसारा।१२२२।**

यस्माच्चतुरन्तचतुर्गतिकसंसारस्तस्य मोक्षाय अष्टविधकर्म विनयति स्फेटयति तस्माद्विलीनसंसाराः, विदः केवलिनो विनय इति वदन्ति । १ । अथ शेषगाथा (१२२०) व्याख्या, मानस्याष्टविधस्य नीचैर्गोत्रस्य च भंजना । २ । गुरुजनस्य पूजना कृता स्यात् । ३ । तीर्थकराज्ञा पालिता स्याज्जिनैर्विनयमूलधर्म्मस्योक्तत्वात् । ४ । श्रुतधर्म्मः श्रुतं तदाराधना । ५ । यतो वन्दनपूर्वं श्रुतं ग्राह्यं । ततः क्रमेणाऽक्रिया इति न विद्यते क्रिया चेष्टा यत्र साऽक्रिया मुक्तिः स्यात् । ६ । यतः प्रज्ञप्त्यां 'तहारूवं णं भंते ! समणं वा माहणं वा वंदणमाणस्स पज्जुवासेमाणस्स किंफला वंदणपज्जुवासणया ? गोयमा ! सवणफला, सवणे, णाणफले, नाणे विन्नाणफले, विन्नाणे पच्चक्खाणफले, पच्चक्खाणे संयमफले संजमे अणण्हफले ( अणण्हओ अनाश्रवः ) अणण्हए तवफले, तवे वोदाणफले ( व्यवदानं निर्जरा ) वोदाणे अकिरियाफले, अकिरिया सिद्धिगतिगमणफला ' । द्वारं ९ ॥ १२२२ ॥

गतो वन्दननामनिष्पन्नो निक्षेपोऽथ सूत्रालापकनिष्पन्ननिक्षेपावसरस्तत्रावग्रहाद्बहिःस्थोऽर्द्धावनतकायः करस्थितधर्मध्वजः शिष्यो वक्ति—

**इच्छामि खमासमणो ! वंदिउं जावणिज्जाए निसीहियाए अणुजाणह मे मिउग्गहं निसीहि, अहोकायं कायसंफासं, खमणिज्जो भे किलामो, अप्पकिलंताणं बहुसुभेण भे दिवसो वइक्कंतो ?**

जत्ता भे ? जवणिज्जं च भे ? खामेमि खमासमणो ! देवसियं वइक्कमं, आवस्सियाए पडिक्कमामि खमासमणाणं देवासिआए आसायणाए तित्तीसण्णयराए जं किंचि मिच्छाए मणदुक्कडाए वयदुक्कडाए कायदुक्कडाए कोहाए माणाए मायाए लोभाए सव्वकालियाए सव्वमिच्छोवयाराए सव्वधम्माइक्कमणाए आसायणाए जो मे अइयारो कओ तस्स खमासमणो ! पडिक्कमामि निन्दामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ॥ ( सूत्रम् )

श्राम्यति तपस्यतीति श्रमणः समोपलक्षितदशविधधर्म्मप्रधानश्रमणस्तस्य आह्वानं हे क्षमाश्रमण ! वंदितुं इच्छामि याधातोर्ण्यन्तस्य पागमे कर्त्तयनीये यापयति इष्टं साध्यं सिद्धिं नयतीति यापनीया कार्यक्षमाऽरोगा चेत्यर्थः तया, पापनिषेधेन निर्वृत्ता नैषेधिकी पापनिवृत्तात्मनो देहस्तया, अयं भावः–नीरोगः शक्तो मद्देहो निषिद्धपापश्चाहं तन्नन्तुमीहे इतीच्छानिवेदनमाद्यं स्थानं १, इहेच्छामि वन्दितुमिति मनःशुद्धिरर्द्धावनतत्वे च कायशुद्धिरेतद्वर्णोच्चारे वाक्शुद्धिश्च ज्ञापितेति। एतावत् स्फुटशुद्धाक्षरमुक्त्वा स्थेयं। चेद्गुरुर्व्याक्षिप्तस्तदा त्रिविधेनेति वक्ति मनोवाक्कायैः संक्षेपेण नमेत्यर्थः। अव्याक्षिप्तस्तु छंदेणेति वक्ति। कोऽर्थः छन्देन निजेच्छया वन्दस्वेति कार्यमिति शिष्यस्तत्रस्थ एव वक्त्यनुजानीत अनुमन्यध्वं कृतिकर्म्मकरणं ततोऽनुजानीत मे मितावग्रहं ? तत्र यावान् ४ दिक्षु गुरोरवग्रहः गुरुसत्कप्रदेशमर्यादा पुरोवक्ष्यमाणरूपोऽस्ति तन्मध्ये मितं स्तोकं वंदनोचितप्रदेशरूपं क्षेत्रं मितं कालं वन्दनविषयकालं यावदवग्रहं वन्दनोचितप्रदेशरूपमित्यर्थः, द्वितीयमनुज्ञा-

पनास्थानं २, गुरुर्वक्ति अनुजानामि, शिष्यो वसतिवदत्राप्यवग्रहान्तः प्रविशन् निसीहिं अन्यव्यापारनिषेधरूपां वक्ति । ततो विधिनोपविश्य धर्म्मध्वजं भुवि मुक्त्वा तत्र गुरुपादौ निवेश्य तं भालं च कराभ्यां स्पृशन् वक्त्यधस्तनं कायं अंह्रिरूपं कायेन हस्तद्वयरूपेण संस्पृशामि तथानुजानीतेत्यत्रापि सम्बध्यते 'रायणियस्स संफासो वि अणणुण्णवित्ता न वट्टति काउं'। क्षमणीयः सह्योऽधुना भवद्भिर्मदङ्गस्पर्शे देहग्लानिरूपः क्रमः । किं च अल्पक्लान्तानां अल्पक्लमवतां अल्पशब्दोऽभावे बहुशुभेन प्रभूतसुखेन भवतां दिवसो व्यतिक्रान्तः? 'दिवसो पसत्थो अहोरत्तादी य तेण दिवसो गहिओ राइपक्खो इच्चाइ भाणियव्वं'। तृतीयमव्याबाधापृच्छास्थानं ३। गुरुर्वक्ति 'तहत्ति' तथेति यथा त्वं ब्रूषे। पुनः शिष्यो वक्ति यात्रा तपोनियमादिरूपोत्सर्पति भवतां? तुर्यं यात्रापृच्छास्थानं ४। गुरुर्वक्ति 'तुब्भंपि वट्टए' युष्माकमपि वर्त्तते? पुनराह शिष्यः यापनीयं च भवतां? कोऽर्थः इन्द्रियाण्यनुपहतानि वशे च सन्ति । मनोऽपि क्रोधादयो न बाधन्ते । पञ्चमं यापनीयस्थानं ५। गुरुः 'एवं' तथेत्यर्थः । शिष्यः पादयोः पतितो वक्ति–क्षमयामि क्षमाश्रमण ! दैवसिकं दिवसकृतं व्यतिक्रमं अपराधं षष्ठमपराधक्षामणास्थानं ६ । गुरुवाक् 'अहमवि खामेमि तुमे' अहमपि क्षामयामि युष्मान् विधिशिक्षणादिकं व्यतिक्रमं । शिष्योऽभ्युत्थाय 'आवस्सियाए' इत्यादिनालोचनार्हेण 'तस्स खमासमणो पडिक्कमामि' इत्यादिना प्रतिक्रमणार्हेण च प्रायश्चित्तेन स्वं शोधयितुमवग्रहान्निःसृत्य वक्ति 'आवस्सियाए' इत्यादि । अवश्यकार्येषु चरणकरणेषु भवा क्रिया आवश्यकी तया हेतुभूतया यदसाधुकृतं तस्मात्प्रतिक्रामामि निवर्त्ते । इत्थं सामान्येनाख्याय विशेषेणाह–क्षमाश्रमणानां सम्बन्धिन्या दैवसिक्या ज्ञानाद्यायस्य शातना खण्डना आशातना निरुक्त्या यलोपः तया त्रयस्त्रिंशदन्यतरया, ताश्चाग्रेतनाध्ययने वक्ष्यन्ते । 'तेत्तीसाए

अण्णतराए, मवाओ ण राइंदिए सम्भवन्ति, तेण अण्णतरगहणं, एका वा दो वा कता होज्जा'। तास्वेव किञ्चिद्विशेषेणाह–यत्
किञ्चित् कदालम्बनमाश्रित्य मिथ्याभावोऽत्रास्तीति 'अत्रादित्वादकारे' मिथ्या तया मिथ्याभावयुक्त्या इत्यर्थः। तथा मन-
सैव दुष्टं यथा भवति कृतया द्वेषरूपया, एवं वाग्दुःकृतया दुर्वाग्रूपया, कायदुःकृतयाऽऽसन्नगत्यादिरूपया। क्रोधोऽत्रास्तीति
क्रोधया इत्यादि, अयं भावः क्रोधान्मानाच्च विनयभ्रंशं कुरुते। मायातः शक्तोऽप्यक्षमो जाग्रदपि सुप्तः स्याल्लोभात्तु गुरुं वञ्च-
यित्वा रम्यवस्त्राद्यादत्ते। एवं दैवसिकीमुक्त्वेहभवान्यभवगतातीतानागतकालसङ्ग्रहार्थमाह–सर्वकालिक्या कालत्रयकृतया।
तत्रान्यत्काले कथमाशातना? उच्यते, अहं कल्ये अस्य गुरोरनिष्टं कर्त्तास्मीति चिन्त्या। एवमेष्यद्भवविषयमपि निदान-
भावात्। सर्वे एव मिथ्योपचारा दूषितभावेन कृता भक्तिविशेषा यस्यां तया, सर्वे धर्म्मा अष्टौ प्रवचनमातरः करणीयाश्च
योगास्तेषामतिक्रमणा विराधना तया, एवंभूतया आशातनया इति निगमयति। यो मयातिचारोऽपराधः कृतस्तस्यातिचार-
स्य हे क्षमाश्रमण! युष्मत्साक्षिकं प्रतिक्रामाम्यऽपुनःकरणेन निवर्त्ते तथा दुःकर्म्मकारिणं स्वं निन्दामि भवोद्विग्नमनसा,
तथा गर्हे युष्मत्साक्षिकं यथार्हप्रायश्चित्तादानेन, तथा व्युत्सृजाम्याशातनाकारिणमात्मानं तदनुमतित्यागेन, एवं क्षामयित्वा
पुनस्तत्रस्थ एवार्द्धावनतकाय एवं भणति 'इच्छामि खमासमणो' इत्यादि सर्वं द्रष्टव्यं, नवरमयं विशेषः 'खामेमि खमासमणो'
इत्यादिसर्वं सूत्रमावश्यिकयाविरहितं तत्पादपतित एव भणति। बृहद्वृत्तौ चूर्णौ अवग्रहप्रवेशे 'निसीही' नोक्ता। एवं 'सीसेण
पदे पदे संवेगमावज्जंतेणं नीयगोयखवणट्ठयाए अगोयस्स ठाणस्स फलं हियदए काऊण वंदणगं दायव्वं जाव सिरेणं फुसे
पाए त्तिवक्ष्यमाणवचनात् 'संफासं खामेमि खमासमणो देवसियं वइक्कमं' चेति वदन् शिरसा गुरुपादौ स्पृशति। अत्र

सूत्रस्पर्शिगाथा 'इच्छा'

**इच्छा य अणुन्नवणा, अव्वाबाहं च जत्त जवणा य। अवराहखामणावि य, छट्ठाणा हुंति वंदणए ॥१२२३॥**

इच्छा वन्दनेच्छा १, अनुज्ञापना अवग्रहार्थं २, अव्याबाधं गुरुं प्रति अव्याबाधपृच्छा ३, यात्रा तपोनियमादिरूपा ४, यापना इन्द्रियरूपा ५, अपराधक्षामणा ६ षट्स्थानानि षडधिकारा यथा प्राग्दर्शितानि ॥ १२२३ ॥ तत्रेच्छा षड्विधा 'नामं'

**नामं ठवणादविए, खित्ते काले तहेव भावे य। एसो खलु इच्छाए, णिक्खेवो छव्विहो होइ ॥१२२४॥**

द्रव्येच्छा सचित्तादिद्रव्याभिलाषः, क्षेत्रेच्छा भरतादेः, कालेच्छा निशादेः, भावेच्छा शस्ता ज्ञानादेः अशस्ता अज्ञानादेः। अत्र शिष्यशस्तभावेच्छयाऽधिकारः, क्षमादीनां गाथानुक्तपदानां निक्षेपः स्वयं ज्ञेयः। द्रव्यक्षमा पशूनां, द्रव्यश्रमणास्तापसाद्याः द्रव्ययापनीयता नीरोगलोकस्य, द्रव्यनैषेधिकी गृहं (शरीरं)। इह तु भावक्षमया भावश्रमणेन भावयापनीयतया द्रव्यभावनैषेधिक्या वाधिकारः 'दव्वनिसीहिया सरीरं भावनिसीहिया निसेहकिरिया' ॥ १२२४ ॥ 'नामं'

**नामं ठवणा दविए, खित्ते काले तहेव भावे य। एसो उ अणुण्णाए, णिक्खेवो छव्विहो होइ ॥१२२५॥**

द्रव्यानुज्ञा लौकिकी लोकोत्तरा कुप्रावचनिकी च एकैका त्रिधा सचित्तमिश्राचित्तभेदा। लौकिकी अश्वभूषितस्त्री, मण्यादिनामनुज्ञा लोकोत्तरा केवलशिष्य १ सोपधिशिष्य २ वस्त्राद्यनुज्ञा ३। एवं कुप्रावचनिक्यपि त्रेधा यथा तेषां मते

तिलादिसचित्तादिद्रव्यानुज्ञाऽस्ति । क्षेत्रकालानुज्ञे स्पष्टे । भावे आचाराद्यनुज्ञा, इह भावानुज्ञयाधिकारः ॥ १२२५ ॥ अथ गाथानुक्तस्याप्यवग्रहस्य निक्षेपः 'णामं'

**णामं ठवणा दविए, खित्ते काले तहेव भावे य। एसो उ उग्गहस्सा, णिक्खेवो छव्विहो होइ॥१२२६॥**

द्रव्ये सचित्तादिद्रव्यावग्रहः सचित्तादिद्रव्याणां प्रमाणेन मर्यादा । क्षेत्रे ४ दिक्षु सक्रोशं योजनं, काले वर्षासु चत्वारो मासाः, ऋतुबद्धे मासः, भावे शस्तो ज्ञानादेर्मर्यादापालनं, अशस्तः क्रोधादेरवग्रहणं । यद्वा 'देविंदरायगिहवइ, सागारिसाधम्मिउग्गहो तह य । पंचविहो पण्णत्तो, अवग्गहो वीयरागेहिं' ॥ १ ॥ देवेन्द्रोऽत्र सौधर्म्मेन्द्रः धर्म्मं कुर्व्वतामाद्योऽस्यावग्रहः मर्यादापालनं १ ततो राजा चक्र्यादिः २ गृहपतिर्ग्रामेशः ३ सागारिको गृहेशः ४ साधर्म्मिकोऽग्रे वसतिस्थः साधुः ५ अत्र ज्ञानदर्शनादिभावावग्रहेण साधर्मिकावग्रहेण चाधिकारः 'आयप्पमाणमित्तो चउदिसिं होइ उग्गहो गुरुणो । अणणुण्णातस्स सया न कप्पए तत्थ पइसरिउं' ॥ २ ॥ गुरोरूर्ध्वस्थस्य निविष्टस्य वात्मप्रमाणमात्रोवग्रहश्चतुर्दिक्षु स्यात् । अननुज्ञातस्यानुज्ञारहितस्य ॥ १२२६ ॥ अत्र निर्युक्तिकारः 'बाहि'

**बाहिरखित्तंमि ठिओ, अणुन्नवित्ता मिउग्गहं फासे । उग्गहखेत्तं पविसे, जाव सिरेणं फुसइ पाए ॥**

वन्दको बहिःक्षेत्रे स्थितोऽनुज्ञाप्य मितावग्रहं स्पृशेत् रजोहरणेन प्रमृज्यावग्रहक्षेत्रं प्रविशेत् । कियद्दूरमित्याह—यावति क्षेत्रे स्थितः शिरसा स्वमौलिना गुरुपादौ 'संफासं खामेमि खमासमणो देवसियं वइक्कमं' वदन् पाष्ण्यर्नुत्पातेन स्पृशेत्'

॥ १२२७ ॥ ‘ अव ’

**अव्वाबाहं दुविहं, दव्वे भावे य जत्त जवणा य। अवराहखामणावि य, सवित्थरत्थं विभासिज्जा ॥१२२८॥**

अव्याबाधं द्विधा द्रव्यतो घातादिपीडारहितस्य। भावतोऽनतिचारित्रस्य। संयमयात्रापि द्रव्यतस्तापसादेर्मिथ्यादृक्त्वात्, भावत उपयुक्तसाधोर्यापनापि द्रव्यतोऽगदादिना, भावत इन्द्रियमनउपशमेन, क्षामणा द्रव्यतः कलुषाशयस्य भावतः संविग्नसम्यग्दृष्टेःयात्रादयोऽप्ययुक्तयुक्त्या द्विधा स्युः तेषां सविस्तरार्थं विभाषते ॥१२२८॥ अथ वन्द्यगतं विधिं निर्युक्तिकृदाह ‘छंदे’

**छंदेणऽणुजाणामि, तहत्ति तुज्झंपि वट्टई एवं। अहमवि खामेमि, तुमे वयणाइं वंदणारिहस्स ॥१२२९॥**

वन्दनार्हस्य साधोर्वचनानि प्राग् यथास्थानव्याख्यातानि ॥ १२२९ ॥ ‘ तेण ’

**तेणावि पडिच्छियव्वं, गारवरहिएण सुद्धहियएण। किइकम्मकारगस्सा, संवेगं संजणंतेणं ॥१२३०॥**

तेन कारयित्रापि वन्दनकं प्रत्येष्टव्यं स्वीकार्यं गर्वरहितेन, यच्चूर्णौ ‘ तेण आयरिएण उक्कुडुएणं अंजलिमउलियहत्थेणं वंदेणे पएय उवउत्तेणं अव्वग्गमणेणं पुण्णाए सरस्सइए अणुभासियव्वं । जधा ( तस्स ) सीसस्स संवेगो भवति । संवेगो नाम मोक्षोत्कण्ठा ‘ संवेगाओ विउलं निज्जराफलं ’ति ॥ १२३० ॥ अथ चालना ‘ आव ’

**आवत्ताइसु जुगवं, इह भणिओ कायवायवावारो। दुण्हेगया व किरिया, जओ निसिद्धा अउ अजुत्तो ॥**

१. मुद्रितचूर्णौ वंजणे पादे य ।

आवर्त्तादिशब्दादावश्यकेषु युगपत्कायवाग्व्यापारो भणितः, परं द्वयोः कायवाचोरेकदा वन्दनक्रिया निषिद्धा, 'जुगवं दो नत्थि उवओगा' इति वचनादतोऽयुक्तोऽयं व्यापारः ॥ १२३१ ॥ अथ प्रत्यवस्थानं 'भिन्न'

**भिन्नविसयं निसिद्धं, किरियादुगमेगया ण एगंमि। जोगातिगस्स वि भंगिय, सुत्ते किरिया जओ भणिया ॥**

पृथग्वस्तुविषयं क्रियाद्वयं एकदा निषिद्धं नैकस्मिन् वस्तुनि, एकवस्तुविषयानुयोगत्रयक्रियाप्यविरुद्धा, यतः यस्मिन् सूत्रे भङ्गा व्याख्यायन्ते 'दुविहं दुविहेणमि'त्यादिवत् तस्मिन् भङ्गिके श्रुते व्याख्यायमाने योगत्रिकस्यापि क्रिया भणिता। द्विकसंयोगादिभङ्गकदर्शनार्थमक्षांगुल्यादिचालनात्कायव्यापारोऽपि। अन्ये त्वाहुः एकस्मिन् समये क्रियाद्विके उपयोगो निषिद्धो न पुनः क्रियामात्रं यतो 'जोगतिय' 'भंगियसुयं गुणंतो वट्टइ तिविहेवि झाणम्मि' तत्र मनोवाग्व्यापारौ स्पष्टौ। यस्से'त्यादि ॥ १२३२ ॥ 'सीसो'

**सीसो पढमपवेसे, वंदिउमावास्सिआए पडिक्कमिउं। बितियपवेसंमि, पुणो वंदइ किं चालणा अहवा ॥**

वन्दित्वाऽऽवश्यिकया प्रतिक्रम्यावग्रहान्निःसृत्य द्वितीयप्रवेशे ततः किं वन्दते ? उच्यते ॥ १२३३ ॥ 'जह'

**जह दूओ रायाणं, णमिउं कज्जं निवेइउं पच्छा। वीसज्जिओवि वंदिय, गच्छइ साहूवि एमेव ॥१२३४॥**

यथा दूतो राजानं नत्वा कार्यं निवेद्य विसृष्टोऽपि वन्दित्वा गच्छति एवमेव साधुरपि प्रथमं वन्दित्वाऽपराधं क्षामयित्वा पुनर्वन्दते। परं अखण्डसूत्रत्वात्सर्वमावश्यिकया हीनं गुरुपादपतित एव भणति ॥ १२३४ ॥ 'एयं'

**एयं किइकम्मविहिं, जुंजंता चरणकरणमुवउत्ता। साहू खवंति कम्मं, अणेगभवसंचियमणंतं ॥१२३५॥**

स्पष्टा ॥ १२३५ ॥ एवं दिवसओ वंदणगविधाणं भणितं। रत्तिमादिसुवि जेसु ठाणेसु दिवसग्गहणं तत्थ राइगाईवि भाणितवा। पादोसिए जाव पोरिसी न उग्घाडेति ताव देवसियं भणति। पुवण्हे जाव पोरिसी न उग्घाडेति ताव राइयं ति। उक्तोऽनुगमो, नयः प्राग्वत्।

॥ इति समाप्तं वन्दनाध्ययनं ॥

अथ प्रतिक्रमणाध्ययनं, यतः सामायिकव्यवस्थितेन यथा पत्तकालं उक्कित्तणादीणि अवस्स कायवाणि। एवं कचित् स्खलितेन निंदणअपुणकरणादीणिवि अवस्सकायवाणीति पडिक्कमणस्सज्झयणं भन्नइ 'पडि'

**पडिकमणं पडिकमओ, पडिकमियवं च आणुपुवीए। तीए पच्चुपन्ने, अणागए चेव कालंमि ॥१२३६॥**

प्रमादवशात् परं स्थानमशुभयोगं गतस्य प्रतीपं प्रतिकूलं क्रमणं स्वस्थानकस्य शुभयोगस्य प्राप्तिः प्रतिक्रमणं, उक्तं च 'स्वस्थानाद्यत्परस्थानं प्रमादस्य वशाद्गतः। तत्रैव क्रमणं भूयः प्रतिक्रमणमुच्यते' ॥१॥ तच्च प्रतिक्रमणं क्रिया १, प्रतिक्रामकः कर्त्ता २ प्रतिक्रमितव्यं अशुभयोगकर्म्मरूपं कर्म्म ३ एतत्त्रयमानुपूर्व्या परिपाट्यातीते प्रत्युत्पन्नेऽनागते चैव काले योज्यमिति वाक्यशेषः। 'ननु तीयस्स पडिक्कमणमि'त्यतीतकालविषयं प्रतिक्रमणं त्रिकालविषयं कथं स्याद्? उच्यते प्रतिक्रमणशब्दो ह्यत्राशुभयोगनिवृत्तिमात्रार्थः, स च त्रिकालविषयोऽपि स्यात् ॥ १२३६ ॥ 'जीवो'

**जीवो उ पडिक्कमओ, असुहाणं पावकम्मजोगाणं । झाणपसत्थाजोगा, जे ते ण पडिक्कमे साहू ।१२३७।**

इह चूर्णौ 'पडिकमओ पडिकमणं इति क्रमोऽस्ति, ततो निर्युक्तावप्येवं व्याख्याक्रमो यद्वा प्रतिक्रमणस्य प्रतिक्रामकाधीनत्वाद्वादौ प्रतिक्रामकव्याख्या—जीवस्त्वशुभानां पापकर्म्मयोगानां प्रतिक्रामकः, तुः विशेषार्थः, न सर्वोऽपि किन्तु सम्यग्दृग् उपयुक्तश्च । ध्यानं शुभध्यानं, प्रशस्तौ योगौ शुभवचःकायौ । ततो ये ध्यानप्रशस्तयोगास्तान् न प्रतिक्रामेत् तेभ्यो न निवर्त्तेत साधुः ॥ १२३७ ॥ उक्तः प्रतिक्रामकः द्वा० १ । अथ प्रतिक्रमणद्वारं २ 'पडि'

**पडिकमणं पडियरणा, परिहरणा वारणा नियत्ती य । निंदा गारिहा सोही, पडिकमणं अट्ठहा होइ ॥**

एतेऽष्टौ प्रतिक्रमणपर्यायाः ॥ १२३८ ॥ 'णामं ठवणा दविए, खित्ते काले तहेव भावे य । एसो पडिकमणस्सा, णिक्खेवो छव्विहो होइ' ॥ १ ॥ द्रव्यप्रतिक्रमणमनुपयुक्तस्य, उपयुक्तस्य लब्ध्याद्यर्थं निह्नवस्य वा, पुस्तकादिन्यस्तं वा । क्षेत्रप्रतिक्रमणं यत्र क्षेत्रे क्रियते वर्ण्यते वा । कालप्रतिक्रमणं द्विधा ध्रुवं अध्रुवं च । तत्र ध्रुवं भरतैरवतेष्वाद्यान्त्यार्हत्तीर्थेषु अपराधो भवतु मा वा ध्रुवं द्विकालमवश्यकार्यत्वात् । अध्रुवं मध्यमार्हत्तीर्थे विदेहेषु च कारणे जाते क्रियमाणत्वात् । भावप्रतिक्रमणं द्विधा प्रशस्तं चाप्रशस्तं च, शस्तं मिथ्यात्वादेरुपयुक्तस्य च, अशस्तं सम्यक्त्वादेः १ । 'णामं ठवणा दविए, खित्ते काले तहेव भावे य । एसो पडियरणाए, णिक्खेवो छव्विहो होइ' ॥ २ ॥ प्रतिचरणा प्रमादात्पततः संयमस्य शुश्रूषा, द्रव्यतो देहादेः, क्षेत्रतः शालिक्षेत्रादेः, कालतः प्रादोषिककालादेः, भावतः शस्ता सम्यक्त्वादेरशस्ता मिथ्यात्वादेः २ । 'णामं ठवणा

दविए, परिरय परिहार वज्जणाए य। अणुगह भावे य तहा, अट्ठविहा होइ परिहरणा' ॥ ३ ॥ परिहरणाऽशुभयोगत्यागः, परिरयः परितो भ्रमस्तेन परिहरणं, यथा नदी उच्चस्थानं परिरयेण परिहृत्य याति। परिहारतः परिहरणा, लौकिक्यगम्यतया मात्रादेः, लोकोत्तरा पार्श्वस्थादेः वर्जनातः। लौकिकीत्वरा सूतकादेः, यावज्जीवा तु डोम्बादेः, लोकोत्तरा इत्वरा शय्यातर-पिण्डादेः, यावज्जीवा तु राजपिण्डादेः। अनुग्रहतः खिलभूभञ्जकनव्यस्थानवासकादिषु राजदेयभागादेः परिहरणा[1] भावतः अशस्ता क्षमादेः शस्ता क्रोधादेः ३। गाथा पञ्च–'णामं ठवणा दविए, खित्ते काले तहेव भावे य। एसो उ वारणाए, णिक्खेवो छव्विहो होइ ॥ ४ ॥ णामं ठवणा दविए, खित्ते काले तहेव भावे य। एसो उ नियत्तीए, णिक्खेवो छव्विहो होइ ॥ ५ ॥ णामं ठवणा दविए खित्ते काले तहेव भावे य। एसो खलु निंदाए, णिक्खेवो छव्विहो होइ ॥ ६ ॥ नामं ठवणा दविए, खित्ते काले तहेव भावे य। एसो खलु गरिहाए, णिक्खेवो छव्विहो होइ ॥ ७ ॥ नामं ठवणा दविए, खित्ते काले तहेव भावे य। एसो खलु सुद्धीए, निक्खेवो छव्विहो होइ' ॥ ८ ॥ वारणा निषेधः द्रव्ये तापसादीनां हलकृष्टान्नादेः। क्षेत्रे अयोग्यग्रामादेः, काले वर्षासु विहारस्य, भावे प्राग्वत्। एवं निवृत्तिनिन्दागर्हाशोधिगाथा अपि ज्ञेयाः, परं निवर्त्तनं निवृत्तिः, आत्मसाक्षिकी निन्दा, परसाक्षिकी गर्हा, निर्मलीकरणं शोधिः कालशोधिस्तु शंखादिना कालः शोध्यते। एभिः प्रशस्तैर्भावतश्चेहाधिकारः प्रति-चरणादीनामपि प्रतिक्रमणपर्यायता तत्त्वतोऽशुभयोगनिवृत्तिरूपत्वात्, क्षेपकगाथा[2] एताः ८। क्रमादेषां दृष्टान्ताः 'अद्धा'

१. हारि० वृत्तौ अरकोडभंगपरिहरणा। २. अत्र क्षेपकगाथात्वेन लिखिताः किन्तु हारि० वृत्तौ निर्युक्तिगाथात्वेन दर्शिताः।

अद्धाणे पासाए[2], दुद्धकाय[3] विसभोयणतलाए[4]। दो कन्नाओ[5] पइमारियाँ[6], य वत्थे य अगए य ॥ १२३९ ॥

अध्वनि–नृपप्रासादार्थदत्तमूत्रान्तर्गच्छतोर्ग्राम्ययोर्मध्ये राजादेशान्निषिद्धेऽप्येकोऽवलमानो हतोऽन्यस्तु तैरेव पदैर्वलमानो मुक्तः सुखी चाऽभूत्। एवमसंयमाज्जिनाज्ञया प्रतिक्रामन् साधुरपि शिवभाक् स्यात्। १। प्रासादः–एको धनी रत्नभृतं सौधं पत्न्याः सम्भाल्य यात्रां गतस्तया स्वाङ्गशुश्रूषाद्यासक्त्या अशुश्रूषितं तत्पपात। भर्ता त्वागतस्तत्तथा वीक्ष्य तां निर्वास्याऽन्यत्सौधं अन्यां भार्यां च कृत्वा सौधशिक्षां तस्यै दत्वा पुनर्गतः आयातश्च स्वसौधं दृष्ट्वा तां सर्वस्वस्वामिनीं चक्रे। एवं शिष्योऽपि गुर्वादिष्टं संयमं प्रतिचरन् सुखी स्यात् २। दुग्धकाये दुग्धघटकापोत्यां–एकस्यैका सुता द्वे भगिन्यौ ते, च स्वस्वपुत्रार्थं भ्रातृपुत्रीयाचनाय तत्पार्श्वमागते। तेन च परीक्ष्य दास्ये इति भागिनेययोर्गोकुलाद् दुग्धानयनाय कापोत्यौ दत्ते घटौ भृत्वा चलितौ। एकः शीघ्रगमनाय विषमेऽप्यासन्नमार्गे आगच्छन् घटौ बभञ्ज, स च तिरस्कृतोऽन्यो वक्रेऽपि समेऽध्वनि क्षेमेणागतः स कन्यां विवाहितः। एवं यतिक्रियास्वौत्सुक्यप्रमादं परिहरन् द्रव्यक्षेत्रादिभिरर्हदादिष्टमखण्डचारित्रदुग्धमविराधयन् सिद्धिं लभते ३। विषभोजनतटाके–परचक्रागमं श्रुत्वा राजाऽन्नफलतडागेषु विषं क्षिप्त्वा नष्टो विषं ज्ञात्वा जना आगन्तुकराज्ञा निषिद्धाः, यैर्भुक्तानि ते मृताः, यैर्वारणा मेने विरसाहारैः सन्तोषः कृतस्ते सुखिनो जाताः। एवमर्हद्वारिताहाराशिनोऽन्ये च ४। 'दो कन्नाउ'त्ति निवृत्तिनिन्दयोर्द्वे कन्ये दृष्टान्तौ–तत्राद्यकन्यादृष्टान्तः–कोलिकगृहे धूर्तो वसन् सुस्वरं गायति। तत्सुता धूर्तासक्ताऽभूत्, तेनोक्तं नश्यते सोचे राजपुत्र्या सहैकभर्तृत्वे संकेतोऽस्ति। तया ज्ञापितं। साऽपि महत्प्रत्युपेऽचलत्तदा केनापि गीतं 'जइ फुल्ला कणियारया चूयय! अहिमासम-

६

यंमि घुट्ठंमि । तुह न खमं फुल्लेउं जइ पच्चंता करिति डमराइं' ॥ १ ॥ यदि चैत्रद्वयं भणित्वाधिकमासके चैत्रे घुष्टे आद्यचैत्रे कुत्सिताः कर्णिकाराः कर्णिकारका वृक्षविशेषाः फुल्लाः पुष्पिताः तथापि हे चूत! तव न क्षमं न युक्तं पुष्पितुं । यदि प्रत्यन्ता नीचा डमराण्यशुभानि कुर्वन्ति, तत् किं त्वयापि कर्त्तव्यानि, नैवेति भावः । तच्छ्रुत्वा राजकन्या दध्यौ एष चूतो वसन्तेनोपालब्धः । इयं ममैव शिक्षेति मिषान्तरान्निवृत्ता सा च गोत्रिभयात्तत्रागतस्य सामन्तभूपसुतस्य दत्ता। तेन च राजबलाद्राज्यं चालितं सा च महिषी कृता। कोलिककन्या पित्रा ज्ञाता बलादानीय दुःखे क्षिप्ता। एवं साधुर्विषयेच्छुर्गुरुगिरा निवृत्तः श्रीभाक् स्यात् । द्रव्यभावनिवृत्तौ पुनरन्यो दृष्टान्तः—क्वापि गणे साधुः प्राज्ञः पाठ्यमानः कर्म्मोदयाद्गच्छान्निर्यामि दीक्षां त्यजामीति गच्छन् गीतिं शुश्राव 'तरियव्वा य पइण्णा मरियव्वं वा समरे समत्थएणं। असरिसजणउल्लावा, न हु सहियव्वा कुलपसूयएणं' ॥ १ ॥ असदृशजनोल्लापा न सोढव्याः, अस्यायं भावः—के भटा रणे भज्यमानाः शूरस्तोभिताः (स्खलिताः) प्रतिनिवृत्ताः सौजसोऽरीन् अभञ्जन्, ते च राज्ञाऽर्चिताः। इयं द्रव्यतो निवृत्तिरस्माच्च गीत्यर्थात्साधुर्निवृत्त्यालोच्य प्रतिक्रान्तो गुरुणाऽर्चितः ५। निन्दायां—द्वितीया कन्या चित्रकरदारिका सा राज्ञाऽर्चिताऽपि स्वकुलार्हवस्त्राण्यन्वहं परिधाय स्वं निनिन्द । द्वावपि राजा राज्ञी च राज्यं प्रपाल्य महाशुक्रे पुष्पोत्तरविमानं गतौ । राजा नगातिः प्रत्येकबुद्धोऽभूत् । सा तु विद्याधरी जाता, प्रव्रज्य सिद्धौ । एवं भावेऽपि साधुनात्मा निन्द्यः—आत्मन्! अधुना रत्नत्रयमाप्तं जनार्च्योऽभूस्तथापि मा गर्वः कार्यः ६ । गर्हायां पतिमारिका—यथा विप्रोऽध्यापकस्तत्पत्नी तरुणी बलिं कुर्वन्त्याह अहं काकेभ्यो बिभेमि । ततो द्विजोक्ताश्छात्रा वारकेण रक्षन्ति । एकश्छात्रोऽसतीति ज्ञात्वा तस्याः स्वरूपं वीक्षते। अन्यदा सा रेवापरतटस्थगोपासक्ता घटेन नर्मदां तरन्ती चौरमेकं सुसुमारग्र-

स्तांह्रि मुसुमाराक्षिपिधानान्मोचयित्वा किं कुतीर्थे उत्तीर्ण इत्याख्यच्चटश्च तज्ज्ञात्वा निवृत्तः। द्वितीयेऽह्नि बलिक्षणे चट्टोऽवक् 'दिवा कागाण बीहेसि, रत्तिं तरसि नम्मयं। कुतित्थाणि य जाणासि, अच्छीणं ढंकणाणि य'। १। ततः सा तद्भजनाय द्विजं हत्वा मुण्डे क्षिप्त्वाऽटव्यां त्यजन्ती देव्या मुण्डे स्तम्भिते क्षुधार्त्ता वैराग्याल्लोकान् वक्ति–पतिमारिकाया भिक्षां दत्तेति साध्वीर्दृष्ट्वा नत्वा मुण्डे पतिते दीक्षिता। एवं दुश्चीर्णं गर्ह्यं ७। शोधौ वस्त्रागदौ दृष्टान्तौ–श्रेणिकेन क्षौमद्वयं रजकस्यार्पितं। तच्च कौमुद्युत्सवे तत्पत्नीभ्यां परिहितं ताम्बुललिप्तं। श्रेणिकेन छन्नं भ्रमता दृष्टं। रजकेन संशोध्य राज्ञोऽर्पितं, राज्ञा पृष्टो रजकः सत्योक्त्या मानितः एवं साधुनापि स्वदोष आलोच्य शोध्यः ८। अगददृष्टान्तो नमस्कारनिर्युक्तौ 'अगए गणियाय रहिए य' इत्युक्तो ज्ञेयः। एवं साधुनापि निन्दाऽगदेन दोषविषमुत्सार्यं ॥ १२३९ ॥ अथ शोधिविधिमाह 'आलो०'

**आलोयणमालुंचन, वियडीकरणं च भावसोही य। आलोइयंमि आराहणा, अणालोइए भयणा ॥१२४०॥**

यथा मालिको वाट्यां त्रिसन्ध्यं अवलोकनं कुर्यात् किं पुष्पाणि सन्त्युत न दृष्ट्वा लुञ्चनं आदानं कुर्यात्। ततो विकटीकरणं स्मेरमुकुलार्द्धमुकुलानां विभजनं चशब्दाद्ग्रन्थनं कुर्यात्। ततो विक्रयादिष्टार्थाप्त्या भावशुद्धिश्चित्तप्रसादरूपा स्यात्। एवं साधुः कृतोपधिप्रत्युपेक्षणादिव्यापार उच्चारादिभूमीः प्रत्युपेक्ष्य प्रतिक्रमणकाले सामायिकसूत्रमुच्चार्य कायोत्सर्गस्थः सूत्रं स्मरति। यदा तु गुरुः कायोत्सर्गे तिष्ठति तदा प्रातस्त्यमुखवस्त्रिकाप्रत्युपेक्षणादिष्वारब्धकायोत्सर्गान्तेषु साधुकृत्येष्वतीचारालोकनं कुर्यात् पश्चादालुञ्चनं स्पष्टधियाऽपराधग्रहणं। ततो विकटकरणं गुरुलघूनामपराधानां विभजनं चशब्दात् प्रतिसेवनानुलोमेन ग्रन्थनं। ततः कायोत्सर्गं पारयित्वा वन्दित्वा चाल्पस्वरं गुरोर्वक्ति एवं भावशुद्धिः स्यात्। इत्थमालोचिते आराधना मोक्ष-

मार्गाऽखण्डना स्यात्। अनालोचिते भजना [ समर्थना आराधना नैवेति ] ( विकल्पना )। तथा 'आलोयणापरिणओ, सम्मं संपट्ठिओ गुरुसगासं। जइ अंतरावि कालं करिज्ज आराहओ तहवि' ॥ १ ॥ आलोचनायां परिणतः परिणामवान् सम्यक् गुरुसकाशं गन्तुं प्रस्थितश्चलितो यद्यन्तरा कालं कुर्यात्, यत आलोचनार्थे सप्तयोजनशतानि गम्यं, द्वादशवर्षाणि प्रतीक्ष्यं। परं सम्पूर्णछेदपदज्ञस्य गीतार्थस्यैवान्ते आलोच्यं, अभावे सिद्धसाक्षि शासनसुरीसाक्षि च। 'इड्ढीए गारवेणं बहुस्सुयमएण वावि दुच्चरियं। जो न कहेइ गुरूणं, न हु सो आराहओ भणिओ' ॥ २ ॥ ऋद्ध्या आचार्यादिसम्बन्धिन्या, गौरवेण ( स्वसुखकृत्वादालोच्यपदस्य सुखरसप्राप्तिरूपगौरवाभ्यां ? ) ॥ १२४० ॥ एवं द्विसन्ध्यं साधुना शुद्धिः सदा कार्या। यतः 'सप'

**सपडिक्कमणो धम्मो, पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स। मज्झिमयाण जिणाणं, कारणजाए पडिक्कमणं।**

पूर्वस्य पश्चिमस्य च जिनस्य सप्रतिक्रमणो धर्मो यतिना गमागमादौ उच्चारादित्यागे द्विसन्ध्यं चातीचारे जातेऽजाते वाऽवश्यं प्रतिक्रमितव्यं। यतः 'पुरिमा उज्जुजडा पच्छिमा वक्कजडा पमायबहुला य'। मध्यमानां जिनानां तीर्थे कारणेऽतिचारे जाते सति प्रतिक्रमणं नान्यथा 'जेण ते असढा पण्णावंतो परिणामगा न य पमायबहुला' ॥१२४२॥ तदेवाह 'जो'

**जो जाहे आवन्नो, साहू अन्नयरयंमि ठाणंमि। सो ताहे पडिक्कमई, मज्झिमयाणं जिणवराणं॥ १२४२ ॥**

यः साधुः यदा पूर्वाह्णादौ आपन्नः प्राप्तोऽन्यतरस्मिन् हिंसादौ स्थाने स तदैव तस्य स्थानस्यैकाकी गुर्वध्यक्षं च प्रतिक्रामेत् ॥ १२४२ ॥ इहान्यमपि भेदमाह 'बावी'

बावीसं तित्थयरा, सामाइयसंजमं उवइसंति। छेओवट्ठावणयं पुण, वयन्ति उसभो य वीरो य ॥१२४३॥
बावीसं तित्थयरा, सामाइयसंजमं उवइसंति। छेओवट्ठावणयं पुण, वयन्ति उसभो य वीरो य ॥१२४३॥

सामायिकसंयमं व्यपदिशन्ति, कोऽर्थः तेषां सामायिकादानक्षणे एव व्रतेषु स्थाप्यते। 'छेओ' पूर्वपर्यायछेदेन व्रतानामु-
पस्थापना छेदोपस्थापनं द्वितीयचारित्रं ऋषभवीरौ वदतः। तयोस्तीर्थे हि दीक्षितः शस्त्रपरिज्ञाध्ययनावगमं यावत् सामा-
यिकसंयतः। एवं प्रागभूदधुना तु षड्जीवनिकाध्ययनस्य सूत्रार्थाभ्यामवगमेन सम्यगपराधस्थानानि त्यजन् व्रतेषु स्थाप्यते
इति निरतिचारः। सातिचारः पुनर्मूलप्रायश्चित्तं प्राप्त उपस्थाप्यते। अन्योऽप्ययं भेदः सामायिकसंयता हि मध्यमार्हतां विदेहा-
र्हतां च मुनयस्ते चतुर्षु स्थिताः, यथा 'सिज्जायरपिंडे य १ चाउज्जामे य २ पुरिसजिट्ठे य ३। किइकम्मस्स य करणे ४, चत्तारि
अवट्ठिया कप्पा'। तेषां शय्यातरपिण्डो वर्ज्यः १, चतुर्यामो धर्म्मः २, पुरुषज्येष्ठो धर्म्मः ३, पर्यायज्येष्ठानां कृतिकर्म्मणो वन्दनस्य
करणं ४, एते चत्वारः कल्पाः सामाचार्योऽवस्थिता निश्चिता एव। तथा 'आचेलुक्कु १ देसिय २ सपडिक्कमणे य ३ राय-
पिंडे य, ४। मासं ५ पज्जोसवणा ६ छप्पेएणवट्ठिया कप्पा'। षडप्येते कल्पा अनवस्थिता अनिश्चिताः कदापि स्युर्नवेत्यर्थः।
तत्र 'आचेलुक्कित्ति' अचेलकत्वं अवस्त्रत्वं, यदि वस्त्रोपरि राग उत्पद्यते तदाऽचेला एव स्युर्यदि रागो न जायते तदा बहुमूल्यानि
मानाधिकानि विचित्राण्यपि वस्त्राणि गृह्णन्ति। १। तथा औद्देशिकं तस्यार्थे कृतं न कल्पते अन्यार्थे कृतं तु कल्पते। २।
अतीचारे सति सप्रतिक्रमणा अन्यथा त्वप्रतिक्रमणा। ३। दोषभावे राजपिण्डं त्यजन्ति निर्दोषं तु गृह्णन्ति। ४। दोषभावे
मासकल्पमध्येऽपि यान्ति निर्दोषत्वे तु चिरमपि तिष्ठन्ति। ५। पर्युषणा वर्षासु अवस्थानं तच्च विराधनासम्भवे स्यान्नान्यथा
। ६। छेदोपस्थापनिकास्तु भरतैरवतयोराद्यान्त्यार्हन्मुनयस्ते दशविधे कल्पेऽवस्थिता एव। यथा 'आचेलुक्कु १ देसिय २

सिजायर ३ रायपिंड ४ किइकम्मे । ५ वय ६ जिट्ठ पडिकमणे ८ मासं ९ पज्जोसवण १० कप्पे ' । तेषामचेलत्वं निःकारणे श्वेतमानोपेतपाटलिपुत्रीयरूपकाष्टादशहीनमूल्यवस्त्रपरिभोगेन, क्षेत्रकालापेक्षया तु कृत्स्नवस्त्रपरिभोगेऽप्यचेलता १ । औद्देशिक २ शय्यातर ३ राजपिण्डानां त्यागः ४ कृतिकर्म्म ज्येष्ठक्रमेण ५ व्रतानि पञ्च ६ पुरुषो ज्येष्ठः ७ प्रतिक्रमणं द्विसन्ध्यं ८ मासकल्पस्थितिः ९ वर्षासु पर्युषणाप्रतिक्रमणादनु स्थानमेव १० ॥ १२४३ ॥ ' पडि '

**पडिकमणं देसियं, राइयं च इत्तरियमावकहियं च । पक्खियचाउम्मासिय, संवच्छर उत्तिमट्ठे य १२४४**

प्रतिक्रमणं द्विधा इत्वरं यावत्कथिकं च । तत्राद्यं दैवसिकं रात्रिकं पाक्षिकं चातुर्मासिकं सांवत्सरिकं च । द्वितीयं महाव्रतादि । उत्तमार्थेऽनशने च प्रतिक्रमणं । निवृत्तिरूपत्वात्सर्वेषां प्रतिक्रमणत्वं । दैवसिकरात्रिकाभ्यां शोधितेऽपि पाक्षिकादि किमिति ? उच्यते ' जह गेहं पइदियहंपि, सोहियं तहवि पक्खसंधीए । सोहिज्जइ सविसेसं, एवं इहयंपि णायव्वं ' ॥ १ ॥ यथा गृहं प्रतिदिवसमपि शोधितं प्रमार्जितं पक्षसन्धिषु सविशेषं शोध्यते प्रमार्ज्यते एवमिह प्रतिक्रमणेऽपि ज्ञातव्यं ॥ १२४४ ॥ यावत्कथिकमाह ' पंच '

**पंच य महव्वयाइं, राईछट्ठाइ चाउजामो य । भत्तपरिण्णा य तहा, दुण्हंपि य आवकहियाइं ॥१२४५**

आद्यान्त्यार्हतोः पञ्चमहाव्रतानि रात्रिभुक्तिविरतिषष्ठानि, चातुर्यामो मध्यमार्हतां । भक्तपरिज्ञा चानशनं द्वयेषामपि आद्यान्त्यार्हतोर्मध्यमानां यावत्कथिकानि यावज्जीवपाल्यानि ॥ १२४५ ॥ पुनरित्वरमाह ' उच्चा '

**उच्चारे पासवणे, खेले सिंघाणए पडिक्कमणं। आभोगमणाभोगे, सहस्सकारे पडिक्कमणं ॥ १२४६ ॥**

पुरीषे, प्रश्रवणे मूत्रे, खेले कफे, सिंघाने नासिकोत्थे मले त्यक्ते सति प्रतिक्रमणं स्यात्। आभोगे अनाभोगे सहसाकारे च। एतदेव स्पष्टयति 'उच्चारं पासवणं, भूमीए वोसिरित्तु उवउत्तो। ऊसरिऊण य तत्तो, इरियावहिअं पडिकमई' ॥ १ ॥ उच्चारं प्रश्रवणं उपयुक्तोऽपि सन् व्युत्सृज्य तत 'ऊसरिऊण'त्ति अपसृत्य स्थानमागत्येर्यापथं प्रतिक्रमेत्। १। 'वोसिरइ मत्तगे जइ तो न पडिकमइ मत्तगं जो उ। साहू परिट्ठवेई नियमेण पडिकमे सो उ' ॥ २ ॥ यो मात्रके व्युत्सृजति निरोधं करोति स ईर्यापथं न प्रतिक्रमेत्। २। 'खेलं सिंधाणं वाऽपडिलेहिय अपमज्जिउं तह य। वोसिरिय पडिकमई, तं पिय मिच्छुक्कडं देइ' ॥ ३ ॥ खेलं सिंघानं जल्लं मलं अप्रत्युपेक्ष्याप्रमृज्य व्युत्सृज्य प्रतिक्रामेत्। तदपि कथं? 'मिच्छुक्कडं देइ' त्ति नत्वीर्यापथिकया इति वृद्धाः, चतुरङ्गुलादिभूमिच्छेदे ईर्यापथं प्रतिक्रामेत् प्रत्युपेक्षितादिविधौ तु मिथ्यादुःकृतं न दत्ते। ३। आभोगादित्रयं व्याख्याति 'आभोगे जाणंतेण, जोऽइयारो कओ पुणो तस्स। जायम्मिवि अणुतावे, पडिक्कमणेऽजाणया इयरो' ॥ ४ ॥ जानता योऽतीचारो विराधनारूपः कृतः स आभोगः, पुनस्तस्यातीचारस्यानुतापे पश्चात्तापे जाते सति प्रतिक्रमणं मिथ्यादुःकृतादिरूप स्यात्, इतर इत्यनाभोगोऽजानतातिचारः कृतस्तत्रापि प्रतिक्रमणं स्यात्। ४। 'पुव्विं अपासिऊणं, छूढे पायंमि जं पुणो पासे। ण य तरइ णियत्तेउं, पायं सहसाकरणमेयं' ॥ ५ ॥ पूर्वं अदृष्ट्वा पादे क्षिप्ते सति यत् पुनर्जीवं पश्यति निवर्त्तयितुं न च पादं शक्नोति एतत्सहसाकरणं सहसाकारः। ५। 'पडिलेहेउं पमज्जिय, भत्तं पाणं च वोसिरेऊणं। वसहिकयवरमेव उ, णियमेण पडिकमे साहू' ॥ ६ ॥ दृष्ट्वा भूमिं प्रतिलिख्य रजोहरणादिना प्रमृज्य

शुद्धं भक्तं पानं वसतिकचवरमेव व्युत्सृज्य नियमेन ईर्यापथं प्रतिक्रामेत् । ६ । 'हत्थ सया आगंतुं, गंतुं च मुहुत्तगं जहि चिट्ठे । पंथे वा वच्चंतो णदिसंतरणे पडिक्कमइ' ॥ ७ ॥ हस्तशतादागत्य गत्वा वा यत्र मुहूर्त्तं यावत्तिष्ठेत् । पथि वा व्रजन् नदीसंतरणे नद्युत्तारे ईर्यां प्रतिक्रामेत् ॥ १२४६ ॥ गतं प्रतिक्रमणद्वारं । प्रतिक्रन्तव्यं तु पञ्चधा 'मिच्छ'

**मिच्छत्तपडिक्कमणं, तहेव अस्संजमे पडिक्कमणं। कसायाणं पडिक्कमण, जोगाण य अप्पसत्थाणं ॥१२४७॥**

मिथ्यात्वं आभोगानाभोगसहसाकारैर्यत्सेवितं प्रज्ञप्तं वा तस्मात्प्रतिक्रमणं निवृत्तिः, एवं असंयमात् कषायेभ्योऽप्रशस्तयोगेभ्योऽपि प्रतिक्रमणं ॥ १२४७ ॥ 'संसा'

**संसारपडिक्कमणं, चउव्विहं होइ आणुपुव्वीए। भावपडिक्कमणं पुण, तिविहं तिविहेण नेयव्वं ॥१२४८॥**

पञ्चमं संसारप्रतिक्रमणं तच्चतुर्विधं चतुर्दुर्गतिहेतुभ्यो महारम्भादिमायित्वादिभ्य आभोगादिभिः कृतेभ्यः प्ररूपितेभ्यो वा प्रतिक्रमणं । 'भावपडि०' एतदनन्तरोक्तं पञ्चधा भावप्रतिक्रमणं ज्ञातव्यं । तत् पुनस्त्रिविधं त्रिविधेन ज्ञातव्यं, कथं ? 'मिच्छत्ताइ न गच्छइ, ण य गच्छावेइ णाणुजाणेई । जं मणवयकाएहिं, तं भणियं भावपडिक्कमणं' ॥१॥ यन्मनोवाक्कायैर्मिथ्यात्वादि न गच्छति यथा मनसा शाक्यादिधर्म्मं श्रद्धत्ते वाचा तं स्तौति कायेन तं सेवते । एवं 'न य गच्छावेइ' अन्यं मिथ्यात्वं न गमयतीत्यादि ॥ १२४८ ॥ इत्थं मिथ्यात्वादिविषयं भावप्रतिक्रमणमुक्तं । अत्र च भवमूलकषायाः ततस्तत्प्रतिक्रमण एव दृष्टान्तः । द्वौ मुनी मिथः प्रतिबोधसंकेतं कृत्वा स्वर्गतौ । तयोरेकः क्वापि पुरेऽपुत्रयोः श्रेष्ठिश्रेष्ठिन्योर्नागदेव्याराध-

नात्पुत्रोऽभूत् । स च द्वासप्ततिकलाज्ञोऽपि गान्धर्वकलयाऽहीन् खेलयन् गन्धर्वो नागदत्ताख्यो जातः । मित्रदेवेन बोध्यमानोऽपि नाबुध्यदन्यदा तेनोद्यानस्थेन देवोऽव्यक्तलिंगस्ससर्पकरण्डो गच्छंस्तेन किं करण्डेष्वित्युक्तोऽहीनाऽऽख्यत् । सोऽवग्मन्सर्पं रमस्वाहं त्वत्सर्पैं रमे, देवो रममाणो दष्टोऽपि न मृतोऽथ तं रिरंसुं तत्स्वजनान् संमील्य मण्डलं कृत्वा चतुर्दिक्षु करण्डान्मुक्त्वोचे 'गन्ध'

गन्धव्वनागदत्तो, इच्छइ सप्पेहि खिल्लिउं इहयं। तं जह कहिंवि खज्जइ, इत्थ हु दोसो न कायव्वो ॥१२४९॥

इह सर्प्पैः क्रीडितुं इच्छति, स यदि कदाचित्सर्पैः खाद्यते तत्र दोषो न देयः ॥१२४९॥ अथाऽहिमाहात्म्यमाह 'तरु'

तरुणदिवायरणयणो विज्जुलयाचंचलग्गजीहालो। घोरमहाविसदाढो, उक्का इव पज्जलियरोसो ॥१२५०॥

तरुणो नवो दिवाकरः सूर्यस्तद्वद्रक्ते नयने यस्य सः, विद्युल्लताचञ्चलाग्रजिह्वः । घोरा महाविषा दाढा यस्य उल्केव उल्काज्वालेव प्रज्वालितरोषः सन् भयङ्करः ॥ १२५० ॥ 'डक्को'

डक्को जेण मणूसो, कयमकयं न याणई सुबहुयंपि। अद्दिस्समाणमच्चुं,कह घिच्छसि तं महानागं ?॥१२५१॥

दष्टो येन मनुष्यः सुबह्वपि कृतमकृतं वा न जानाति । करण्डस्थत्वादयमदृश्यमानो मृत्युस्त्वं महानागं कथं ग्रहीष्यसि ॥ १२५१ ॥ एवं क्रोधः सर्प्पः पूर्वदिक्स्थः पुरुषे योजना स्वधिया कार्या, यतः क्रोधाज्जन्तुस्तरुणरविसदृक् स्यादित्यादि १ । 'मेरु'

मेरुगिरितुंगसरिसो, अट्ठफणो जमलजुगलजीहालो। दाहिणपासंमि ठिओ,माणेण वियट्टई नागो ।१२५२

मेरुगिरेस्तुङ्गानि प्रस्तावात् शृङ्गानि तत्सदृश उन्नतोऽष्टमदफणः, यमं लान्त्याददतीति यमला युगलरूपा रागद्वेषावेव जिह्वा यस्य, मानेन हेतुना व्यावर्त्तते वेल्लति ॥ १२५२ ॥ ' डक्को '

डक्को जेण मणूसो, थद्धो न गणेइ देवरायमवि । तं मेरुपव्वयनिभं, कह घिच्छसि तं महानागं? ॥१२५३॥

स्तब्धः सन् देवराजं इन्द्रमपि न गणयति। तमेवंविधं, अयं मानः २ ॥ १२५३ ॥ ' सल '

सललियविल्लहलगई, सत्थिअलंछणफणंकिअपडागा । मायामइआ नागी, नियडिकवडवंचणाकुसला ॥

सललिता मृद्वी वेल्लहला गतिर्यस्या मनोज्ञवागेव, स्वस्तिकलाञ्छनफणरूपा पताका तदङ्किता, मायामयी नागी, निकृतिर्मनोविकारः कपटं बाह्यवेषादिः आभ्यां या वञ्चना तस्यां कुशला ॥ १२५४ ॥ ' तं च '

तं च सि वालग्गाही, अणोसहिबलो अ अपरिहत्थो य। सा य चिरसंचियविसा, गहणंमि वणे वसइ नागी ॥

त्वं चासि, व्यालाः सर्प्पास्तेषां ग्राही । अनौषधिबलोऽपरिहस्तो मूर्खः, सा च चिरसंचितविषा नागी गहने वने कार्यजालरूपे वसति ॥ १२५५ ॥ ' होज्जा '

होज्जा ते विणिवाओ,तीसे दाढंतरं उवगयस्स। अप्पोसहिमंतबलो,न हु अप्पाणं चिगिच्छिहिसि ॥१२५६॥

तस्या दाढान्तरमुपगतस्य ते विनिपातो मृत्युर्भविष्यति न चात्मानं किञ्चिच्चिकित्सिष्यसि। इयं माया-३। ॥ १२५६॥ 'उत्थ'

उत्थरमाणो सव्वं, महालयो पुन्नमेहनिग्घोसो। उत्तरपासंमि ठिओ, लोहेण वियट्टई नागो ॥ १२५७॥

उत्प्लूरन् अभिभवन् सर्वं वस्तु महालयो विस्तीर्णः उत्तरपार्श्वस्थितो लोभेन दशनलोमेन व्यावर्त्तते सर्वोत्तरो लोभ इति ख्यातः ॥ १२५७ ॥ 'डक्को'

डक्को जेण मणुसो, होइ महासागरुव्व दुप्पूरो। तं सव्वविससमुदयं, कह घिच्छसि तं महानागं? ॥१२५८॥

महासागर इव तृष्णया दुःपुरः स्यात्। तं सर्वविषाणां व्यसनानां समुदयं लोभमहानागं त्वं कथं ग्रहीष्यसि॥१२५८॥ 'एए'

एए ते पावाही, चत्तारिवि कोहमाणमयलोभा। जेहि सया सतत्तं, जरियमिव जयं कलकलेइ ॥१२५९॥

एते ते क्रोधमानमायालोभाश्चत्वारः पापाहयः यैः सदा सन्तप्तं ज्वरितमिव जगत् कलकलायते ॥ १२५९ ॥ 'एए'

एएहिं जो खज्जइ, चउहिवि आसीविसेहि पावेहिं। अवसस्स नरयपडणं, णत्थि सि आलंबणं किंचि १२६०

एतैश्चतुर्भिराशीविषैः पापैर्यः खाद्यते तस्यावशस्य परवशस्य सतो नरकपतनं दुःखपतनं भवति। एवमुक्त्वा नागदत्ते सर्पमोचनायाग्रहवति तेन सर्पा मुक्तास्तैः स दष्टः पतितोऽनेकौषधैर्नोत्तस्थौ ॥ १२५४ ॥ स्वजनेष्वाग्रहवत्सु देवोऽवक् 'एए'

एएहिं अहं खइओ चउहिवि आसीविसेहि पावेहिं। विसनिग्घायणहेउं चरामि विविहं तवोकम्मं ॥१२६१

एतैराशीविषैः सर्प्पैः पापैः पापमयैरहं खादितो भक्षितः विषनिर्घातनहेतुं विविधं तपश्चरामि ॥ १२६१ ॥ 'सेवा'

**सेवामि सेलकाणण—सुसाणसुन्नघररुक्खमूलाइं। पावाहीणं तेसिं, खणमवि न उवेमि वीसंभं ॥१२६२॥**

शैलकाननश्मशानशून्यगृहवृक्षमूलानि सेवे, तेषां पापाहीनां क्षणमपि विश्रम्भं नोपैमि नयामि ॥ १२६२ ॥ 'अच्चा'

**अच्चाहारो न सहे, अइनिध्धेण विसया उइज्जंति। जायामायाहारो, तंपि पकामं न इच्छामि ॥१२६३॥**

अत्याहारो न सहति। अतिस्निग्धेन विषया उदीर्यन्ते प्रादुर्भाव्यन्तेऽतः संयमयात्रामात्र आहारो यस्य, ईदृशोऽहं भवामि। तमप्याहारं प्रकामं पुनः पुनः नेच्छामि ॥ १२६३ ॥ 'उस्स'

**उसन्नकयाहारो, अहवा विगईविवज्जियाहारो। जं किंचि कयाहारो, अवउज्झियथोवमाहारो ॥१२६४॥**

उत्सन्नं प्रायोऽकृताहारोऽथवा विवर्जितविकृत्याहारः। यत्किञ्चिद् रम्यमरम्यं वा तेन कृताहारः, अपोज्झितो लोकैस्त्यज्यमानोऽरसत्वात्, ईदृशः स्तोकआहारो यस्य मम, ईदृगस्मि ॥ १२६४ ॥ क्रियान्तरं दर्शयति 'थोवा'

**थोवाहारो थोवभणिओ य, जो होइ थोवनिद्दो य। थोवोवहिउवगरणो तस्स हु देवावि पणमंति १२६५**

स्तोकं भणितं वाग्व्यापारो यस्य, स्तोक उपधिरेवोपकरणं यस्य ॥ १२६५ ॥ एवमयं पालयन्नुत्तिष्ठति नान्यथा। ततः स्वजना आहुरेवमपि स्तात्, जीवन् वीक्ष्यते। ततः प्राङ्मुखः क्रियां प्रयोक्तुमनाः सोऽवक् 'सिद्धे'

सिद्धे नमंसिऊणं, संसारत्था य जे महाविज्जा। वोच्छामि दंडकिरियं, सव्वविसनिवारणिं विज्जं१२६६॥

सिद्धान्, संसारस्थाश्च महावैद्या ये केवल्याद्याः तांश्च नमस्कृत्वा कषायाणां दण्डक्रियां निग्रहक्रियां सर्वविषनिवारणीं
वक्ष्ये ॥ १२६६ ॥ मा चैवं 'मवं'

सव्वं पाणाइवायं पच्चक्खाई मि अलियवयणं च। सव्वमदत्तादाणं, अव्वंभ परिग्गहं स्वाहा ॥१२६७॥

सर्वं प्रत्याख्यात्येषो नागदत्तः, स्वाहेति मन्त्रपदं परेषां पापविषनिवारणाज्ञप्त्यै प्रयुक्तं ॥ १२६७ ॥ ततः स उत्थितः
पितृभिरुक्तोऽपि तां क्रियामनिच्छन् पुनः पपात। एवं द्विः, तृतीयवेलायां तत्प्रपद्य तेन सह चलितः, प्राग्भवं श्रुत्वा प्रत्येक-
बुद्धो भूत्वा सिद्धः। एवं भावप्रतिक्रमणं। ननु किं पुनः पुनः प्रतिक्रम्यते ? उच्यते वैद्यदृष्टान्तोऽत्र यथा—राजा सुतस्य मा भूद्रोग
इति वैद्यानूचे—कीदृशा वो योगास्तेष्वेको जगौ—मम योगा रोगान् घ्नन्ति आरोग्ये च बलरूपादि वर्द्धयन्ति ततस्तेन
सुतश्चिकित्सितः। एवं प्रतिक्रमणमपि भूतभाविदोषान् हन्त्यदोषत्वे च चरणनैर्मल्यं करोति। उक्तोऽयं नामनिष्पन्नो निक्षेपः।
अथ सूत्रालापकनिष्पन्नः स च सूत्रे सति स्यात्तत इदं प्रतिक्रमणसूत्रं 'करेमि भंते सामा०'। आदौ सामायिकोच्चारः समता-
भावस्थेनैव प्रतिक्रान्तव्यं इति ज्ञापनाय कर्म्मविघाताय च। अथ मङ्गलपूर्वं प्रतिक्रान्तव्यं इत्याह 'चत्तारि मंगलं'

चत्तारि मंगलं अरिहंता, मंगलं सिद्धा, मंगलं साहू मंगलं, केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं।

चत्वारि मङ्गलानि यथार्हन्तो मङ्गलमित्यादि। साधुग्रहणेनाचार्योपाध्याया अप्यात्ताः। धर्म्मः श्रुतचारित्रभेदाद् द्विधा,

७

मां गालयन्ति निःकासयन्ति [illegible] ङ्गयते हितम[illegible] वेति मंगलं, आरोपत्वादेकवचनं, मङ्गलं च लोकोत्तमत्वात्, तथा चाह 'चत्तारि'

**चत्तारि लोगुत्तमा अरिहंता लोगुत्तमा सिद्धा लोगुत्तमा साहू लोगुत्तमा केवलिपण्णतो धम्मो लोगुत्तमो ।**

अर्हन्तो लोके उत्तमा लोकोत्तरगुणत्वात् । सिद्धा लोकोत्तमाः लोकाग्रस्थत्वात् क्षीणाशेपकर्म्मत्वाच्च । साधवो लोकोत्तमा रत्नत्रयसाधकत्वात्, केवलिप्रज्ञप्तो धर्म्मो लोकोत्तमो दुर्गतिपतज्जन्तुसमुद्धरणात्। यत एवोत्तमा अत एव शरण्यास्तदाह 'चत्तारि'

**चत्तारि सरणं पवज्जामि, अरिहंते सरणं पवज्जामि, सिद्धे सरणं पवज्जामि, साहू सरणं पवज्जामि, केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि ।**

चतुरः शरणं प्रपद्ये। यथाऽर्हतः शरणं प्रपद्ये इत्यादि १ । 'इच्छामि'

**इच्छामि पडिक्कमिउं जो मे देवसिओ अइयारो कओ, काइओ वाइओ माणसिओ, उस्सुत्तो उम्मग्गो अकप्पो अकरणिज्जो दुज्झाओ दुविचिंतिओ अणायारो अणिच्छियव्वो असमणपाउग्गो नाणे दंसणे चरित्ते सुए सामाइए तिण्हं गुत्तीणं चउण्हं कसायाणं पंचण्हं महव्वयाणं छण्हं जीव-**

णिकायाणं सत्तण्हं पिंडेसणाणं अट्ठण्हं पवयणमाऊणं नवण्हं बंभचेरगुत्तीणं दसविहे समणधम्मे समणाणं जोगाणं जं खंडिअं जं विराहियं तस्स मिच्छामि दुक्कडं ॥ ( सूत्रम् )

प्रतिक्रमितुं वक्ष्यमाणातिचारस्य मिथ्यादुःकृतदानेन, एवमग्रेऽपि ज्ञेयम् तद्यथा–यो मया दैवसिको दिवससम्बन्धी अतीचारः संयमदोषः कृतः, स च त्रिधा कायिकः कायभवः, वाचिको वाग्जातः, मानसो मनोभवः। स च कीदृगित्याह— ऊर्ध्वं सूत्रादुत्सूत्रः सूत्रानुक्तो विधिरित्यर्थः, उन्मार्गो मार्गः क्रोधादिक्षयोपशमोत्थः क्षायोपशमिकभावस्तस्य त्यागेन कषायाघौदयिकभावसङ्क्रमः, अकल्प्यः अनवद्योऽप्यन्याय्यः, अकरणीयः सावद्यरूपः । हेतुहेतुमद्भावश्चात्र यत एवोत्सूत्रोऽत एवोन्मार्ग इत्यादि। उक्तौ कायिकवाचिकौ। अथ मानसः–दुर्ध्यातः आर्त्तरौद्रैकाग्रतया, दुर्विचिन्तितोऽशुभचलचित्ततया। तत्रैकाग्रता ध्यानमुच्यते चलचित्तता तु चिन्ता। 'अणायारो'ऽनाचारः पञ्चाचारवैपरीत्यं क्रीडादि, अनेष्टव्यः इच्छायाअप्यनर्हः सद्वस्त्रादिद्रव्यादिप्रार्थनारूपः। किम्भूतोऽतिचारः 'असम०' न श्रमणस्य प्रायोग्योऽर्होऽश्रमणप्रायोग्यः, वृत्तौ तु 'असमणपाउग्गो अणायारो अणिच्छि०' पाठः। किं विषयोऽयं स्यादित्याह 'नाणे' ज्ञाने दर्शने चारित्रे च। अथ भेदेनाह 'सुए' श्रुते उपलक्षणात् शेषज्ञानेष्वपि। तत्र वितथप्ररूपणाऽकालपाठादिरतिचारः। सामायिके इति सम्यक्त्वचारित्रसामायिकयोः, तत्राद्यस्यातिचारः शङ्कादिः परस्य 'तिण्हं गुत्तीणं' तिसृणां गुप्तीनां, प्रवीचाराप्रवीचाररूपा गुप्तयः तत्र प्रवीचारः प्रवृत्तिः अप्रवीचारो निवृत्तिः। गुप्तिषु शुभे प्रवृतिः ( अशुभे ) व्यापाररोधश्च। चतुर्णां कषायाणां

क्रोधादीनां, पञ्चानां महाव्रतानां प्राणातिपातविरत्यादीनां, षण्णां जीवनिकायानां पृथ्व्यादीनां, सप्तानां पिण्डैषणानां पिण्डस्य भक्तस्य एषणा ग्रहणप्रकाराः ताश्चेमाः ' संसट्ठ १ मसंसट्ठा २ उद्धड ३ तह अप्पलेविया चेव ४ । उग्गहिया ५ पग्गहिया ६ उज्झियधम्मा य सत्तमिया ७, । गाथानुलोम्यादादौ संसृष्टोक्ताऽन्यथादौ असंसृष्टा ततः संसृष्टा । तत्राऽसंसृष्टाऽखरण्टिताभ्यां हस्तमात्राभ्यां कारणे स्थविरकल्पिनः पुरःपश्चात्कर्म्मदोषपरिहारेण गृह्णतोऽसंसृष्टा पिण्डैषणा १, खरण्टितहस्तमात्राभ्यां भक्तं गृह्णतः सर्वेषेः संसृष्टा २, स्वयोगेनान्नं उद्धृतं गृह्णतः उद्धृता ३, अलेपं पृथुकादि लातोऽल्पलेपाऽल्पशब्दोऽभावे ४ । गृहिभुक्त्यर्थं पात्रे क्षिप्तान्नं गृह्णतोऽवगृहीता ५ । चेत्कोऽप्येति तदा ददामीति भोक्तुं वा करे गृहीतं भक्तं गृह्णतः प्रगृहीता ६ । त्यागार्हं यद् द्विपदाद्या नेहंते तदर्द्धत्यक्तं वा लात उज्झितधर्म्मा पिण्डैषणा ७ । सर्वत्रापि सचित्ताम्बुलेपान्तरायादिदोषत्यागो ज्ञेयः । तत्र जिनकल्पादौ उद्धृताद्याः पञ्च, स्थविराणां तु सप्त स्युः । अन्ये पठन्ति ' सत्तण्हं पाणेसणाणं ' ताश्चेमा एव । परं तुर्यायां आयामसोवीरकादि निर्लेपं ज्ञेयं । अष्टानां प्रवचनमातॄणां प्रवचनदेहस्य पालनान्मातृवन्मातरः गुप्तिसमितयः । तत्र गुप्तयः ३ प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपाः, समितयस्तु प्रवृत्तिरूपाः पञ्च, यतः ' समिओ नियमा गुत्तो गुत्तो समियत्तणंमि भइयव्वो । कुसलवयमुदीरंतो जं वयगुत्तो वि समिओ वि ' । समितो गुप्त एव स्याद्गुप्तस्तु समितत्वे भाज्यः, यदि चेष्टारहितस्तर्हि गुप्त एव न तु समितः, यदि च शुभचेष्टस्तदा गुप्तः समितश्च । तदाह कुशलवाचं निर्दोषवाचं उदीरयन् वदन् यद्वचोगुप्तः समितोऽपि स्यात् । नवानां ब्रह्मचर्यगुप्तीनां पुरोव्याख्येयानां तथा क्षान्त्यादौ दशविधे श्रमणधर्म्मे श्रमणानामेते श्रामणा योगा व्यापारास्तेषां यत्खण्डितं देशतो भग्नं विराधितं सुतरां भग्नं न पुनरभावमापादितं । तस्य

दैवसिकस्य ज्ञानाद्यतिचारस्य मिथ्येति प्रतिक्रमामि दुःकृतमिदं मेऽकर्त्तव्यमित्यर्थः। तत्र कषायाणां 'जं खंडियं' इति कोऽर्थः साधूनां संज्वलनकषाया एव स्युस्तेषां चात्यर्थं दुष्टभावेन प्रतिभागपरावर्त्तः स्यात्तेन संज्वलनतायाः खण्डना विराधनाऽपि। अत्र 'पडिक्कमामी'ति व्यापकपदस्यार्थज्ञप्त्यै गाथा 'पडिसिद्धाणं'

**पडिसिद्धाणं करणे, किच्चाणमकरणे पडिक्कमणं। असद्दहणे य तहा विवरीयपरूवणाए य ॥ १२६८ ॥**

प्रतिषिद्धानां अकालस्वाध्यायादीनां करणे, कृत्यानां कालस्वाध्यायादीनां अकरणे, जिनोक्तानां अश्रद्धाने च विपरीतप्ररूपणायां च वितथकथने च प्रतिक्रमणं स्यात्। पडिक्कमामिशब्देनैतेऽर्थाः स्युरिति ज्ञेयं ॥ १२६८ ॥ अनया युक्त्या सूत्राण्यनुगम्यानि, यथाऽत्र सामायिके प्रतिषिद्धौ रागद्वेषौ तयोः करणे, तथा कृत्यं तन्निग्रहस्तस्याकरणे तथा सामायिकं मोक्षहेतुरित्यश्रद्धाने न समभावे सामायिकमिति विपरीतप्ररूपणायां च प्रतिक्रमणं स्यादेवं सर्वसूत्रेष्वपि योज्यं। यथा चत्वारो मंगलं इति मङ्गले प्रतिषिद्धोऽमङ्गलाध्यवसायस्तत्करणे प्रतिक्रमामि शब्दः स्यादित्यादि। एवं सामान्यतः प्रतिक्रमणमुक्तं। अथ विभागेनोच्यते। तत्रादौ गमनातिचारमाह 'इच्छामि० इरिया०'

**इच्छामि पडिक्कमिउं इरियावहियाए विराहणाए गमणागमणे पाणक्कमणे बीयक्कमणे हरियक्कमणे ओसाउत्तिंगपणगदगमट्टिमक्कडासंताणासंकमणे जे मे जीवा विराहिया एगिंदिया बेइंदिया तेइंदिया चउरिंदिया पंचिंदिया अभिहया वत्तिआ लेसिया संघाइआ संघट्टिआ परिआविआ किला-**

**मिआ उद्दविआ ठाणाओ ठाणं संकामिआ जीविआओ ववरोविआ तस्स मिच्छामि दुक्कडं ॥ (सूत्रम्)**

इच्छामि प्रतिक्रमितुं ऐर्यापथिक्या विराधनाया योऽतिचारस्तस्य, इच्छामीति सर्वत्र मनःसावधानताज्ञप्त्यै । तत्र ईरणं ईर्या गमनं तत्प्रधानः पन्थाः ईर्यापथः अथवा ईर्यापथः साध्वाचारस्तत्र भवा ऐर्यापथिकी तया विराधनया । आदौ सामान्येनाह 'गमणा०' गमनं चागमनं च गमनागमनं तत्र । कथं जातेत्याह प्राणास्त्रसास्तेषां क्रमणे पादेन पीडने, एवं बीजहरिताक्रमणयोरपि । हरितग्रहणात्सर्वो वनस्पतिर्ज्ञेयः । 'ओसा ' अवश्यायः ठारः, उर्त्तिगा गर्दभाकारा जीवाः भुवि खड्डं खनन्तो भूयका (भूयुक्ताः) वा कीटिकादिनगराणि वा, पनकः पञ्चवर्णोल्लिः, दकमृत्तिका चिक्खिल्लं दकमृद्वा, एतेनाऽप्कायपृथ्वीकायौ ज्ञेयौ । मर्कटसन्तानं कोलिकजालं। एषामवश्यायादीनां सङ्क्रमणे आक्रमणे, तथा कियन्तो भेदेनोच्यन्ते ? परं 'जे मे०' येऽन्येपि मया जीवा विराधिता दुःखं प्रापितास्ते च एकेन्द्रियाः पृथ्व्याद्याः, द्वीन्द्रियाः कृम्याद्याः, त्रीन्द्रियाः कीटिकाद्याः, चतुरिन्द्रियाः लूताद्याः, पञ्चेन्द्रिया नारकाद्याः (मूषकाद्याः)। अभिहताः अभिमुखमागच्छन्तः पादादिना हताः उत्क्षिप्य विक्षिप्ता वा कार्यारम्भे वा निषिद्धाः, वर्त्तिताः पुञ्जीकृताः धूल्यादिना वा स्थगिताः, श्लेषिताः खटिकावद् भुवि घृष्टाः कुड्यादौ लिप्यमाने वा तत्र लगिताः श्लेष्मादिना वा श्लेषतः, सङ्घातिताः पोट्टलादिषु बद्धाः, सङ्घट्टिता ईषत्स्पृष्टाः, परितापिता आतपाग्निदुर्वाक्यादिना खेदं प्रापिताः, क्लामिता अतिभारक्षुदादिना ग्लानिं प्राप्य जीवितशेषाः कृताः। उपद्राविताः उत्त्रासिताः करांहृयादिषूपद्रुता वा । स्थानादन्यस्थानं सङ्क्रामिताः, जीविताद् व्यपरोपिताः मारिता इत्यर्थः, एवं योऽतिचारस्तस्य मिथ्या मे दुःकृतं ।

अथ त्वग्वर्त्तनातिचारमाह ' इच्छा० पगाम० '

इच्छामि पडिक्कमिउं पगामसिज्जाए निगामसिज्जाए संथाराउवट्टणाए परियट्टणाए आउंटण-पसारणाए छप्पइसंघट्टणाए कूइए कक्कराइए छिइए जंभाइए आमोसे ससरक्खामोसे आउल-माउलाए सोअणवत्तिआए इत्थीविप्परिआसिआए दिट्ठीविप्परिआसिआए मणविप्परिआसिआए पाणभोयणविप्परिआसिआए जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं ॥ (सूत्रम्)

प्रकामं चातुर्यामं घोरनिद्रया वा शयनं प्रकामशय्या। यद्वा प्रकामा उत्कटा संस्तारोत्तरपट्टाधिका प्रावरणमाश्रित्य कल्पत्रयाधिका वा शय्या तया योऽतिचारस्तस्य मिथ्यादुःकृतं। प्रकामशय्यैव प्रत्यहं क्रियमाणा निकामशय्या। इह शयनेऽयं विधिः। पूर्वं वामपार्श्वे सुप्यते। पादौ च सङ्कोच्य आकाशे स्थाप्येते। ततोऽशक्तो भुवं प्रमृज्य पादौ भुवि मुच्येते। संस्तारे उद्वर्त्तनं आदौ वामपार्श्वे सुप्तस्य दक्षिणपार्श्वेन वर्त्तनं उद्वर्त्तना। पुनर्वामेन वर्त्तनं परिवर्त्तना। तत्र यो योऽतिचारः। इहा-प्रमृज्योद्वर्त्तनादिकुर्वतोऽतिचारः। एवं आकुञ्चनाऽङ्गसङ्कोचः, प्रसारणाऽङ्गनिक्षेपः तया आकुञ्चनप्रसारणयाऽत्र कुक्कुटदृष्टान्तोक्त विधिमकुर्वतोऽतिचारः। 'कुक्कुडिपायपसारे, जह आगासे पुणोवि आउंटे। एवं पसारिऊणं, आगासे पुणोवि आउंटे ॥ १ ॥ अइकुंडिय सिय ताहे, जहियं पायस्स पण्हिया ठाइ। तहियं पमज्जिऊणं, आगासेणं तु नेऊणं ॥ २ ॥ पायं ठावित्तु तहिं, आगासे णे (चे)त्र पुणोवि आउंटे। एयं विहिमकरेंते, अइयारो तत्थ से होइ' ॥ ३ ॥ षट्पदिकानां संघट्टनया घर्षणेन, कूजिते इति कासिते विधिना मुखवस्त्रं करं वाऽऽस्येऽदत्त्वा कृते सति, कर्करायिते विषमा घर्म्मवतीत्यादिशय्यादोषोच्चारणारूपे

भाषिते सति, क्षुते जृम्भिते चाविधिना कृते, आमर्शेऽप्रमृज्य करादिना स्पर्शने । सह सचित्तरजसा यद्वर्त्तते तत्सरजस्कं वस्तु तस्यामर्शे स्पर्शे सति । एवं जाग्रतोऽजाग्रतोऽतिचारः । अथ सुप्तस्योच्यते—आकुलाकुलया स्त्रीभोगविवाहयुद्धादिदर्शनादत्याकुलया, स्वप्नप्रत्ययया स्वप्ननिमित्तया विराधनया । एषा तु मूलोत्तरगुणविषया स्यादतो भेदेनाह—स्वप्ने स्त्रिया सह विपर्यासोऽब्रह्मसेवा तत्र भवा वैपर्यासिकी तया, स्त्रीदर्शनानुरागात्स्वप्ने तदीक्षणं दृष्टिविपर्यासस्तत्र भवा दृष्टिवैपर्यासिकी तया, एवं मनोवैपर्यासिकी अशुभचिन्तारूपा तया । पानभोजनवैपर्यासिकी स्वप्ने पानभोजनकृतिः तया, यो मया दैवसिकोऽतिचारः कृतः, रोगाद्यपवादाद्दिवास्वापे एतेऽतिचारा स्युः । चू० ' इच्छामि पडिक्कमिउं वृत्तौ तु पडिक्कमामि गोयरचरियाए । '

पडिक्कमामि गोयरचरियाए भिक्खायरियाए उग्घाडकवाडउग्घाडणाए साणावच्छादारासंघट्टणाए मंडीपाहुडिआए बलिपाहुडिआए ठवणापाहुडिआए संकिए सहसागारिए अणेसणाए पाणभोयणाए बीयभोयणाए हरियभोयणाए पच्छेकम्मियाए पुरेकम्मियाए अदिट्ठहडाए दगसंसट्ठहडाए रयसंसट्ठहडाए पारिसाडणियाए पारिठावणियाए ओहासणभिक्खाए जं उग्गमेणं उप्पायणेसणाए अपरिसुद्धं परिगहियं परिभुत्तं वा जं न परिट्ठवियं तस्स मिच्छामि दुक्कडं । (सूत्रम्)

गोश्चरणं गोचरः, स इव चर्या क्रिया गोचरचर्या यथा वत्सस्तृणाक्षुधार्त्तः सशृङ्गारस्त्रीदीयमानतृणांबुदत्तदृक् स्त्रीरूपे न

मूर्च्छति । एवं माधुरपि भक्ताम्बुशुद्धिं पश्यन् रूपे न मूर्च्छति । काऽसावित्याह–भिक्षाचर्या भिक्षाक्रिया । इह लाभालाभयोः समचित्तोऽदीनमनो भिक्षेत् । तस्यां योऽतिचारस्तस्मात् प्रतिक्रमामि । कथमतिचारोऽदिभूत्याह 'उग्घा०' उद्घाटं अदत्तार्गलं ईषत्स्थगितं वा कपाटं तदुद्घाटनया प्रेरणयाऽप्रमार्जितादिभ्योऽतिचारः । श्ववत्सदारकसंघट्टनया, दारको बालः, मण्डीप्राभृतिका बलिप्राभृतिका स्थापनाप्राभृतिका । आसां गाथाः 'मंडीपाहुडिया साहुंमि आगए अग्गकूरमंडी य । अन्नंमि भायणंमि व काउं तो देइ साहुस्स ॥ १ ॥ तत्थ पवत्तणदोसो न कप्पए तारिसा सुविहियाणं । मंडी य अग्गकूरशिखा तामन्यस्मिन् भाजने कृत्वा ततः साधवे दत्ते सा मंडीप्राभृतिका । तत्र प्रवृत्तिदोषो लगति । लोकस्तथा करोतीति प्रवृत्तिः । पश्चात्कर्म्माद्या दोषाश्च स्युः । यस्त्वग्रपिण्ड इति साधोर्निषिध्यते सोऽव्यापारितान्नशिखारूप एव दृश्यते । 'बलिपाहुडिया भन्नइ चउदिसं काउ अच्चणियं' ॥ २ ॥ बलिप्राभृतिका सा यत्र साधावायाते चतुर्दिक्ष्वर्चां कृत्वाऽग्नौ वा क्षिप्त्वा सिक्थान् 'अग्गिमि विछोढूणं, सित्थ तो देइ साहुणो भिक्खं । सावि न कप्पइ ठवणा जा भिक्खायराण ठवियाओ' ॥ ३ ॥ या भिक्षाचराणां कृते स्थापिता तां ददतः स्थापनाप्राभृतिका । 'संकिए' आधाकर्म्माद्यन्यतमदोषेण शङ्किते आत्ते । सहसाकारे प्रमादादिना सत्यकल्प्ये आत्ते । शङ्कितसहसाकारयोरात्ताहारस्याऽविधिना त्यागेऽत्यागे वाऽतिचारः । तथाऽनेषणयाऽशुद्धाहारग्रहणेन, प्राणिनो रजसाद्या भोजने आहारे सम्पद्यन्ते विराध्यन्ते व्यापाद्यन्ते वा यस्यां भिक्षायां सा प्राणिभोजना तया, प्राणिसंघट्टनादि च दातुर्वा साधोर्वा सकाशाज्ज्ञेयं । एवं बीजभोजनायां सचित्तबीजसंघट्टादि, हरितभोजनायां हरितसंघट्टादि, यत्र पश्चात् हस्तक्षालनाद्यर्थं सचित्तजलादिविराधना स्यात् सा पश्चा-

भाषिते सति, क्षुते जृम्भिते चाविधिना कृते, आमर्शेऽप्रमृज्य करादिना स्पर्शने । सह सचित्तरजसा यद्वर्त्तते तत्सरजस्कं वस्तु तस्यामर्शे स्पर्शे सति । एवं जाग्रतोऽजाग्रतोऽतिचारः । अथ सुप्तस्योच्यते—आकुलाकुलया स्त्रीभोगविवाहयुद्धादिदर्शनादत्याकुलया, स्वप्नप्रत्ययया स्वप्ननिमित्तया विराधनया । एषा तु मूलोत्तरगुणविषया स्यादतो भेदेनाह—स्वप्ने स्त्रिया सह विपर्यासोऽब्रह्मसेवा तत्र भवा वैपर्यासिकी तया, स्त्रीदर्शनानुरागात्स्वप्ने तदीक्षणं दृष्टिविपर्यासस्तत्र भवा दृष्टिवैपर्यासिकी तया, एवं मनोवैपर्यासिकी अशुभचिन्तारूपा तया । पानभोजनवैपर्यासिकी स्वप्ने पानभोजनकृतिः तया, यो मया दैवसिकोऽतिचारः कृतः, रोगाद्यपवादाद्दिवास्वापे एतेऽतिचारा स्युः । चू० 'इच्छामि पडिक्कमिउं वृत्तौ तु पडिक्कमामि गोयरचरियाए ।'

पडिक्कमामि गोयरचरियाए भिक्खायरियाए उग्घाडकवाडउग्घाडणाए साणावच्छादारासंघट्टणाए मंडीपाहुडिआए बलिपाहुडिआए ठवणापाहुडिआए संकिए सहसागारिए अणेसणाए पाणभोयणाए बीयभोयणाए हरियभोयणाए पच्छेकम्मियाए पुरेकम्मियाए अदिट्ठहडाए दगसंसट्ठहडाए रयसंसट्ठहडाए पारिसाडणियाए पारिठावणियाए ओहासणभिक्खाए जं उग्गमेणं उप्पायणेसणाए अपरिसुद्धं परिगहियं परिभुत्तं वा जं न परिट्ठवियं तस्स मिच्छामि दुक्कडं । (सूत्रम्)

गोश्चरणं गोचरः, स इव चर्या क्रिया गोचरचर्या यथा वत्सस्तृष्णाक्षुधार्त्तः सशृङ्गारस्त्रीदीयमानतृणांबुदत्तदृक् स्त्रीरूपे न

मूर्च्छति । एवं साधुरपि भक्ताम्बुशुद्धिं पश्यन् रूपे न मूर्च्छति । काऽसावित्याह–भिक्षाचर्या भिक्षाक्रिया । इह लाभालाभयोः समचित्तोऽदीनमनो भिक्षेत् । तस्यां योऽतिचारस्तस्मात् प्रतिक्रमामि । कथमतिचारोऽदिभूत्याह 'उग्घा०' उद्घाटं अदत्तार्गलं ईषत्स्थगितं वा कपाटं तदुद्घाटनया प्रेरणयाऽप्रमार्जितादिभ्योऽतिचारः । श्ववत्सदारकसंघट्टनया, दारको बालः, मण्डीप्राभृतिका बलिप्राभृतिका स्थापनाप्राभृतिका । आसां गाथाः 'मंडीपाहुडिया साहुंमि आगए अग्गकूरमंडी य । अन्नंमि भायणंमि उ काउं तो देइ साहुस्स ॥ १ ॥ तत्थ पवत्तणदोसो न कप्पए तारिसा सुविहियाणं । मंडी य अग्गकूरशिखा तामन्यस्मिन् भाजने कृत्वा ततः साधवे दत्ते सा मंडीप्राभृतिका । तत्र प्रवृत्तिदोपो लगति । लोकस्तथा करोतीति प्रवृत्तिः । पश्चात्कर्म्माद्या दोषाश्च स्युः । यस्त्वग्रपिण्ड इति साधोर्निषिध्यते सोऽव्यापारितान्नशिखारूप एव दृश्यते । 'बलिपाहुडिया भन्नइ चउदिसं काउ अच्चणियं' ॥ २ ॥ बलिप्राभृतिका सा यत्र साधावायाते चतुर्दिक्ष्वर्चां कृत्वाऽग्नौ वा क्षिप्त्वा सिक्थान् 'अग्गिमि विछोदूणं, सित्थ तो देइ साहुणो भिक्खं । सावि न कप्पइ ठवणा जा भिक्खायराण ठवियाओ' ॥ ३ ॥ या भिक्षाचराणां कृते स्थापिता तां ददतः स्थापनाप्राभृतिका । 'संकिए' आधाकर्म्माद्यन्यतमदोषेण शङ्किते आत्ते । सहसाकारे प्रमादादिना सत्यकल्प्ये आत्ते । शङ्कितसहसाकारयोरात्ताहारस्याऽविधिना त्यागेऽत्यागे वाऽतिचारः । तथाऽनेषणयाऽशुद्धाहारग्रहणेन, प्राणिनो रजसाद्या भोजने आहारे सम्पद्यन्ते विराध्यन्ते व्यापाद्यन्ते वा यस्यां भिक्षायां सा प्राणिभोजना तया, प्राणिसंघट्टनादि च दातुर्वा साधोर्वा सकाशाज्ज्ञेयं । एवं बीजभोजनायां सचित्तबीजसंघट्टादि, हरितभोजनायां हरितसंघट्टादि, यत्र पश्चात् हस्तक्षालनाद्यर्थं सचित्तजलादिविराधना स्यात् सा पश्चा-

त्कर्मिका, यत्र च पूर्वं स्यात् सा पौरःकार्मिका भिक्षा तया, तथाऽदृष्टाहृतयाऽदृष्टादाननिक्षेपमानीतया। 'दग०' सचित्तोदक–संसृष्टकरादिनाऽऽहृतया। एवं 'रय०' रजः सचित्तं तत्संसृष्टकराद्याहृतया। यस्याऽऽदानेऽन्नादेः परिशाटः छर्दनं स्यात् सा परिशाटनिका भिक्षा। भाजनस्थमन्यद् द्रव्यं परिष्ठाप्य, तेन यद् द्रव्यं दीयते सा पारिष्ठापनिका भिक्षा। यस्यां साधुर्विशिष्ट-द्रव्यं याचित्वा लाति साऽवभाषणभिक्षा तया। तथा कियदत्र भण्यते, यत्किञ्चिदशनादि उद्गमेनाधाकर्म्मादिरूपेण उत्पादनया धात्रीपिण्डादिरूपया एषणया शङ्कितादिरूपया अपरिशुद्धं परिगृहीतं आत्तं। तथाऽशुद्धं आदाय परिभुक्तं वा यत्, न तु परिष्ठापितं विधिवत् स्थण्डिलेऽपुनःकरणादिना। तत्रोद्गमः साध्वर्थं पिण्डप्रादुर्भावः, तत्र षोडशदोषाः–आधाकर्म्म १ औद्देशिकं २ पूतिकर्म्म ३ मिश्रजातं ४ स्थापना ५ प्राभृतिका ६ प्रादुःकारः ७ क्रीतं ८ प्रामित्यं ९ परावर्त्तितं १० अभ्याहृतं ११ उद्भिन्नं १२ मालाहृतं १३ आच्छेद्यं १४ अनिसृष्टं १५ अध्यवपूरकः १६ एते षोडश। तथा उत्पाद्यन्ते साधुनेति उत्पादना साधुभवा तस्या दोषाः–धात्रीपिण्डः १ दौत्यपिण्डः २ निमित्तपिण्डः ३ आजीविकपिण्डः ४ वनीपकपिण्डः ५ चिकित्सापिण्डः ६ क्रोधपिण्डः ७ मानपिण्डः ८ मायापिण्डः ९ लोभपिण्डः १० पूर्वपश्चात्संस्तवः ११ विद्यापिण्डः १२ मन्त्रपिण्डः १३ चूर्णपिण्डः १४ योगपिण्डः १५ मूलकर्म्म १६ एते षोडश। तथा एष्यते वीक्ष्यते साधुना ग्रहणकाले इत्येषणा तस्या दोषाः–शङ्कितदोषः १ म्रक्षितदोषः २ निक्षिप्तदोषः ३ पिहितदोषः ४ संहृतदोषः ५ दायकदोषः ६ उन्मिश्रदोषः ७ अपरिणतदोषः ८ लिप्तदोषः ९ छर्दितदोषः १० एते दश। एवं द्विचत्वारिंशत् पिण्डदोषाः। तैः शुद्धं गृह्णीयात्। तथा संयोजनादोषः १ अप्रमाणदोषः २ अङ्गारदोषः ३ धूमदोषः ४ कारणदोषः ५ एते पञ्च ग्रासैषणाया दोषाः एतैर्विशुद्धं भुञ्जीत।

तत्र दोषव्याख्यानं सोत्सर्गापवादप्रायश्चित्तं सभङ्गकमन्यग्रन्थेभ्यो ज्ञेयम्। एवं योऽतीचारोऽभूत्तस्य मिच्छा० । अथ स्वाध्यायाद्यतिचारप्रतिक्रमणं ' पडिक्कमामि चाउकालं० '

पडिक्कमामि चाउक्कालं सज्झायस्स अकरणयाए उभओकालं भंडोवगरणस्स अप्पडिलेहणयाए दुप्पडिलेहणयाए अप्पमज्जणाए दुप्पमज्जणाए अइक्कमे वइक्कमे अइयारे अणायारे जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं । ( सूत्रम् )

प्रतिक्रामामि तस्मादतिचाराद्यो मया दैवसिकोऽतिचारः कृतः, कथं ? चतुःकालं दिनरात्र्याद्यान्त्ययामेषु स्वाध्यायस्य सूत्रपौरुषीरूपस्याकरणतया । तथोभयकालं आद्यान्त्यपौरुष्योर्भाण्डोपकरणस्य पात्रवस्त्रादेरप्रत्युपेक्षणया मूलत एव चक्षुषोऽनिरीक्षणेन । दुःप्रत्युपेक्षणया दुष्टु अनुपयुक्तत्वेन निरीक्षणया, अप्रमार्जनया पात्रादेर्ग्रहणकाले मूलत एव रजोहरणादिनाऽस्पर्शनया । दुःप्रमार्जनया चक्षुषाऽनिरीक्ष्याऽविधिना च प्रमार्जनया । तथातिक्रमे व्रतानां किञ्चिद्भङ्गे, व्यतिक्रमेऽल्पभङ्गेऽतीचारे देशतो भङ्गेऽनाचारे सर्वभङ्गे यो मया दैवसिकोऽतिचारः कृतः, एवं पाक्षिके पक्षमध्येऽतिचारः चतुर्मासिकादिष्वप्येवमेव । क्वापि पाठे ' जो मे देवसिओ ' इत्याद्यत्र न पठन्ति परं वृत्तिचूर्ण्योरस्ति, ततोऽयमेव पाठः प्रमाणं । तत्रातिक्रमादीनां लक्षणे दृष्टान्तः—आधाकर्म्मनिमन्त्रणं प्रतिशृण्वाने ग्रहीष्ये इति श्रद्धाने साधौ चारित्रस्यातिक्रमः स्यात् यावत्पात्रकप्रतिलेखनं उपयोगकृतिश्च १ । ततः पदभरणाद्यो व्यतिक्रमः स्याद्यावद्दात्रा भिक्षा दातुमुत्पाटिता २ । ततो

गृहीते भक्तेऽतीचारः यावत्स्थानागमालोचनकवलोत्पाटनानि ३ गिलिते आहारेऽनाचारः ४ । एवं प्राणातिपातादिष्वतिक्रमादियोजना स्वधिया ज्ञेया । तस्यातीचारस्य मिथ्यादुःकृतं । अत्रातिचारशब्देन सामान्यतो दोष एव ज्ञेयस्ततोऽतिक्रमाद्याः सर्वेऽत्रान्तर्भवन्ति । अतिचार एकविधादिबहुभेदः स्यादत आह–' पडिक्कमामि एगविहे असंजमे० '

**पडिक्कमामि एगविहे असंजमे । पडिक्कमामि दोहिं बन्धणेहिं–रागबन्धणेणं दोसबन्धणेणं । पडि० तिहिं दण्डेहिं–मणदण्डेणं वयदण्डेणं कायदण्डेणं । पडि० तिहिं गुत्तीहिं–मणगुत्तीए वयगुत्तीए कायगुत्तीए । ( सूत्रम् )**

प्रतिक्रमामीति प्राग्वत्, एकविधे एकभेदेऽसंयमेऽविरतिरूपे सति निषिद्धकरणादिना योऽतिचारः कृतः स्यात्तस्य मिथ्या मे दुःकृतमिति सम्बन्धः । १ । प्रतिक्रमामि द्वाभ्यां बन्धनाभ्यां योऽतिचार इति । बध्यते कर्म्म येन तद्बन्धनं, बन्धनद्वयमाह–रागबन्धनेन रज्यते आत्मा विषयेष्वनेनेति रागः स एव बन्धनं, द्विष्यति परेभ्योऽनेनेति द्वेषः स एव बन्धनं । २ । प्रतिक्रमामि त्रिभिर्दण्डैः, दण्ड्यते चारित्रैश्वर्यहान्याऽऽत्मा एभिरिति दण्डाः यथा–मन एव दुःप्रयुक्तं दण्डः पापहेतुत्वात् मनोदण्डः, एवं वाग्दण्डकायदण्डावपि । मनोदण्डे कोंकणखन्तकोऽधःशिरा ऊर्ध्वजानुर्ध्यानपरः ' खरो वातोऽस्ति, चेन्मम पुत्रा रक्षां कृत्वा क्षेत्राणि कुर्यस्तदा बह्वन्नं स्यादि 'ति ध्यातवान् गुरुभिर्ज्ञानाद्वारितः । वाग्दण्डे कोऽपि यतिर्गमनागमनालोचने शूकरवृन्दं दृष्टमित्यवक् । क्षत्रियैः श्रुत्वा गत्वा तद्धतं । कायदण्डे चन्द्ररुद्राचार्योऽवन्त्यां रथयात्रादर्शनायागतो बहवः साधवो

मिलिताः। कोऽपि कुलीनो नवस्त्रीगृहनिःकासितस्तत्र दीक्षार्थमागात् साधुभिरश्रद्दधानैश्चण्डरुद्रान्ते प्रैषि, तेन दीक्षितः। प्रातर्ग्रामं यातः, पुरः शिष्यः, पृष्ठौ(पृष्ठतः) चण्डरुद्रः, शिष्ये स्खलित्वा पतिते चण्डः शिष्यं दण्डेनाहत् त्वयाऽश्मा न दृष्ट इति। स सम्यक् सेहे। आवश्यककाले शिष्यं रक्तलिप्तं दृष्ट्वा मिथ्यादुःकृतं ददतो गुरोः केवलं, कालेन शिष्यस्यापि। ३। 'पडिक०' तिसृभिर्गुप्तिभिरश्रद्धानादिना योऽतिचारः। मनोगुप्तिः मनसः शुभभावे प्रवृत्तिः ध्यानैकाग्रतया शुभेष्वपि प्रवृत्तिरशुभभावे च निवृत्तिः १। वाग्गुप्तिः शुभवाग्व्यापारो मौनात् शुभेष्वप्यप्रवृत्तिरशुभवाक्त्यागश्च, कायगुप्तिः शुभार्थे प्रवृत्तिश्चेष्टात्यागात् शुभेषु प्रवृत्तिरशुभेऽप्रवृत्तिश्च। ३। तत्र मनोगुप्तौ जिनदासः श्रेष्ठी प्रतिमास्थो भार्यादुश्चरित्रदर्शने मञ्चकीलकेन पादविद्धो न क्षुब्धः। १। वाग्गुप्तौ साधुना भ्रातृजन्ययात्रायां अपि चौरा नोक्ताः। २। कायगुप्तौ सार्थे साधुर्यान्, स्थण्डिलाभावादेकपादस्थानं लब्धं, एकांह्रिणा सर्वनिशां तस्थौ। ३। पडि०

पडिक्कमामि तिहिं सल्लेहिं—मायासल्लेणं नियाणसल्लेणं मिच्छादंसणसल्लेणं। पडि० तिहिं गारवेहिं—इड्ढीगारवेणं रसगारवेणं सायागारवेणं। पडि० तिहिं विराहणाहिं—णाणविराहणाए दंसणविराहणाए चरित्तविराहणाए। पडि० चउहिं कसाएहिं—कोहकसाएणं माणकसाएणं मायाकसाएणं लोहकसाएणं। पडि० चउहिं सण्णाहिं—आहारसण्णाए भयसण्णाए मेहुणसण्णाए परिग्गहसण्णाए। पडि० चउहिं विकहाहिं इत्थीकहाए भत्तकहाए देसकहाए रायकहाए। पडि० चउहिं

**झाणेहिं—अट्टेणं झाणेणं रुद्देणं झाणेणं धम्मेणं झाणेणं सुक्केणं झाणेणं ।**

त्रिभिः शल्यैः, तत्र चारित्रदेहस्य दोषहेतुत्वात् शल्यानि। माया स्वदोषाच्छादनं तदेव शल्यं मायाशल्यं। निदानं परभव-ऋद्ध्याद्यभिलाषेणानुष्ठानं तदेव शल्यं । मिथ्यादर्शनं मोहनीयकर्म्मोदयजं मतिभेदा १ ऽन्यसंस्तवा २ ऽभिनिवेश ३ भेदा-त्रिधा जमालिरक्तभिक्षूपचरकश्राद्धगोष्ठामाहिलवत् । ५ । 'पडि०' त्रिभिर्गौरवैः, गुरुर्लोभगर्त्ताध्मातचित्त आत्मैव तस्य भावः कर्म्म वा गौरवं ऋद्ध्यादिप्राप्त्याऽभिमानादप्राप्त्या तत्प्रार्थनाच्चात्मनोऽशुभभावः बहुसंसारहेतुः, तत्र ऋद्धिगौरवं राजपूजाचार्यत्वादिप्राप्तौ गर्वोऽप्राप्तौ वाञ्छा च । १। एवं रसगौरवं सुरसास्वादप्राप्तौ सातगौरवं सातं सुखं तत्प्रा(प्त्य)प्राप्तौ गर्वेच्छाभ्यां ज्ञेयं। त्रिषु दृष्टान्तो मथुरा( यां ) मंगुः सूरिः, स गौरवत्रयान्मृत्वा पुरक्षाले यक्षो भूतो जिह्वां प्रकाश्य चैत्यगवाक्षेन निःकास्य चैत्यासन्नं व्रजतो यतीन् दर्शयति मद्वद्रसगृद्धाः सगौरवाश्च न सन्त्विति वक्ति । ६ । 'पडि०' तिसृभिर्विराधनाभिर्योऽतिचार-स्तस्मात् प्रतिक्रामामि । तत्र ज्ञानस्य विराधना देशतः, खण्डना सा पञ्चधा—यथा ज्ञानस्य प्रत्यनीकतया १ निह्नवेन २ ज्ञान-ज्ञानवतां अत्याशातनया ३ अन्तरायेण ४ विसंवादयोगेन ५ च। तत्र प्रत्यनीकता पञ्चानां ज्ञानानां विरूपभाषणेन पञ्चधा । यथा मतिज्ञानं न भव्यं यत्सत्यं असत्यं च स्यात् । १ । श्रुतमपि न भव्यं येन सताऽपि दुर्गतिगमात् । २ । अवधिरपि रूपि-द्रव्यमात्रविषयात् । ३ । मनोज्ञानमपि नृक्षेत्रमात्रादित्वात् । ४ । केवलं तु समयद्वये साकारानाकारोपयोगरूपत्वान्मुण्डकेवल्यादी-नामपि स्वदेहदोषाद्यविनाशान्न भव्यमिति ५ । १ । गुरोः प्रत्यनीकतया निह्नवो गुरुपरावर्त्तकथनं २ अत्याशातना यथा 'काया वयाइं ते च्चिय, ते चेव पमाय अप्पमाया य । मोक्खाहिगारियाणं, जोइसजोणीहिं किं कज्जं' । एवं ज्ञानज्ञानवतां

करोति । ४ । ज्ञानस्य विसंवादयोगोऽकालस्वा-
अमम्बद्धमापणेन दूषयति । ३ । अन्तरायं पठतां कलहास्वाध्यायादिभिः करोति । ४ । ज्ञानस्य विसंवादयोगोऽकालस्वा-
ध्यायादिना । ५ । दर्शनं सम्यक्त्वं तद्विराधनापि पञ्चधा । दर्शनप्रत्यनीकतया यथा सम्यक्त्ववन्तोऽपि नरकं गता इति
निन्दया । १ । दर्शननिह्नवः दर्शनप्रभावकशास्त्राध्यापकपरावर्त्तकथनं २ । अत्याशातना किमेभिः कलहशास्त्रैरिति । ३ ।
अन्तरायं प्राग्वत् । ४ । दर्शनविसंवादयोगः शङ्कादिभिः । ५ । चारित्रं सर्वविरतिस्तस्य विराधना व्रतादिखण्डनेन । ७ ।
'पडि०' चतुर्भिः कषायैः, कष्यते हिंस्यते दुर्गतौ आत्मा एभिरिति कषायाः क्रोधमानाद्याः स्पष्टाः । ८ । 'पडि०' चतसृभिः-
(संज्ञाभिः), सं सामस्त्येन ज्ञानं आहारादेरभिलाषः संज्ञा आहारेच्छा, सा चतुर्भिः स्थानैरुत्पद्यते–ऊनकोष्ठतया १ क्षुद्वेद्योदयात्
२ आहारश्रवणोत्थमत्या ३ सदाऽऽहारमेव ध्यासतस्तदर्थोप योगेन ४ स्यात् । १ । भयसंज्ञा भयाविर्भावः चतुर्भिः स्थानैः–
हीनसत्त्वतया १ भयमोहोदयात् २ भयश्रवणोत्थमत्या ३ एकचित्ततया भये तदर्थोपयोगेन ४ । २ । मैथुनसंज्ञा मैथुनेच्छा
सापि चतुर्भिः–उपचितमांसशोणिततया १ वेदमोहनीयोदयेन २ मैथुनश्रवणाद्युत्थमत्या ३ गाढं मैथुने तदर्थोपयोगेन ४ । ३ ।
परिग्रहसंज्ञा परिग्रहेच्छा चतुर्भिः स्थानैः–अविविक्ततयाऽविवेकेनेत्यर्थः, अव्यक्ततयाऽज्ञानेनेति वा १ लोभोदयेन २
परिग्रहश्रवणाद्युत्थया मत्या ३ परिग्रहे तदर्थोपयोगेन ४ । ४ । आभिः संज्ञाभिः कृताभिर्यो दोषस्तस्य मिथ्या दुःकृतं । ९ ।
'पडि०' चतसृभिर्विकथाभिः–विरूपा कथा विकथा, तत्र स्त्रीकथा चतुर्द्धा–जातिकथा १ कुलकथा २ रूपकथा ३ नेपथ्य-
कथा ४ च । तत्र जातिकथा ब्राह्मणीप्रभृतीनामन्यतमां प्रशंसति द्वेष्टि वा १ । कुलकथा उग्रादिकुलजानामन्यतमां प्रशंसति
द्वेष्टि वा २ । रूपकथां आन्ध्रदेशप्रभृतीनामन्यतमारूपं प्रशंसति द्वेष्टि वा ३ । नेपथ्ये अन्यतमानां वेषं स्तौति निन्दति

वा ४ । १ । तथा भक्तं आहारः तत्कथा चतुर्द्धा–आवाप( वाप )कथा १ निर्वाप( र्वाप )कथा २ आरम्भकथा ३ निष्ठानकथा ४, तत्रावापा( वापा ) इति घृतशाकादीनि द्रव्याण्युच्यन्ते तेषां सङ्ख्यया कथाऽऽवाप( वाप )कथा यथाऽस्येयन्ति घृतपलानि इयन्ति शाकानि भोजने इति । १ । निर्वापा( र्वापा ) इति व्यञ्जनभेदास्तेषां कथा इयन्तोऽस्य शाकस्य भेदा भुज्यन्ते इति । २ । आरम्भकथा जीवविनाशकथा, यथाऽस्य भोजने इयन्तोऽजाद्या हन्यन्ते इति ३ । निष्ठानं रूपकसङ्ख्या तत्कथा भोजने इयन्तो रूपका लगन्त इति ४ । २ । देशकथा चतुर्द्धा–छन्दकथा १ विधिकथा २ विकल्पकथा ३ नेपथ्यकथा ४ । तत्र छन्दो गम्यागम्यं उच्यते तत्कथा यथा लाटानां मातुलजा गम्येत्यादि १ । विधिर्भोजनाभरणविवाहादिरचना तत्कथा २ । विकल्पो वापीकूपादिसौवादिरूपस्तथा सस्यनिष्पत्तिस्तद्युक्तिश्च तत्कथा विकल्पकथा ३ । नेपथ्ये स्त्रीत्वादिवेषकथा ४ । ३ । राजकथा चतुर्द्धा–निर्गमे ईदृगृद्ध्या निर्यातीति १ । अभिगमे आगमे ईदृगृद्ध्याऽऽयातीति २ । बले राज्ञ इयद्बलं गजादि ३ । कोशे इयन्तः कोशा इत्यादि ४ । १० । चूर्णौ राजकथाया अनु देशकथोक्ता । 'पडि०' चतुर्भिर्ध्यानैः तत्र चित्तैकाग्रता ध्यानं शुभं वा अशुभं( वा ), तत्रार्त्तरौद्राभ्यां कृताभ्यां धर्म्मशुक्लाभ्यामकृताभ्यामतिचारः । सामान्यतो ध्यानं सप्तधा, मानसं १ वाचिकं २ कायिकं ३ मानसवाचिकं ४ मानसकायिकं ५ वाचिककायिकं ६ मानसवाचिककायिकं ७ । मनस ऐकाग्र्यं मानसं १ वचस ऐकाग्र्यं वाचिकं २ एवं कायिकमपि ३ मनोवाचोरैकाग्र्यं मानसवाचिकं ४ एवं शेषाण्यपि भाव्यानि । परं यदा यस्य मनोयोगादियोगस्योत्कटता विवक्ष्यते तदा ध्यानं मानसादिभेदानाप्नोत्येवं सिद्धान्तयुक्तिः । एष्वाद्यतुर्यपञ्चमसप्तमानि छद्मस्थानां, द्वितीयतृतीये छद्मस्थानां सयोगिनां च, षष्ठं सयोगिनां । विशेषतो ध्यानं

चतुर्द्धाऽऽर्त्तादिभेदात् । अत्रान्तरे ध्यानस्वरूपज्ञापनाय श्रीजिनभद्रगणिकृतो ध्यानशतकाख्यो ग्रन्थो व्याख्यायते–'वीरं'

वीरं सुक्कज्झाणग्गि–दड्ढकम्मिंधणं पणमिऊणं । जोईसरं सरण्णं, झाणज्झयणं पवक्खामि ॥ १ ॥

शुक्लध्यानाग्निदग्धकर्म्मेन्धनं, योगो धर्म्यं शुक्लध्यानं सोऽस्ति येषां तैर्योगिभिः स्मर्यं ध्येयं शरण्यं शरणे हितं । प्रणम्य ध्यानाध्ययनं प्रवक्ष्यामि ॥ १ ॥ 'जं थि'

जं थिरमज्झवसाणं, तं झाणं जं चलं तयं चित्तं । तं होज्ज भावणा वा, अणुपेहा वा अहव चिंता ॥ २ ॥

यत् स्थिरं एकाग्रालम्बनं अध्यवसानं मनस्तद्ध्यानं, यच्चलं मनस्तच्चित्तमुच्यते । तच्चित्तमोघतस्त्रिधा भवेत् । 'भावणा वा' भाव्यते इति भावना ध्यानाभ्यासक्रिया, अनु पश्चात्प्रेक्षा स्मृतिध्यानाद्भ्रष्टस्य चित्तचेष्टानुप्रेक्षा वा । उक्तद्विभेदवर्जमनश्चेष्टा चिन्ताऽथवा ॥ २ ॥ 'अंतो'

अंतोमुहुत्तमेत्तं, चित्तावत्थाणमेगवत्थुंमि । छउमत्थाणं झाणं, जोगनिरोहो जिणाणं तु ॥ ३ ॥

इह ममाधिस्थैकोच्छ्वासनिःश्वासरूपप्राणसप्तकोत्थस्तोकसप्तकलवः, सप्तसप्ततिलवैर्मुहूर्त्तं तन्मध्यमन्तमुहूर्त्तं तन्मात्रमेकवस्तुनि चित्तावस्थानं छद्मस्थानां ध्यानं, जिनानां तु योगा मनोवाक्कायास्तेषां निरोधो निग्रहः शैलेश्यवस्थायां ध्यानं ॥३॥ 'अंतो'

अंतोमुहुत्तपरओ, चिंता झाणंतरं व होज्जाहि । सुचिरंपि होज्ज बहुवत्थुसंकमे झाणसंताणो ॥ ४ ॥

छद्मस्थानां अन्तर्मुहूर्त्तमात्रध्यानात्परतः चिन्ता प्रागुक्तरूपा ध्यानानन्तरं भावनानुप्रेक्षात्मकं वा भवेत् । एतच्चोत्तरकालभाविनि ध्याने सति स्यात्नान्यथा । तत्रापि ध्यानादूर्ध्वं चिन्ताध्यानानन्तरं वेत्याद्येवं सुचिरमपि बहुवस्तुसङ्क्रमे ध्यानस-

न्तानो भवेत् ॥ ४ ॥ ‘ अट्टं ’

अट्टं रुद्दं धम्मं, सुक्कं झाणाइ तत्थ अंताइं । निव्वाणसाहणाइं, भवकारणमट्टरुद्दाइं ॥ ५ ॥

ऋतं दुःखं तत्र भवं आर्त्तं १ क्रौर्यानुगतं रोदयति जीवं नरके इति रौद्रं २, चरणश्रुतधर्म्मानुगतं धर्म्म्यं ३, शोधयत्यष्टकर्म्माणि शुचं क्लमयतीति शुक्लं । ४ तत्रान्ते इति धर्म्यशुक्ले ॥ ५ ॥ चत्वार्यपि चतुर्द्धा, तत्राद्यभेदानाह ‘ अम ’

अमणुण्णाणं सद्दाइविसयवत्थूण दोसमइलस्स । धणिय विओगचिंतणमसंपओगाणुसरणं च ॥ ६ ॥

अमनोज्ञानां शब्दादिविषयाधारवस्तूनां द्वेषमलिनस्य जीवस्य ‘ धणियं ’ अत्यर्थं वियोगचिन्तनं यथा कथमेभिः सह वियोगः स्यादिति वर्त्तमानग्रहः, सति च वियोगेऽसम्प्रयोगानुस्मरणं । सदैवैभिः सहासम्प्रयोगो वियोगो भूयादित्यनेनैष्यत्कालग्रहः । चशब्दात्पूर्वमपि वियोगायोगयोर्मतत्वादतीतकालग्रहः ॥ ६ ॥ इति अनिष्टसम्प्रयोगनामा प्रथमो भेदः १ । ‘ तह ’

तह सूलसीसरोगाइवेयणाए विजोगपणिहाणं । तदसंपओगचिंता, तप्पडियाराउलमणस्स ॥ ७ ॥

तथाऽत्यर्थं शूलशीर्षरोगादिवेदनाया वियोगे प्रणिधानं दृढोऽभिप्रायः इति वर्त्तमानकालग्रहस्तथा तस्या वेदनाया अभावे सत्यसम्प्रयोगचिन्ता वियोगचिन्ता तत्प्रतिकाराकुलमनसो जीवस्य स्यात् । भविष्यातीतकालावत्र स्वयं ज्ञेयौ । वेदनाऽसम्प्रयोगनामा द्वितीयो भेदः २ ॥ ७ ॥ ‘ इट्ठा ’

इट्ठाणं विसयाईण, वेयणाए य रागरत्तस्स । अवियोगऽज्झवसाणं, तह संजोगाभिलासो य ॥ ८ ॥

इष्टानां विषयादीनां, आदिशब्दाद्वस्तूनां, इष्टाया वेदनायाश्च सातवेद्यरूपाया रागरक्तस्यावियोगाध्यवसानं दृढोऽभिप्रायः,

अनेन वर्त्तमानातीतकालौ गृहीतौ, तथा इष्टविषयादीनां सातवेदनायाश्च संयोगाभिलापश्च । अनेनैष्यत्कालग्रहः ॥ ८ ॥ इष्ट-
सम्प्रयोगनामा तृतीयो भेदः ३ । ' देविं '

देविंदचक्कवट्टित्तणाइं, गुणरिद्धिपत्थणमईयं । अहमं नियाणचिंतणमण्णाणाणुगयमच्चंतं ॥ ९ ॥

देवेन्द्रादीनां गुणा रूपादयः, ऋद्धिर्विभूतिस्तत्प्रार्थनामयमनेन तपसा देवेन्द्रः स्यामित्यादिरूपं निदानचिन्तनं । अज्ञाने-
नुगतमाश्रितमत्यन्तं ॥ ९ ॥ निदाननामा चतुर्थो भेदः ४ । ' एयं '

एयं चउव्विहं, रागदोसमोहंकियस्स जीवस्स । अट्टज्झाणं संसारवद्धणं तिरियगइमूलं ॥ १० ॥

चतुर्विधमार्त्तध्यानं रागद्वेषमोहैरङ्कितस्य लाञ्छितस्य जीवस्य ओघतः संसारवर्द्धनं । विशेषतस्तिर्यग्गतिमूलं ॥ १० ॥
ननु साधोरपि रोगेऽसमाधानं १ चिकित्साकृतौ च तद्वियोगध्यानापत्ते २ स्तथा तपःसंयमासेवने च संसारदुःखवियोगध्याना-
३ दार्त्तध्यानाप्तिः, उच्यते, सा रागादिवशगस्य स्यान्नान्यस्येत्याह ' मज्झ '

मज्झत्थस्स उ मुणिणो, सकम्मपरिणामजणियमेयंति । वत्थुस्सभावचिंतणपरस्स समं सहंतस्स ॥ ११ ॥

मध्यस्थस्यैव मुनेस्तुरवधारणे नान्यस्य, स्वकर्म्मपरिणामजनितमेतद्दुःखं इति वस्तुस्वभावचिन्तनपरस्य सम्यक् सहतः
कुतोऽसमाधिः ? अपि तु धर्म्म्यं ध्यानमेव ॥ ११ ॥ द्वितीयतृतीयपक्षावाश्रित्याह ' कुण '

कुणओ व पसत्थालंबणस्स पडियारमप्पसावज्जं । तवसंजमपडियारं च, सेवओ धम्ममणियाणं ॥ १२ ॥

प्रशस्तालम्बनस्य ज्ञानार्थालम्बनवतोऽल्पसावद्यं प्रतीकारं कुर्वतो वाऽनिदानं धर्म्यध्यानमेवेति सम्बन्धः, सूत्रे उत्सर्गा-

पवादयोरुक्तत्वात्, अन्यथा परलोकस्य साधयितुमशक्यत्वाच्च । तथा तपःसंयमावेव प्रतीकारौ भवदुःखानां, तं मोक्षेप्यनिदानं निदानरहितं यथा भवति सेवमानस्य धर्म्यमेव, तथा तत्त्वतो मोक्षेच्छापि निदानमेव परं भावनायामपरिणतं सत्त्वमाश्रित्य व्यवहारात् सा अदुष्टा, अनेनैव प्रकारेण तच्चित्तशुद्धेर्भावात् क्रियायाः प्रवृत्तियोगाच्च ॥ १२ ॥ 'रागो'

रागो दोसो मोहो य, जेण संसारहेयवो भणिआ । अट्टंमि य ते तिण्णिवि, तो तं संसारतरुबीयं ॥ १३ ॥

येन कारणेन रागादयः त्रयः संसारहेतवो भणिताः । ते च त्रयोऽप्यार्त्ते भवन्ति, ततस्तदार्त्तं संसारतरुबीजं ॥१३॥'कावो'

कावोयनीलकालालेस्साओ णाइसंकिलिट्ठाओ । अट्टज्झाणोवगयस्स कम्मपरिणामजणिआओ ॥ १४ ॥

कापोतनीलकृष्णलेश्या नातिसंक्लिष्टा रौद्रध्यानलेश्यापेक्षया आर्त्तध्यानं उपगतस्य प्राप्तस्य भवन्ति । तत्र कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यजनिता जीवपरिणामा लेश्या उच्यन्ते। ताः स्वकर्म्मपरिणामजनिताः। चूर्णौ कषाया अप्यार्त्तध्यानं ॥१४॥ 'तस्स'

तस्सऽक्कंदणसोयणपरिदेवणताडणाइं लिंगाइं । इट्ठाणिट्ठविओगाविओगवियणानिमित्ताइं ॥ १५ ॥

तस्य आर्त्तध्यानस्य लिङ्गानि—आक्रन्दन १ शोचन २ परिदेवन ३ ताडना ४ दीनि, क्रमात् विलाप १ साश्रुत्व २ दैन्यभाषण ३ शीर्षादिकुट्टनरूपाणि ४ । 'इट्ठा' कोऽर्थः इष्टवियोगानिष्टावियोगौ वेदना निमित्तं कारणं येषां तानीष्टानिष्टवियोगावियोगवेदनानिमित्तानि ॥ १५ ॥ 'निंद'

निंदइ य नियकयाइं, पसंसइ सविम्हओ विभूईओ । पत्थेइ तासु रज्जइ, तयज्जणपरायणो होइ ॥ १६ ॥

निजकृतान्यल्पफलविफलानि कार्याणि निन्दति, प्रशंसति स्तौति च सविस्मयः परविभूतीः, प्रार्थयते च परविभूतीः परर्द्धी-

स्तास्विति प्राप्तासु ऋद्धिषु रज्यति । तदर्जने तस्या ऋद्धेरर्जने परायणस्तत्परो भवति ॥१६॥ १५ भेदा आद्यभेदे, रोगादीनां त्रैकाल्यवियोगचिन्तनेन द्वितीये ३, तृतीये इष्टानां विषयानां सद्वेदनायाश्च त्रिकालेन १८ भेदाः, तूर्ये निदाने ९ भेदाः, एवं सर्वे ४५ । ' सद्दा '

सद्दाइविसयगिद्धो, सद्धम्मपरम्मुहो पमायपरो । जिणमयमणवेक्खंतो, वट्टइ अट्टंमि झाणंमि ॥ १७ ॥

शब्दादिविषयगृद्धो लम्पटः, सद्धर्म्मो जिनधर्म्मस्तस्मिन् पराङ्मुखः प्रमादपरो जीवो जिनमतमनपेक्ष्यमाणः आर्त्तध्याने वर्त्तते ॥ १७ ॥ ' तद '

तदविरयदेसविरयपमायपरसंजयाणुगं झाणं । सव्वप्पमायमूलं, वज्जेयव्वं जइजणेणं ॥ १८ ॥

तदार्त्तध्यानं अविरतदेशविरतप्रमादपरसंयतानां अनुगं पृष्ठतो लग्नं विद्यते । न तु अविरता(अप्रमत्ता)दीनामाश्रितमित्यर्थः ॥ १८ ॥ आर्त्तध्यानं समाप्तं । रौद्रं हिंसामृषास्तेयविषयसंरक्षणानुबन्धिभेदाच्चतुर्धा, क्रमेणाह—' सत्त '

सत्तवहवेहबंधणडहणंकणमारणाइपणिहाणं । अइकोहग्गहघत्थं, निग्घिणमणसोऽहमविवागं ॥ १९ ॥

सत्त्वा जीवास्तेषां वधः(धादि)प्रणिधानं । तत्र वधस्ताडनं, वेधो नासिकादौ, बन्धनं रज्वादिना, दहनं अग्निना, अङ्कनं लाञ्छनं, मारणं घातः, आदितो गाढपरितापपाटनादि । एषु प्रणिधानम्—अकुर्वतोऽपि (करणं प्रति) दृढं ध्यानं, अतिक्रोधग्रहग्रस्तं, क्रोधादानान्मानादयोऽपि ज्ञेयाः, निर्घृणमनसो निर्दयमनसोऽधमो विपाको नरकफलो यस्य । हिंसानुबन्धिनामा प्रथमो भेदः १ । १९ ॥ ' पिसु '

पिसुणासब्भासब्भूयभूयघायाइवयणपणिहाणं । मायाविणोऽइसंघणपरस्स पच्छन्नपावस्स ॥ २० ॥

पिशुनमनिष्टसूचकं, असभ्यमवाच्यम्, असद्भूतं व्यवहारात्रिधा—अभूतोद्भावनं यथा सर्वग आत्मा १, भूतनिह्नवो नास्त्यात्मा २, अर्थान्तराख्यानं गां अश्वमित्यादि वदतः ३, भूतानां घातो यत्र तत् छिन्द्धि भिन्द्धीत्यादि वचनं प्रति अप्रवृत्तस्यापि ध्यानं । मायाविनो वणिगादेरतिसन्धना वञ्चना तत्परस्य, प्रच्छन्नपापस्य कूटप्रयोगकारिणः, यद्वा धिग्जातिककुतीर्थिकादेरन्येषां पुरतोऽगुणमपि स्वं गुणवन्तं वदतः, यतोऽगुणः स्वं गुणित्वं(णवन्तं) वक्ति स महान् प्रच्छन्नपापः ॥ २० ॥ मृषानुबन्धिनामा द्वितीयो भेदः २ । 'तह'

तह तिव्वकोहलोहाउलस्स भूओवघायणमणज्जं । परदव्वहरणचित्तं, परलोयावायनिरवेक्खं ॥ २१ ॥

भूतानां जीवानां उपघातनं क्लेशकारकं अनार्यं पापमयं, किं तत् ? परद्रव्यहरणचित्तं परलोकेऽपायः कष्टं तन्निरपेक्षं ॥२१॥ स्तेयानुबन्धिनामा तृतीयो भेदः ३ । 'सद्दा'

सद्दाइविसयसाहणधणसारक्खणपरायणमणिट्ठं । सव्वाभिसंकणपरोवघायकलुसाउलं चित्तं ॥ २२ ॥

शब्दादिविषयानां साधनं हेतुः, तच्च तद्धनं च तत्संरक्षणपरायणमनिष्टं । 'सवा०' न वेद्मि कः किं कर्त्ता, तस्मात्सर्वेषां घातः श्रेयान् इति सर्वाभिशङ्कनेन परोपघातेन च कलुषाः कषायास्तैश्चाकुलं चित्तं ॥ २२ ॥ विषयसंरक्षणनामा चतुर्थो भेदः ४ । 'इय, एयं'

इय करणकारणाणुमइविसयमणुचिंतणं चउब्भेयं । अविरयदेसासंजयजणमणसंसेवियमहण्णं ॥ २३ ॥

एयं चउव्विहं, रागदोसमोहाउलस्स जीवस्स । रोद्दज्झाणं संसारवद्धणं नरयगइमूलं ॥ २४ ॥

एवं चतुर्भेदमनुचिन्तनं करणादिविषयं रौद्रं, देशाः संयताः श्राद्धाः । अधन्यं पापं एतद्रौद्रध्यानं चतुर्विधमित्यादि प्राग्वत् ' नरयगइ ' नरकगतिः ॥ २३–२४ ॥ ' कावो '

कावोयनीलकाला, लेसाओ तिव्वसंकिलिट्ठाओ । रोद्दज्झाणोवगयस्स, कम्मपरिणामजणियाओ ॥ २५ ॥

कापोतनीलकृष्णलेश्यास्तीव्रसंक्लिष्टा अतिसंक्लिष्टाः स्युः ॥ २५ ॥ ' लिङ्गा '

लिङ्गाइं तस्स उस्सण्णबहुलनाणाविहामरणदोसा । तेसिं चिय हिंसाइसु, बाहिरकरणोवउत्तस्स ॥ २६ ॥

दोषशब्दः प्रत्येकं सम्बध्यते । उत्सन्नदोषः १ बहुलदोषः २ नानाविधदोषः ३ आमरणदोषः ४ । तत्र उत्सन्नं अनुपरतं हिंसादीनामन्यतरस्मिन् दोषे प्रवर्त्तते इत्युत्सन्नदोषः १ । सर्वेष्वप्येवं प्रवर्त्तते इति बहुलदोषः २ । नानाविधेषु त्वक्तक्षणाक्ष्युत्खननादिहिंसाद्युपायेषु असकृदप्येवं प्रवर्त्तते नानाविधदोषः ३ । महदापद्गतोऽपि स्वतो महदापद्गतेऽपि चान्यस्मिन्नामरणं पश्चातापं नाधत्ते स आमरणदोषः ४ । एते दोषास्तस्य रौद्रध्यायिनो लिङ्गानि, किम्भूतस्य तेष्वेव हिंसादिषु आदिशब्दात् मृषावादादिषु बाह्यकरणाभ्यां वाक्कायाभ्यां उपयुक्तस्य प्रवृत्तस्य ॥ २६ ॥ ' पर '

परवसणं अहिनंदइ, निरवेक्खो निद्दओ निरणुतावो । हरिसिज्जइ कयपावो, रोद्दज्झाणोवगयचित्तो ॥ २७ ॥

परस्य व्यसनं कष्टं अभिनन्दति प्रशंसति, परव्यसने निरपेक्षो निर्दयो निरनुतापः पश्चातापरहितः, कृतपापो हृष्यति ॥२७॥ रौद्रध्याने प्रथमभेदे वध १ वेध २ बन्धन ३ दहन ४ अङ्कन ५ मारणानि ६ । द्वितीये पिशुन १ असभ्य २ असद्भूत ३

भूतघाताः ४ । तृतीये तुर्ये एकैको भेदः एवं १२, करणादित्रिकगुणिताः ३६, ते चतुःकषायैः १४४, एते रागद्वेषमोहैः ४३२, एते कालत्रयेण गुणिताः १२९६ । उक्तं रौद्रं । अथ धर्म्मध्यानस्य द्वारगाथे ' झाण ' ' तत्तो '

झाणस्स भावणाओ, देसं कालं तहाऽऽसणविसेसं । आलंबणं कमं झाइयव्वं जे य झायारो ॥ २८ ॥

तत्तोऽणुप्पेहाओ, लेस्सा लिंगं फलं च नाऊणं । धम्मं झाइज्ज मुणी, तक्कयजोगो तओ सुक्कं ॥ २९ ॥

ध्यानस्य भावनाः १ देशं २ कालं ३ आसनं ४ आलम्बनं ५ क्रमं ६ तथा ध्यातव्यं ७ ये च ध्यातारः ८ ततोऽनुप्रेक्षा ध्यानोपरमादनुभाविन्योऽनित्यत्वाद्यालोचनारूपाः ९ लेश्याः १० लिङ्गं ११ फलं १२ च ज्ञात्वा मुनिर्धर्म्मं ध्यायेत् । ' तक ' तत्कृतयोगो धर्म्मध्यानकृताभ्यासस्ततः शुक्लध्यानं ध्यायेत ॥ २८–२९ ॥ ' पुव '

पुव्वकयब्भासो, भावणाहि झाणस्स जोग्गयमुवेइ । ताओ य नाणदंसण–चरित्तवेरग्गजणियाओ ॥ ३० ॥

ध्यानात्पूर्वं भावनाभिः कृताभ्यासो ध्यानस्य योग्यतामुपैति । ताश्च ज्ञान १ दर्शन २ चारित्र ३ वैराग्य ४–जनिताः ॥ ३० ॥ तद्यथा ' णाणे '

णाणे णिच्चब्भासो, कुणइ मणोधारणं विशुद्धिं च । नाणगुणमुणियसारो झाइ सुनिच्चलमईओ ॥ ३१ ॥

ज्ञाने श्रुतज्ञाने नित्याभ्यासोऽशुभचिन्तारोधेन, मनोधारणं विशुद्धिं च सूत्रार्थयोः कुरुते एव । ज्ञानेन गुणानां जीवाजीवाश्रितानां चेतनादीनां पर्यायाणां च क्रमभाविनां ज्ञातसारस्तत्त्वं नित्यानित्यादिरूपं येन स तादृक्, ततः सुनिश्चितमतिर्ध्यायति ॥ ३१ ॥ ज्ञानभावना १ । ' संका '

संकाइदोसरहिओ, पसमथेज्जाइगुणगणोवेओ । होइ असंमूढमणो, दंसणसुद्धीए झाणंमि ॥ ३२ ॥

प्रश्रमः स्वान्यशास्त्रे प्रशमो वा तेन स्थैर्यादिगुणगणैश्चोपेतो दर्शनशुद्ध्या ध्यानेऽसंमूढमना भवति, दर्शनभावना २ ॥ ३२ ॥ ' नव '

नवकम्माणायाणं, पोराणविणिज्जरं सुभायाणं । चारित्तभावणाए, झाणमयत्तेण य समेइ ॥ ३३ ॥

चारित्रभावनया नवकर्म्मणामनादानं अग्रहणं, पुराणानां विनिर्जरं क्षपणं । शुभानि पुण्यकर्म्माणि सातवेद्यादीनि तेषां आदानं ग्रहणं । तथा अयत्नेन ध्यानं समेति लभते, चारित्रभावना ३ ॥ ३३ ॥ ' सुवि '

सुविदियजगस्सभावो, निस्संगो निब्भओ निरासो य । वेरग्गभावियमणो, झाणंमि सुनिच्चलो होइ ॥ ३४ ॥

सुष्ठु विदितो ज्ञातो जगत्स्वभावोऽनित्यतादिरूपो येन, निःसङ्गो नीरागो निराशोऽकृष्णः (निराशंसः), चशब्दादक्रोधादिः, य एवंविधः वैराग्यभावितमना भवति स खल्वज्ञानाद्युपद्रवरहितत्वाद् ध्याने सुनिश्चलो भवतीति गाथार्थः, वैराग्यभावना: ४ । ॥ ३४ ॥ अथ देशद्वारं ' निच्चं '

निच्चं चिय जुवइपसूनपुंसगकुसीलवज्जियं जइणो । ठाणं वियणं भणियं, विसेसओ झाणकालंमि ॥ ३५ ॥

यतेर्नित्यमपि युवत्यादिवर्जितं विजनं निर्जनं स्थानं भणितं, विशेपतो ध्यानकाले । तत्र कुशीला द्यूतिमुख्याः, उक्तं च ' जूइ य १ रसोल २ मिंठा, ३ चट्टा ४ उब्भामगाइणो जे य । एए हुंति कुशीला, वज्जेयव्वा पयत्तेण ' । १ । द्यूतिनो द्यूतकाराः, रसोलाः स्थानपाला आरक्षकाद्याः, रसोलाः कल्पपाला वा । मिंठा अश्वेमाद्युपासकाः । चट्टाश्छात्रदासादयः ।

उद्भ्रामकाः स्वैरिणः, आदिशब्दाद् याचकादयश्च । एते कुशीला उच्यन्ते । एतदवशीकृतयोगानां स्थानं ॥ ३५ ॥ 'थिर'

थिरकयजोगाणं पुण मुणीण झाणे सुनिच्चलमणाणं । गामंमि जणाइण्णे, सुण्णे रण्णे व ण विसेसो ॥ ३६ ॥

स्थिराः संहननधृतिभ्यां, तथा कृता योगा ज्ञानादिभावनादिव्यापाराः सत्त्वसूत्रतपोमुख्या वा यैस्ते अभ्यस्तयोगा इत्यर्थः । स्थिराश्च ते कृतयोगाश्च तेषां, मुनीनां ध्याने, सुष्ठु निश्चलमनसां, जनैराकीर्णे पूर्णे ग्रामे शून्येऽरण्ये वा न विशेषः ॥३६॥ 'तो ज'

तो जत्थ समाहाणं, होज्ज मणोवयणकायजोगाणं । भूओवरोहरहिओ, सो देसो झायमाणस्स ॥ ३७ ॥

यत्र देशे मनोवचनकाययोगानां समाधानं स्वास्थ्यं भवेत् । ननु मनःसमाधिरस्तु, वाक्कायसमाधिभ्यां तु किं ? तन्मयध्यानाभावात्, उच्यते तयोः समाधिर्मनोयोगोपकारीति ध्यानं तदात्मकं स्यादेव, यथेदृग्वाग् वाच्येति ध्यात्वा वक्तुर्वाचिकं ध्यानं, संलीनाङ्गस्याऽयतनात्यागः कायिकं । तथा यो भूतानामुपरोधः—संघट्टनादिस्तद्रहितश्च, यथा स देशो ध्यायत उचितः ॥३७॥ अथ कालद्वार० ३ 'कालो'

कालोऽवि सोच्चिय, जहिं जोगसमाहाणमुत्तमं लहइ । न उ दिवसनिसावेलाइनियमणं झाइणो भणियं ॥ ३८ ॥

कालोऽपि स एव ध्यानार्हः यत्र ध्याता योगानां समाधानमुत्तमं लभते, न तु दिवसनिशादिवेलाया नियमनं नियन्त्रणं ध्यायिनो भणितं, द्वा० ३ ॥ ३८ ॥ अथासनद्वा० ४ 'जच्चि'

जच्चिय देहावत्था, जिया ण झाणोवरोहिणी होइ । झाइज्जा तदवत्थो, ठिओ निसण्णो निवण्णो वा ॥ ३९ ॥

यैव निषण्णतादिरूपा देहावस्था, जिताऽभ्यस्ता, ध्यानस्योपरोधिनी पीडाकारिणी न स्यात्, सैवावस्था यस्य स तदवस्थः,

स्थितः कायोत्सर्गे, निषण्ण उपविष्टो निर्विण्णः शयितो वा ध्यायेत् ॥ ३९ ॥ यतः ' सव्वा '

सव्वासु वट्टमाणा, मुणओ जं देसकालचेट्ठासु । वरकेवलाइलाभं, पत्ता बहुसो समियपावा ॥ ४० ॥

चेष्टा देहावस्था उच्यन्ते । देशश्च कालश्च चेष्टाश्च देशकालचेष्टास्तासु, सर्वासु देशकालचेष्टासु वर्त्तमानाः शान्तपापाः सन्तो मुनयो वरकेवलज्ञानमनोज्ञानादिलाभं प्राप्ता बहुशः, केवलज्ञानवर्जमनेकवारान् ॥ ४० ॥ ' तो दे '

तो देसकालचेट्ठानियमो झाणस्स नत्थि समयंमि । जोगाण समाहाणं, जह होइ तहा पयइयव्वं ॥ ४१ ॥

योगानां मनोवाक्कायानां समाधानं भवति यथा, प्रयतितव्यं ॥ ४१ ॥ अथालम्बनद्वा० ५ ' आलं '

आलंबणाइ वायण–पुच्छणपरियट्टणाणुचिंताओ । सामाइयाइयाइं, सद्धम्मावस्सयाइं च ॥ ४२ ॥

धर्म्मध्यानालम्बनानि–सूत्रार्थदानं वाचना १ शङ्किते सूत्रादौ प्रश्नः २ गुणनं परिवर्त्तना ३ मनसा सूत्रार्थचिन्तनं अनुचिन्ता, ४ अमूनि श्रुतधर्म्माश्रितानि। अथ चरणधर्म्माश्रितान्याह ' सामा ' आदितः प्रतिलेखनादीनि, सद्धर्म्मश्चारित्रधर्म्मस्तस्यावश्यकानि ॥ ४२ ॥ ' विस '

विसमंमि समारोहइ, दढदव्वालंबणो जहा पुरिसो । सुत्ताइकयालंबो, तह झाणवरं समारुहइ ॥ ४३ ॥

विषमे दुर्गादौ, समारोहति सम्यगपरिक्लेशेनोर्ध्वं याति, कः ? दृढं बलवत् द्रव्यं रज्वादि, सूत्रादिकृतालम्बनो ध्यानवरं धर्म्यं, द्वा० ५ ॥ ४३ ॥ अथ क्रमद्वा० ६ ' झाण '

झाणप्पडिवत्तिकमो, होइ मणोजोगनिग्गहाईओ । भवकाले केवलिणो, सेसाण जहासमाहीए ॥ ४४ ॥

केवलिनो भवस्य काले शेषेऽन्तर्मुहूर्त्ते शैलेशीक्षणे ध्यानस्य प्रस्तावाच्छुक्लध्यानान्त्यभेदद्वयस्य प्रतिपत्तेः क्रमो मनोयोगनिग्रहादिः, आदितो वाक्कायनिग्रहः । शेषस्य धर्म्मध्यानस्य शुक्लाद्यभेदयोश्च प्रतिपत्तियोगानाश्रित्य यथासमाधिना प्रतिपत्तिक्रमः, परं प्रायः प्राक्कायवाग्योगरोधस्ततो मनोरोधः, द्वा० ६ ॥ ४४ ॥ अथ ध्यातव्यमाज्ञाविचय १ अपायविचय २ विपाकविचय ३ संस्थानविचय ४ भेदाच्चतुर्द्धा, तत्र विचयश्चिन्तनेन परिचयः । क्रमेणाह ' सुनि '

सुनिउणमणाइणिहणं, भूयहियं भूयभावणमहग्घं । अमियमजियं महत्थं, महाणुभावं महाविसयं ॥ ४५ ॥

सुनिपुणां सूक्ष्मद्रव्यादिदर्शकत्वात्, अनादिनिधनां, अर्थतः शाश्वतां, भूतहितां भूतं सत्यं भाव्यते अनया सा भूतभावना स्याद्वादवादिनी तामनर्घ्यां, अमूल्यां, अमितां एकैकसूत्रस्यानन्तार्थत्वात्, अजितां कुतीर्थिकैः, महान् प्रधानोऽर्थो यस्याः पूर्वापराविरोधित्वादनुयोगद्वारात्मकत्वात् नयमयत्वाच्च, महान् प्रभूतोऽनुभावो यस्याश्चतुर्दशपूर्विणां सर्वलब्धिमत्वात् तां, महाविषयां सर्वद्रव्यविषयत्वात् ॥ ४५ ॥ ' झाइ '

झाइज्जा निरवज्जं, जिणाणमाणं जगप्पईवाणं । अणिउणजणदुन्नेयं, नयभंगपमाणगमगहणं ॥ ४६ ॥

निरवद्यां द्वात्रिंशदलीकादिदोषाभावात्, ईदृशां जगत्प्रदीपानां जिनानामाज्ञाप्यन्ते सत्कर्म्माण्यनया जीवा इत्या(ज्ञा तामा)ज्ञां वाचं । अनिपुणजनदुर्ज्ञेयां, नया नैगमाद्याः, भङ्गा एकविधाद्याः, प्रमाणानि प्रत्यक्षादीनि, निगमाः सदृक्पाठाः तैर्गहनां ॥ ४६ ॥ ' तत्थ ' ' हेऊ '

तत्थ य मइदोब्बलेणं, तव्विहायरियविरहओ वावि । णेयगहणत्तणेण य, णाणावरणोदएणं च ॥ ४७ ॥

हेऊदाहरणासंभवे य, सइ सुट्ठु जं न बुज्झेज्जा । सव्वण्णुमयमवितहं, तहावि तं चिन्तए मइमं ॥ ४८ ॥

तत्राज्ञायां मतिदौर्बल्येन तद्विधः सम्यग् व्याख्याता आचार्यस्तस्य विरहतोऽभावात् ज्ञेयार्थस्य गहनत्वेन ज्ञानावरणोदयेन च, हेतुर्वह्न्याद्यर्द्रधूमवत्त्वादिः, उदाहरणं चरितकल्पितभेदं, तयोरसम्भवे सति, सुष्ठु यद्वस्तु न बुध्यते तथापि तद्वस्तु सर्वज्ञमतमित्यवितथं चिन्तयेत् मतिमान् ॥ ४७-४८ ॥ 'अणु'

अणुवकयपराणुग्गहपरायणा जं जिणा जगप्पवरा । जियरागदोसमोहा य, णण्णहावादिणो तेणं ॥ ४९ ॥

यज्जिनाः, अनुपकृते परैरुपकारेऽकृतेऽपि, परानुग्रहः कृपा, तत्र परायणाः, जगत्प्रवराः, तेन नान्यथावादिनः, रागः प्रीतिः, द्वेषोऽप्रीतिः, मोहोऽज्ञानं, आज्ञाविचयनामा भेदः ॥ ४९ ॥ 'राग'

रागद्दोसकसायासवादिकिरियासु वट्टमाणाणं । इहपरलोयावाओ, झाइज्जा वज्जपरिवज्जी ॥ ५० ॥

आश्रवा मिथ्यात्वाविरतियोगाः । आदिशब्दो रागादिनामनेकभेदवाची, क्रियाः कायिकाद्याः, रागादिषु क्रियासु वर्त्तमानानां इहपरलोकयोरपायान् कष्टानि ध्यायेत् । यथा राग इह भवेऽपि दुःखाय, दृष्टिरागादिभेदस्तु दीर्घभवाय, एवं द्वेषादयोऽपि, अवद्यपरिवर्जी, अपायविचयनामा भेदः २ ॥ ५० ॥ 'पय'

पयइठिइपएसाणुभावभिन्नं सुहासुहविहत्तं । जोगाणुभावजणियं, कम्मविवागं विचिंतेज्जा ॥ ५१ ॥

प्रकृतयः कर्मणां भेदा ज्ञानावरणाद्याः, स्थितिर्जघन्यादिभेदाः । प्रदेशो जीवप्रदेशमिलितकर्मपुद्गलस्कन्धः, अनुभवो रसः, तैर्भिन्नं भेदापन्नं, एतच्चतुर्द्धापि शुभाशुभाभ्यां विभक्तं । 'जोगा' योगा मनोवाक्कायाः, अनुभावा जीवगुणा मिथ्यात्वा-

विरतिकषायास्तैर्जनितं, कर्म्मविपाकं कर्म्मोदयः, विपाकविचयनामा भेदः ३ ॥ ५१ ॥ ' जिण '

जिणदेसियाइ लक्खणसंठाणासणविहाणमाणाइं । उप्पायट्ठिइभंगाइ, पज्जवा जे य दव्वाणं ॥ ५२ ॥

जिनदेशितानि जिनोक्तानि, षण्णां द्रव्याणां लक्षणसंस्थानासनविधानमानादीनि, चिन्तयेदितिषष्ठगाथोक्तेन सह सम्बन्धः । तत्र द्रव्याणि धर्म्मास्तिकायादीनि। धर्म्मास्तिकायस्य लक्षणं गतिः, कोऽर्थः ? जीवानां पुद्गलानां चाऽसौ गत्युपग्रहकारी मत्स्यानां जलवत् १ । अधर्म्मास्तिकायस्य लक्षणं स्थितिः, जीवानां पुद्गलानां चासौ स्थित्युपग्रहकारी मत्स्यानां स्थलवत् २ । आकाशास्तिकायस्य लक्षणं अवगाहः, सर्वद्रव्याणां स्थानत्वादपां घटवत् ३ । पुद्गलास्तिकायस्य लक्षणं मूर्तवर्णगन्धरसस्पर्शशब्दवत्त्वं पूरणगलनात्मकं च ४ । कालस्य लक्षणं अतिक्रमणवत्त्वं ५ । एतान्यजीवाः । जीवास्तिकायलक्षणं चैतन्यं ६ । संस्थानं आकारः, स लोकाकाशस्य तत्रवर्त्तिनां धर्म्माधर्म्मास्तिकायनैश्चयिककालानां केवलिसमुद्घातगतस्य लोकपूर्तिसमये जीवस्य कटिदत्तकरवैशाखसंस्थानस्थितपुरुषतुल्यः । वैशाखसंस्थानं विस्तारितपादाभ्यां स्यात् । समयावलिकादिकस्य व्यावहारिककालस्य संस्थानं नृक्षेत्रतुल्यं सूर्यचारप्रभवत्वात्, सूर्यचारश्च नृक्षेत्र एव, अन्यत्र पल्योपमादिव्यवहारः, एतदपेक्षया ज्ञेयः । पुद्गलानां संस्थानं वृत्तत्र्यस्रादि । देहस्थितजीवानां समचतुरस्रादि । आसनमाधारः, तच्च धर्म्मास्तिकायादीनां लोकाकाशं । विधानानि भेदास्ते च ' धम्मत्थिकाए 'इत्यादि, ' धम्मत्थिकायदेसे, धम्मत्थिकायपएसे 'इत्यादि मानानि प्रमाणानि, यथा धर्म्माधर्म्माकाशलोकास्तिकाया एको जीवश्च सममात्राः, अणुरेकप्रदेशस्थायी प्रदेशो निरंशो भागः । कालो नृक्षेत्रमानः । ' उप्पायठिई 'त्यादि व्याख्या—ये च द्रव्याणां उत्पादस्थितिभङ्गादिपर्यायास्तान् चिन्तयेत्, कथं ? सर्वं वस्तु

उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकं, यथा स्वर्णं घटत्वेन भग्नं मौलित्वेनोत्पन्नं सुवर्णत्वेन स्थिरमेव । गोरसं पयस्त्वेन नष्टं दधित्वेनोत्पन्नं
गोरसत्वेन स्थिरं । एवं धर्म्मास्तिकायादयोऽपि विवक्षितसमयसम्बन्धापेक्षयोत्पन्नाः, अतीतसमयापेक्षया विनष्टाः, द्रव्यत्वेन
तु स्थिराः । आदितोऽगुरुलघ्वादिपर्यायान् चिन्तयेत ॥ ५२ ॥ ' पंच '

पंचत्थिकायमइय, लोगमणाइणिहणं जिणक्खायं । णामाइभेयविहियं, तिविहमहोलोयभेयाइं ॥ ५३ ॥

पञ्चास्तिकायमयं, अस्तयः प्रदेशास्तेषां कायाः समुदाया अस्तिकायास्ते पञ्च, धर्म्माधर्म्माकाशजीवपुद्गलास्तिकायरूपा-
स्तन्मयं । कालोऽस्तिकायो न, तस्य स्थिरत्वेन प्रदेशचयाभावात् । तथाऽनादिनिधनं, जिनाख्यातं नामलोकादिपूर्वोक्ताष्टभेद-
भिन्नं, अधोलोकादिभेदं त्रिविधं लोकं चिन्तयेत् ॥ ५३ ॥ तत्र च ' खिइ '

खिइवलयदीवसागरनरयविमाणभवणाइसंठाणं । वोमाइपइट्ठाणं, नियय लोगट्ठिइविहाणं ॥ ५४ ॥

क्षितयो धर्म्माद्याः ईषत्प्राग्भारान्ताः ८ । वलयानि घनोदधिघनतनुवातात्मकानि भूमिसप्तको(क)परिक्षेपीणि, द्वीपाब्ध-
योऽसङ्ख्याः, निरया नरकाः, विमानानि ज्योतिष्कादीनां अनुत्तरान्तानां, भवनान्यसुरादीनां, आदितो व्यन्तरपुराणि तेषां
क्षितिवलयादीनां संस्थानमाकारविशेषं, ('वोमाइ') आदितो वाय्वादौ प्रतिष्ठानमवस्थितिर्यस्य तद्, नियतं शाश्वतं, लोकस्थिते-
र्विधानं प्रकारस्तच्चिन्तयेत् । उक्तः संस्थानविचयो धर्म्मध्यानस्य तुर्यो भेदः ४ ॥ ५४ ॥ प्रसङ्गात् ध्यातव्यविशेषमाह ' उव '

उवओगलक्खणमणाइनिहणमत्थतरं सरीराओ । जीवमरूविं कारिं, भोयं च सयस्स कम्मस्स ॥ ५५ ॥

उपयोगः साकारानाकारादिर्लक्षणं यस्य, शरीरादर्थान्तरं पृथग्भूतं, जीवमरूपिणं, कर्म्मणः कर्त्तारं, स्वकस्य कर्म्मणो

भोक्तारं ॥ ५५ ॥ ' तस्स ' ' अण्णा '

तस्स य सकम्मजणियं, जम्माइजलं कसायपायालं । वसणसयसावयमणं, मोहावत्तं महाभीमं ॥ ५६ ॥

अण्णाणमारुएरियसंजोगविजोगवीइसंताणं । संसारसागरमणोरपारमसुहं विचिंतेज्जा ॥ ५७ ॥

तस्य जीवस्य, स्वकर्मजनितं संसारसागरं चिन्तयेत्, किम्भूतं सागरं ? जन्मादिजलं जन्मादय एव जलं यत्र, कषायपातालकलशं, व्यसनशतश्वापदवन्तं, ' मण ' शब्दो मत्वर्थे, मोह एवावर्त्तो यत्र । अज्ञानमेव मारुतो वायुस्तेनेरितः प्रेरितः संयोगवियोगरूपो वीचीसन्तानः कल्लोलपरम्परा यस्मिन् तं, ' अणोरपारं ' अनाद्यनन्तं, अशुभं विचिन्तयेत् ॥ ६६–५७ ॥ ' तस्स ' ' संव ' ' आरो '

तस्स य संतरणसह सम्मद्दंसणसुबंधणमणग्घं । णाणमयकण्णधारं, चारित्तमयं महापोयं ॥ ५८ ॥

संवरकयनिच्छिद्दं, तवपवणाइद्धजइणतरवेगं । वेरग्गमग्गपडियं, विसोत्तियावीइनिक्खोभं ॥ ५९ ॥

आरोढुं मुणिवणिया, महग्घसीलंगरयणपडिपुन्नं । जह तं ते निव्वाणपुरं सिग्घमविग्घेण पावंति ॥ ६० ॥

तस्य च संसारसागरस्य ' सन्तरणसहं ' तरणाय क्षमं, तथा सम्यग्दर्शनमेव सुबन्धनं यस्य तं, अनघं निःपापं, अनर्घ्यं अमूल्यं वा, ज्ञानमयः कर्णधारो बेडीवाहो यत्र तं, चारित्रमयं चारित्रात्मकं, महापोतं, संवरेण निःछिद्रीकृतं, तपःपवनेनाऽऽविद्धस्य प्रेरितस्य जवनतरः शीघ्रतरो वेगो यस्य तं, वैराग्यमार्गे पतितं, विश्रोतसिका अपध्यानं ता एव वीचयस्ताभिर्निःक्षोभ्यं, मुनय एव वणिज आरुह्य, किम्भूतं पोतं ? महार्घाणि शीलाङ्गानि पृथ्व्याद्यारम्भत्यागरूपाणि तान्येव रत्नानि तैः प्रतिपूर्णं

भृतं । यथा परिनिर्वाणपुरं मुक्तिस्तत्पुरं शीघ्रमविघ्नेन प्राप्नुवन्ति ॥ ५८–६० ॥ ' तत्थ '

तत्थ य तिरयणविणिओगमइयमेगंतिय निराबाहं । साभावियं निरुवमं, जह सोक्खं अक्खयमुवेंति ॥ ६१ ॥

तत्र निवृत्तौ, त्रिरत्नी ज्ञानादिका तस्या विनियोगः क्रिया तस्मादुत्पन्नत्वात् तन्मयं, एकान्तिकं एकान्तभावि, निराबाधं स्वाभाविकं अकृत्रिमं, शाश्वतं, निरुपमं, सौख्यं यथोपयान्ति लभन्ते तथा विचिन्तयेत् ॥ ६१ ॥ ' किं ब '

किं बहुणा ? सव्वं चिय, जीवाइपयत्थवित्थरोवेयं । सव्वनयसमूहमयं, झायेज्जा समयसब्भावं ॥ ६२ ॥

किं बहुनोक्तेन ? जीवाजीवादिपदार्थविस्तरोपेतं, समयसद्भावं सिद्धान्तस्वरूपं ॥ ६२ ॥ उक्तं ध्यातव्यद्वारं । अथ ध्यातृद्वा० ७ ' सव '

सव्वप्पमायरहिया, मुणओ खीणोवसंतमोहा य । झायारो नाणधणा धम्मज्झाणस्स निद्दिट्ठा ॥ ६३ ॥

सर्वप्रमादरहिता इत्यप्रमत्ताः क्षीणमोहा उपशान्तमोहाश्च, मुनयो ज्ञानधना धर्म्मध्यानस्य ध्यातारः स्युः । अप्रमत्तोपशान्तमोहक्षीणमोहानां एकादशाङ्गविदां प्रायो धर्म्मध्यानं स्यात् ॥ ६३ ॥ लाघवार्थं शुक्लध्यानाद्यभेदयोरपि ध्यातॄनाह ' एए '

एएच्चिय पुव्वाणं, पुव्वधरा सुप्पसत्थसंघयणा । दोण्ह सजोगाजोगा, सुक्काण पराण केवलिणो ॥ ६४ ॥

अप्रमत्ता उपशामकाः क्षपकाश्च एते एव च प्रागुक्ताः शुक्लस्य पूर्वयोर्द्वयोर्भेदयोः पृथक्त्ववितर्कसविचारं एकान्तवितर्क अविचारं इत्यनयोर्ध्यातारः, परं चतुर्दशपूर्वधराः पूर्वेषूपयुक्ता एव सन्तो ध्यातारोऽन्ये तु मापतुषमरुदेव्यादयो यथासम्भव-

मप्रमत्तक्षीणमोहत्वादिविशेषेण युक्ता ध्यातारः, ' सुप्प ' आद्यसंहननाः। उपशामकस्य क्षपकस्य च केवलज्ञानादर्वाक् शुक्लध्यानाद्यभेदद्वयं स्यात् । परयोः शुक्लभेदयोः सूक्ष्मक्रियाऽनिवर्त्ति–उपरतक्रियाऽप्रतिपातिनोः क्रमात् सयोगायोगाः केवलिनो ध्यातारः, यतः ' सुक्कज्झाणाइदुगं वोलीणस्स तइयमप्पत्तस्स एयाए झाणंतरियाए वट्टमाणस्स केवलं उप्पज्जइ, केवली सुक्कलेसो अज्झाणी य जाव सुहमकिरियमनियट्टि 'त्ति ॥ ६४ ॥ उक्तं ध्यातृद्वारं, अथानुप्रेक्षाद्वा० ८ ' झाणो '

झाणोवरमेऽवि मुणी, णिच्चमणिच्चाइभावणापरमो । होइ सुभावियचित्तो, धम्मज्झाणेण जो पुव्विं ॥ ६५ ॥

यः पूर्वं धर्म्मध्यानेन सुभावितचित्तः स ध्यानोपरमे ध्यानविगमेऽपि नित्यमनित्यतादिभावनासु परमस्तत्परो भवेत् । गतमनुप्रेक्षाद्वारं ९ ॥ ६५ ॥ अथ लेश्याः ' हुन्ति '

हुन्ति कमविसुद्धाओ, लेसाओ पीयपम्हसुक्काओ । धम्मज्झाणोवगयस्स, तिव्वमंदाइभेयाओ ॥ ६६ ॥

धर्म्मध्यानोपगतस्य क्रमेण विशुद्धाः पीतपद्मशुक्ललेश्याः परिणामविशेषास्तीव्रमन्दादिभेदाः, आदिशब्दान्मध्यमाश्च स्युः, कोऽर्थः–जघन्ये शुभभावे पीतलेश्या, मध्यमे शुभभावे पद्मलेश्या, उत्कृष्टशुभभावे शुक्ललेश्या स्यात् । तत्र पीतलेश्या तेजोलेश्या, द्वा० १० ॥ ६६ ॥ अथ लिङ्गद्वा० ११ ' आग '

आगमउवएसाणाणिसग्गओ जं जिणप्पणीयाणं । भावाणं सद्दहणं, धम्मज्झाणस्स तं लिंगं ॥ ६७ ॥

आगमः सूत्रं १ उपदेशोऽर्थकथनं २ आज्ञाऽर्थः ३ निसर्गः स्वभावः ४ एभ्यश्चतुर्भ्यो यत् जिनप्रणीतानां श्रद्धानं । इह चूर्णिः ' लक्खणाणि इमाणि चत्तारि–आणारुईनिसग्गरुईसुत्तरुईओगाहणारुई । आणारुई तित्थगराणं पसंसन्ति, निसग्गरुई

समावतो जिणप्पणीए भावे रोचइ, सुत्तरुई सुत्तं पढन्तो संवेगमावजति, ओगाहणारुई णयवादभंगगुविलं सुत्तं अत्थतो मोऊण संवेगमावन्नसङ्को झायइ, ॥ ६७ ॥ ' जिण '

जिणसाहूगुणकित्तणपसंसणाविणयदाणसंपण्णो । सुअसीलसंजमरओ धम्मज्झाणी मुणेयव्वो ॥ ६८ ॥

जिनानां साधूनां गुणोत्कीर्त्तनं सामान्येन प्रशंसना स्तुतिस्ताभ्यां दानविनयाभ्यां च सम्पन्नः ॥ ६८ ॥ उक्तं लिङ्गद्वा० ११, फलद्वारं तु शुक्लध्यानाधिकारे वक्ष्यति । अथ शुक्लं, इहापि भावनादीनि द्वादशद्वाराणि । तत्राद्यानि चत्वारि तान्येव, आलम्बनादीनि त्वाह ' अह '

अह खंतिमद्दवज्जवमुत्तीओ जिणमयप्पहाणाओ । आलंबणाइं जेहिं, सुक्कज्झाणं समारुहइ ॥ ६९ ॥

क्षान्त्यादयः क्रोधादित्यागरूपाः ४ आलम्बनानि यैरालम्बनैः, तुरेवार्थे ॥ ६९ ॥ द्वा० ५ । अथ क्रमः, स चाद्ययोः शुक्लभेदयोः ' सेसस्स जहा समाहीए ' इत्युक्त्या धर्मध्याने एवोक्तः परमयं विशेषः ' तिहु '

तिहुयणविसयं कमसो, संखिविउ मणो अणुंमि छउमत्थो । झायइ सुनिप्पकंपो, झाणं अमणो जिणो होइ ॥ ७० ॥

त्रिभुवनविषयं मनः क्रमेण सूक्ष्मतरवस्तुध्यानरूपेण संक्षिप्याणौ निधायेति शेषः, ध्यायति शुक्लध्यानं । ततोऽपि प्रयत्नादणोरपि मनोऽपनीय अमना जिनः केवली स्यात् ॥ ७० ॥ ' जह '

जह सव्वसरीरगयं, मंतेण विसं निरुंभए डंके । तत्तो पुणोऽवणिज्जइ, पहाणयरमंतजोगेणं ॥ ७१ ॥

निरुध्यते दंशे, ततः पुनरपनीयते ॥ ७१ ॥ ' तह '

तह तिहुयणतणुविसयं, मणोविसं जोगमंतबलजुत्तो । परमाणुंमि निरुंभइ, अवणेइ तओवि जिणवेज्जो ॥ ७२ ॥

त्रिभुवनमेव तनुर्देहः, मन्त्रो जिनवचनं तस्य योगो ध्यानं तदेव बलं तेन युक्तः । परमाणौ निरुणद्धि, जिनवैद्यः क्षीणमोहरूपो वैद्यस्ततोऽप्यपनयति ॥ ७२ ॥ ' उस्सा '

उस्सारियेन्धणभरो, जह परिहाइ कमसो हुयासुव्व । थोविंधणावसेसो, निव्वाइ तओऽवणीओ य ॥ ७३ ॥

वा अथवा, यथापसारितेन्धनभरो हुताशः क्रमेण परिहीयते स च स्तोकेन्धनावशेषो हुताशमात्रं जातस्ततः स्तोकेन्धनादपनीतो निर्वाति ॥ ७३ ॥ ' तह '

तह विसइंधणहीणो, मणोहुयासो कमेण तणुयम्मि । विसइंधणे निरुंभइ, निव्वाइ तओऽवणीओ य ॥ ७४ ॥

तथा मनोहुताशो विषयेन्धनहीनः क्रियमाणः क्रमात् तनुके विषयेन्धनेऽणुरूपे निरुध्यते ॥ ७४ ॥ ' तोय '

तोयमिव नालियाए, तत्तायसभायणोदरत्थं वा । परिहाइ कमेण जहा, तह जोगिमणोजलं जाण ॥ ७५ ॥

' इव ' यथार्थे, नाडिकाया घटिकायाः छिद्रेण तोयं हीयते, 'वा' अथवा, तप्तायोभाजनोदरस्थं तोयं क्रमेण हीयते तथा ध्यानछिद्रेण ध्यानानलतप्तात्मपात्रस्थं वा छद्मस्थयोगिमनोऽम्बु हीयते, एवं जानीहि ॥ ७५ ॥ ' एवं '

एवं चिय वयजोगं, निरुंभइ कमेण कायजोगंपि । तो सेलेसोव्व थिरो, सेलेसी केवली होइ ॥ ७६ ॥

केवलिनोऽपि शैलेश्यारम्भक्षणेऽपि मनोरोधयुक्तिरित्थमेव । अथ तामुक्त्वा वाक्कायरोधयुक्तिमतिदिशति । एवमेव विषादिदृष्टान्तैः शैलेश्यां वाग्योगं क्रमेण काययोगं च निरुणद्धि । ततः शैलेश इव स्थिरः सन् शैलेशी केवली भवति । भावार्थो

नमस्कारनिर्युक्तेर्ज्ञेयः ॥ ७६ ॥ द्वा० ६ । अथ ध्येयं ' उप्पा '

उप्पायट्ठिइभंगाइपज्जयाणं जमेगवत्थुम्मि । नाणानयाणुसरणं, पुव्वगयसुयाणुसारेणं ॥ ७७ ॥

उत्पादस्थितिभङ्गादिपर्यायाणां यदेकद्रव्येऽण्वादौ नानानयैरनुसरणं चिन्तनं च । पूर्वगतश्रुतानुसारेणेति पूर्वविदामेव, मरुदेव्यादीनां तु श्रुतं विनापि ॥ ७७ ॥ तच्च ' सवि '

सवियारमत्थवंजण-जोगतरओ तयं पढमसुक्कं । होइ पुहुत्तवितक्कं, सवियारमरागभावस्स ॥ ७८ ॥

अरागभावस्य रागपरिणामरहितस्य अर्थव्यञ्जनयोगान्तरतो यत् सविचारं तत् पृथक्त्ववितर्कसविचारं नाम प्रथमं शुक्लं स्यात् । पृथक्त्वेन एकद्रव्याश्रितानामुत्पातादिपर्यायाणां भेदेन वितर्को यत्र तत् पृथक्त्ववितर्कं, विचारः सङ्क्रमो विद्यते यत्र तत्सविचारं । अर्थव्यञ्जनयोगान्तरतः—अर्थो द्रव्यं, व्यञ्जनं शब्दो, योगो मानसादिः, एतदन्तरत एतद्भेदेन, कोऽर्थः ? अर्थाद् व्यञ्जनं सङ्क्रामतीति, व्यञ्जनादर्थं, योगाद्योगान्तरं सङ्क्रामति, यथा मनोयोगाद् वाग्योगमित्यादि । तथाऽत्राऽरागस्योक्तं, चूर्णौ तु सुयनाणे उवउत्तो अत्थंमि य वंजणम्मि सवियारं । झायति चउदसपुव्वी, पढमं सुक्कं सरागो उ । १ । सुयनाणे उवउत्तो, अत्थंमि य वंजणंमि अवियारं । झायइ चउदसपुव्वी, सुक्कं बीयं विगयरागो । २ । अत्थसंकमणं चेव तहा वंजणसंकमं । जोगसंकमणं चेव, पढमे झाणे निगच्छई । ३ । अत्थसंकमणं चेव, तहा वंजणसंकमं । जोगसंकमणं चेव, बीए झाणे न विज्जई । ४ । जोगे जोगेसु वा पढमं बीयं जोगंमि कुन्दइ । तइयं च काइए जोगे, चउत्थं च अजोगिणो । ५ । पढमं बीयं च सुक्कं च, झायन्ति पुव्वजाणगा । उवसंतकसाएहिं, खीणेहिं व महामुणी ६ ॥ ७८ ॥ ' जं पु '

जं पुण सुणिप्पकंपं, निवायसरणप्पईवमिव चित्तं । उप्पायठिइभंगाइयाणमेगंमि पज्जाए ॥ ७९ ॥

यत्पुनरुत्पादस्थितिभङ्गादिनामेकस्मिन् पर्याये, निर्वातशरणगृहे प्रदीपवत्, सुनिःप्रकम्पं चित्तं स्यात् ॥ ७९ ॥ ' अवि '

अवियारमत्थवंजणजोगंतरओ तयं बितियसुक्कं । पुव्वगयसुयालंबणमेगत्तवितक्कमवियारं ॥ ८० ॥

अविचारं असङ्क्रमं, कुतोऽर्थव्यञ्जनयोगान्तरतः, तद् द्वितीयं शुक्लं, पूर्वगतश्रुतालम्बनं । किंनामेत्याह एकत्ववितर्कमविचारं । एकत्वेनाभेदेन वितर्को व्यञ्जनरूप एवार्थरूप एव वा यस्य ॥ ८ ॥ ' निव्वा '

निव्वाणगमणकाले, केवलिणो दरनिरुद्धजोगस्स । सुहुमकिरियाऽनियट्टिं, तइयं तणुकायकिरियस्स ॥ ८१ ॥

'दरनिरुद्ध'इत्यादि, मनोवाग्योगरोधादनन्तर्द्धरुद्धकाययोगस्य केवलिनो निर्वाणगमनकाले तत् स्यात्। किंनाम? तत्सूक्ष्मक्रियाऽनिवर्त्ति सूक्ष्मक्रियं तदनिवर्त्ति वा । तन्वी उच्छ्वासादिरूपा कायक्रिया यस्य, ' तत्थ दुसमयठिइयं इरियावहियं कम्मं बज्झइ ' ॥ ८२ ॥ ' तस्से '

तस्सेव य सेलेसीगयस्स, सेलोव्व णिप्पकंपस्स । वोच्छिन्नकिरियमप्पडिवाइज्झाणं परमसुक्कं ॥ ८२ ॥

तस्यैव केवलिनः, शैलेशीगतस्य शैल इव निःप्रकम्पस्य, व्युच्छिन्नक्रियं नाम योगाभावात्, अप्रतिपाति पाताभावात्, व्युच्छिन्नक्रियाप्रतिपातीतिनाम ध्यानं स्यात् ॥ ८३ ॥ ' पढ '

पढमं जोगे जोगेसु वा, मयं बितियमेव जोगंमि । तइयं च कायजोगे, सुक्कमजोगंमि य चउत्थं ॥ ८३ ॥

एकस्मिन् योगे, योगेषु वा त्रिष्वपि, मतं उक्तं, तच्च भङ्गिकश्रुतपाठिनः। द्वितीयं एकयोगेऽन्यतरस्मिन् सङ्क्रमाभावात् ।

॥ ८३ ॥ अमनस्कस्य कथं ध्यानमित्याह 'जह'

जह छउमत्थस्स मणो झाणं भण्णइ सुनिच्चलो संतो । तह केवलिणो काओ, सुनिच्चलो भण्णए झाणं ॥ ८४ ॥

यथा सुनिश्चलं मनः छद्मस्थस्य ध्यानं, तथा केवलिनः सुनिश्चलकायो ध्यानं भण्यते, तुर्ये तु ध्याने रुद्धत्वात्काययोगोऽपि नास्ति ॥ ८४ ॥ तत्र तु ध्यानत्वमेवं 'पुव्व' 'चित्ता'

पुव्वप्पओगओ च्चिय, कम्मविणिज्जरणहेउतो यावि । सद्दत्थबहुत्ताओ, तह जिणचंदागमाओ य ॥ ८५ ॥

चित्ताभावेवि सया, सुहुमोवरयकिरियाइ भण्णंति । जीवोवओगसब्भावओ, भवत्थस्स झाणाइं ॥ ८६ ॥

भवस्थयोगिनोऽयोगिनो वा चित्ताभावेऽपि सति सूक्ष्मोपरतक्रिये ध्यानभेदौ भण्येते, पूर्वप्रयोगादिति हेतुः चक्रभ्रमणादिति दृष्टान्तोऽभ्यूह्यः, यथा चक्रं भ्रमहेतुदण्डादिक्रियाभावेऽपि पूर्वप्रयोगाद् भ्रमति तथाऽस्य द्रव्यमनोयोगोपरमेऽप्युपयोगसद्भावात् भावमनोभावाद्भवस्थध्याने इति । अपि निर्णये हेत्वन्तराण्याह 'कम्मवि०' यथा क्षपकश्रेणौ कर्मनिर्जराभावात् ध्यानं तथान्यापि । 'सद्दत्थ०' ध्यानशब्दस्यार्थबहुत्वात्, यथा हरिशब्दोऽनेकार्थः तथा ध्यानशब्दोऽपि, 'ध्यै' चिन्तायाम्, 'ध्यै' कायनिरोधे अयोगित्वे इत्यपि । तथा जिनचन्द्रागमाज्जिनोक्तत्वादित्यर्थः । जीवोपयोगसद्भावतः सदेहजीवभावात् भवस्थस्य ध्याने स्तः ॥ ८५ ८६ ॥ गतं ध्यातव्यद्वा० ७. ध्यातारो धर्मध्याने एवोक्ताः । अथानुप्रेक्षा 'सुक्क'

सुक्कज्झाणसुभावियचित्तो, चिंतेइ झाणविरमेऽवि । णिययमणुप्पेहाओ, चत्तारि चरित्तसंपन्नो ॥ ८७ ॥

ध्यानविरमे ध्यानापगमेऽपि नियतमनुप्रेक्षाः, ताश्चेमाः ॥ ८७ ॥ 'आस'

आसवदारावाए तह, संसारासुहाणुभावं च । भवसंताणमणन्तं, वत्थूणं विपरिणामं च ॥ ८८ ॥

आश्रवद्वारेभ्योऽपायान् १ । संसाराशुभानुभावं २ । भवसन्तानमनन्तं ३ । वस्तूनां विपरिणामं अनित्यत्वाद्यं ४ । एताः ४ अपाय १ अशुभ २ अनन्त ३ विपरिणामाख्या ४ । अनुप्रेक्षा आद्यभेदयोरेव ॥ ८८ ॥ गतं अनुप्रेक्षाद्वा० ९ । ' सुक्का '

सुक्काए लेसाए, दो ततियं परमसुक्कलेस्साए । थिरयाजियसेलेसिं, लेसाईयं परमसुक्कं ॥ ८९ ॥

सामान्येन शुक्लायां द्वे आद्ये, तृतीयं परमशुक्लायां स्यात्, स्थिरताजितशैलेशं तुर्यं परमशुक्लं लेश्यातीतं ॥ ८९ ॥ गतं लेश्याद्वा० १० । अथ लिङ्गद्वा० ११ ' अव '

अवहासम्मोहविवेग–विउसग्गा तस्स होंति लिंगाइं । लिंगिज्जइ जेहिं मुणी, सुक्कज्झाणोवगयचित्तो ॥ ९० ॥

अवध १ असंमोह २ विवेक ३ व्युत्सर्गाः ४ । लिङ्ग्यते ज्ञायते ॥ ९० ॥ एषां व्याख्या ' चालि '

चालिज्जइ बीभेइ य, धीरो न परीसहोवसग्गेहिं । सुहुमेसु न संमुज्झइ, भावेसु न देवमायासु ॥ ९१ ॥

परिषहोपसर्गैर्ध्यानान्न चाल्यते धीरः स्थिरस्तेभ्यो न बिभेतीत्यवधः १ । ' सुहु० ' सूक्ष्मेष्वतिगहनेषु भावेष्वर्थेषु न च देवमायासु मुह्यतीत्यसंमोहः ॥ ९१ ॥ ' देह '

देहविवित्तं पेच्छइ, अप्पाणं तह य सव्वसंजोगे । देहोवहिवोसग्गं, निस्संगो सव्वहा कुणइ ॥ ९२ ॥

आत्मानं देहविविक्तं पश्यति तथा सर्वसंयोगान् विविक्तान् पश्यतीति विवेकः ३ । देहोपधिव्युत्सर्गं, निसङ्गः सर्वथा करोतीति व्युत्सर्गः ४ ॥ ९२ ॥ गतं लिङ्ग द्वा० ११ । धर्मशुक्लयोः फलमाह ' हुन्ति '

हुन्ति सुहासवसंवरविणिज्जरामरसुहाइं विउलाइं । झाणवरस्स फलाइं, सुहाणुबंधीणि धम्मस्स ॥ ९३ ॥

शुभाश्रवः पुण्याश्रवः, संवरोऽशुभकर्म्मागमरोधः, विनिर्जरा कर्म्मक्षयः, अमरसुखानि देवसुखानि, विपुलानि दीर्घस्थित्यादिभिर्धर्म्मध्यानवरस्य फलानि भवन्ति । 'सुहाणु०' सुकुलबोधिलाभभोगदीक्षामोक्षानुबन्धीनि ॥ ९३ ॥ 'ते य'

ते य विसेसेण, सुभासवादओऽणुत्तरामरसुहं च । दोण्हं सुक्काण फलं, परिनिव्वाणं परिल्लाणं ॥ ९४ ॥

ते च शुभाश्रवादयो विशेषेण द्वयोराद्ययोः, परयोः शुक्लयोः फलं परिनिर्वाणं मोक्षः ॥ ९४ ॥

आसवदारा ससारहेयवो, जं ण धम्मसुक्केसु । संसारकारणाइं तओ, धुवं धम्मसुक्काइं ॥ ९५ ॥

आश्रवद्वाराणि संसारहेतवस्तानि धर्म्मशुक्लयोर्यन्न सन्ति तस्माद्धर्म्मशुक्ले संसारकारणे न स्तः ॥ ९५ ॥ 'संव'

सवरविणिज्जराओ, मोक्खस्स पहो तवो पहो तासिं । झाणं च पहाणंगं, तवस्स तो मोक्खहेऊयं ॥ ९६ ॥

संवरनिर्जरे मोक्षस्य पन्थाः । तयोः संवरनिर्जरयोः पन्थाः तपः, तपसश्च प्रधानाङ्गं ध्यानं, ततो मोक्षहेतुः ॥९६॥ 'अंब'

अंबरलोहमहीणं, कमसो जह मलकलंकपंकाणं । सोज्झावणयणसोसे, साहेंति जलाणलाइच्चा ॥ ९७ ॥

यथा जलानलादित्या वस्त्रलोहमहीनां क्रमेण मलकलङ्कपङ्कानां शोध्या( ध्य )पनयनशोषान् साधयन्ति । कलङ्कः किट्टः ॥ ९७ ॥ 'तहा'

तह सोज्झाइसमत्था, जीवंबरलोहमेइणिगयाणं । झाणजलाणलसूरा, कम्ममलकलंकपंकाणं ॥ ९८ ॥

तथा ध्यानजलानलसूर्या जीवाम्बरलोहमेदिनीगतानां कर्म्ममलकलङ्कपङ्कानां शोध्यादिसमर्थाः शोध्या( ध्य )पनयन २

शोष २ समर्थाः ॥ ९८ ॥ ' तावो '

तावो सोसो भेओ, जोगाणं झाणओ जहा निययं । तह तावसोसभेया, कम्मस्सवि झाइणो नियमा ॥ ९९ ॥

तापो दुःखं, शोषः कार्श्यं, भेदो विदारणं, एते ध्यानाद् योगानां कायादीनां यथा स्युस्तथा ध्यायिनः कर्म्मणोऽपि तापादिकं जायते ॥ ९९ ॥ ' जह '

जह रोगासयसमणं, विसोहणविरेयणोसहविहीहिं । तह कम्मामयसमणं, झाणाणसणाइजोगेहिं ॥ १०० ॥

यथा रोगाशयस्य रोगनिदानस्य शमनं विशोधनविरेचनौषधादिभिः स्यात् । निदानं हेतु, विशोधनं लंघनं, तथा कर्म्माशयस्य कर्मकारणस्य रोगादेः शमनं ध्यानानशनादियोगैः स्यात् । अनशनं उपवासादिः । १०० ॥ ' जह '

जह चिरसचियमिंधणमनलो पवणसहिओ दुयं दहइ । तह कम्मेन्धणममियं, खणेण झाणाणलो डहइ ॥ १०१ ॥

' दुयं ' द्रुतं, कर्म्मेन्धनं अमितं ॥ १०१ ॥ ' जह '

जह वा घणसंघाया, खणेण पवणाहया विलिज्जति । झाणपवणावहूया, तह कम्मघणा विलिज्जंति ॥ १०२ ॥

यथा वा घनसंघाताः मेघसमूहा विलीयन्ते तथा कर्म्मघनाः ॥ १०२ ॥ तथा ' न क '

न कसायसमुत्थेहि य, वाहिज्जइ माणसेहिं दुक्खेहिं, ईसाविसायसोगाइएहिं झाणोवगयचित्तो ॥ १०३ ॥

ईर्ष्याविशेषा(षादा)दिभिश्च ॥ १०३ ॥ ' सीया '

सीयायवाइएहि य, सारीरेहिं सुबहुप्पगारेहिं । झाणसुनिच्चलचित्तो न वहिज्जइ निज्जरापेही ॥ १०४ ॥

शीतातपादिकैः शारीरैर्दुःखैः, अत्र कारणे कार्योपचारः । न विध्यते( बाध्यते ), निर्जराया अपेक्षी कर्म्मक्षयापेक्षकः ।
॥ १०४ ॥ द्वा० १२ ' इय '

इय सव्वगुणाधाणं, दिट्ठादिट्ठसुहसाहणं झाणं । सुपसत्थं सद्धेयं, नेयं झेयं च निच्चंपि ॥ १०५ ॥

एवं सर्वगुणानां आधानं स्थानं। श्रद्धेयं नान्यथेति, ज्ञेयं स्वरूपतो ध्येयं चिन्तनीयं क्रियया। एवं च रत्नत्रयमप्याराधितं स्यान्नित्यमपि सदैव, नन्वेवं शेषक्रियालोपः ? न, तदासेवनस्यापि तत्त्वतो ध्यानत्वात्। ततो नास्ति साधूनां क्रिया या आगमानुसारेण क्रियमाणा ध्यानं न स्यादिति ॥ १०५ ॥ समाप्तं ध्यानशतं । ' पडि '

**पडिक्कमामि पंचहिं किरियाहिं काइयाए अहिगरणियाए पाउसियाए पारितावणियाए पाणाइवायकिरियाए । ( सूत्रम् )**

पञ्चभिः क्रियाभिर्व्यापारैर्योऽतिचारः कृतस्तस्य मिथ्यादुःकृतेन प्रतिक्रामामि । तथा कायिक्या १ अधिकरणिक्या २ प्राद्वेपिक्या ३ पारितापनिक्या ४ प्राणातिपातक्रियया च ५ । तत्र कायेन भवा कायिकी, सा त्रिधाऽविरतकायिकी १ दुःप्रणिहितकायिकी २ उपरतकायिकी ३ । तत्र मिथ्यादृशोऽविरतस्य चोत्क्षेपणाद्या क्रिया कर्म्मबन्धहेतुः १ । द्वितीया प्रमत्तयतेः स्यात्, सा तु द्विधा इन्द्रियदुःप्रणिहितकायिकी नोइन्द्रियदुःप्रणिहितकायिकी च । तत्रेन्द्रियैर्दुःप्रणिहितस्येष्टानिष्टयोर्मनाक् रागद्वेषाभ्यां मोक्षं प्रति दुर्व्यवस्थितस्य कायिकीक्रिया कायव्यापारः १ । एवं नोइन्द्रियेण मनसा इष्टा-

निष्टयो रागद्वेषाभ्यां दुर्व्यवस्थितस्य कायिक्यपि २ । तृतीया उपरतकायिकी अप्रमत्तस्य सावद्योपरतस्य सावद्यान्निवृत्तस्य क्रिया ३ । १ । अधिक्रियते दुर्गतौ प्राण्यनेनेत्यधिकरणं, तत्र भवाऽधिकरणिकी । सा द्विधा प्रवर्त्तिनी निवर्त्तिनी च । आद्या यज्ञादिका यस्यां हिंसा प्रवर्त्तते । द्वितीया द्विधा मूलगुणविषया उत्तरगुणविषया च । तत्र मूलगुणविषया जन्तोः पञ्चदेहानां निवर्त्तनं १, उत्तरगुणविषया तदङ्गोपाङ्गानां निवर्त्तनं २ । यद्वा ' निव्वत्तण १ संजोयण २ थिरकरणे तह य ३ होइ निक्खेवे ४ । साइज्जण ५ समणुन्ना ६ परिग्गहे ७ संपयाणे य ८ ' ॥ १ ॥ तत्र निवर्त्तनं रथादीनां घटनं १ । संयोजनं मीलनं २ स्थिरीकरणं कीलकैः ३ निक्षेपणं गृहादौ स्थापनं ४ स्वादना परिभोगः ५ समनुज्ञाऽन्येषां भोगायानुमतिः ६ परिग्रहस्तेषां मूर्च्छा ७ सम्प्रदानं अन्येभ्यो दानं ८ इत्यादि । २ । जीवेऽजीवे च प्रद्वेषेण भवा प्राद्वेषिकी । ३ । स्वाङ्गेऽन्याङ्गे वा स्वहस्तेनान्यहस्तेन वा कुट्टनादिपरितापनभवा पारितापनिकी । ४ । कषायैर्मोहेन स्वर्गादीच्छया वा स्वं परं च घ्नतः स्वप्राणातिपातिकी परप्राणातिपातिकी च । ५ । अत्रोपलक्षणादन्याभ्योऽपि विंशतिक्रियाभ्यः प्रतिक्रामामि ता यथा—आरम्भिकी क्रिया १ पारिग्रहिकी २ मायाप्रत्यया ३ मिथ्यादर्शनप्रत्यया ४ अप्रत्याख्यानक्रिया ५ दृष्टिकी ६ स्पृष्टिकी ७ प्रातीत्यिकी ८ सामन्तोपनिपातिकी ९ नैशस्त्रिकी १० स्वाहस्तिकी ११ आज्ञापनी १२ वैदारणिकी वैचारणिकी वा १३ऽनाभोगिकी १४ अनवकाङ्क्षा १५ प्रयोगक्रिया १६ समुदानक्रिया १७ प्रेमवर्त्तिकी १८ द्वेषवर्त्तिकी १९ ऐर्यापथिकी चेति २० । तत्रारम्भिकी द्विधा जीवारम्भिकी अजीवारम्भिकी च । जीवानजीवांश्चारभते, तेषां आरम्भं छेदनाद्युपक्रमं कुर्यात् १ । पारिग्रहिकी द्विधा जीवाजीवपारिग्रहिकीभेदात्, जीवाजीवयोः परिग्रहं करोतीत्यर्थः २ । मायाप्रत्यया द्विधा आत्मपरभाववञ्चनाभ्यां,

परभाववञ्चना कूटलेखादिभिः ३ । मिथ्यादर्शनप्रत्यया द्विधा, अनभिग्रहिकमिथ्यादर्शनप्रत्ययाऽभिग्रहिकमिथ्यादर्शनप्रत्यया च । अनभिग्रहिकमिथ्यादर्शनं एकेन्द्रियविकलासंज्ञिनां, संज्ञिनामपि कुतीर्थिकमतप्रतिपत्तौ स्यात् । अभिग्रहिकमिथ्यादर्शनप्रत्यया द्विधा, हीनातिरिक्तदर्शने तदव्यतिरिक्तदर्शने च । तत्र हीनं यथाऽणुमात्र आत्मेत्यादि । अतिरिक्तं यथा सर्वत्र आत्मेत्यादि । तद्व्यतिरिक्तदर्शने यथा नास्त्यात्मेत्यादि ४ । अप्रत्याख्यानक्रिया जीवे अजीवे च विरतिमकुर्वतोऽविरतस्य स्यादिति सा द्विधा ५ । दृष्टिकी जीवाजीवयोर्दर्शनार्थं गमने ६ । पृच्छिकी जीवाजीवयोर्वृत्तान्तं रागेण द्वेषेण वा पृच्छतः अथवा स्पृष्टिकी रागद्वेषाभ्यां जीवमजीवं वा स्पृशतः ७ । एवं जीवाजीवौ प्रतीत्य रागद्वेषाभ्यां कर्म्मबन्धेन प्रातीत्यिकी ८ । स्वीयं जीवं अजीवं प्रति बहुलोकान् समन्तादुपनिपतत आयातो दृष्ट्वा यो हर्षविषादाभ्यां कर्म्मबन्धः सा सामन्तोपनिपातिकी । तत्र जनानां देशत आगमे देशसामन्तोपनिपातिकी सर्वत आगमे सर्वसामन्तोपनिपातिकी । यद्वा प्रमत्तर्षीणां अपिहिते भक्तपाने समन्तात्सम्पातिमजीवा उपनिपतन्ति म्रियन्ते च साऽपि ९ । नैशस्त्रिकी द्विधा जीवेऽजीवे च यथा राजाद्यादेशादुदकयन्त्रादिनोदकं निसृजति, तथा यन्त्रेण गोलादि निसृजति, यद्वा नैशस्त्रिकी जीवे जीवं निसृजति पुत्रं शिष्यं वा—अजीवे तु—सूत्रे ? (सूत्रव्यपेतं) वस्त्रादि (पात्रं) च १० । स्वाहस्तिकी जीवेऽजीवे वा, स्वहस्तेन ताडने ११ । आज्ञापनी जीवमजीवं वा परेणानाययतः ॥ १२ । वैदारणिकी जीवमजीवं वा विदारयतः । यद्वा जीवमजीवं व्यापारान्निजनिजभाषया परीप्सयतीति वैचारिकी, यद्वा जीवाजीवयोरसत्यगुणाख्यानात्परं विप्रतारयतो जीवाजीवविप्रतारणिकी १३ । अनाभोगेन विस्मृत्याऽप्रमृ-

जेति, एवं चतुर्भङ्गी स्यात् । तत्राद्यास्त्रयोऽप्रशस्ताः अन्त्ये सुप्रतिलेखितसुप्रमार्जितभङ्गः शुद्धः । तत्र गुरुर्ग्रामं यान् पात्रकेपूद्ग्राहितेषु हेतुना स्थितस्तस्यैकः शिष्य इदानीमेव प्रतिलिख्य( खित इति ) स्थापयन् साधुभिरुक्तोऽवक्तिमत्र सर्पोऽस्तीति संनिहितसुर्या सर्पः कृतः । एषोऽसमितः । समितौ तु एकः श्रेष्ठिसुतो दीक्षितः स उत्थितः पञ्चशतसाधुदण्डानत्वरितमचपलं ऊर्ध्वमधश्च प्रमृज्यार्पयति मुञ्चति । ४ । उच्चारो विट्, प्रश्रवणं मूत्रं, खेलः श्लेष्मा, सिंघाणो घ्राणश्लेष्मा, जल्लो देहमलस्तेषां परीति युक्त्या स्थापनं सुप्रतिलेखितसुप्रमार्जितभुवि त्यागः उच्चारप्रश्रवणखेलसिंघानजल्लपरिष्ठापनं तत्र भवा उच्चारेत्यादिपारिष्ठापनिका । इह धर्म्मरुचिरात्तमात्रकपरिष्ठापननियम आसनकम्पादिन्द्रस्तुत्यां पुरो मात्रे भृते साधुष्वाकुलेषु मिथ्यादृग्देवकृतकीटिकासु ज्ञातासु मूत्रं पिबन् देवेन नत्वाऽरक्षि । तथा एकः क्षुल्लः सायं स्थण्डिलानि न प्रतिलिखितानीति रात्रौ पीडितो निरोधम् कुर्वन् सुरीकृतोद्योद्ध्रुवं वीक्ष्य व्युत्सृष्टवान्, तथैकः क्षुल्लः किं उष्ट्रा निविष्टाः सन्तीति सप्तविंशतिस्थण्डिलान्यप्रतिलिखन् सुर्या उष्ट्रान् विकुर्व्य उष्ट्रमुत्थापयन् बोधितः । अत्र सम्बन्धायाता पारिष्ठापनिकीनिर्युक्तिः ' पारि '

पारिट्ठावणियविहिं, वोच्छामि धीरपुरिसपण्णत्तं, जं णाऊण सुविहिया, पवयणसारं उवलहंति ॥ १ ॥

परि सर्वभेदैः स्थापनं अपुनर्ग्रहणतया न्यासः परिस्थापना तया निर्वृत्त्या पारिस्थापनिकी समितिस्तस्या विधिः । धीरपुरुषैरर्थतोऽर्हता, सूत्रतो गणधरैः प्रज्ञप्तं, सुष्ठु विहितं अनुष्ठानं येषां ते सुविहिताः, प्रवचनं सिद्धान्तस्तस्य सारं उपलभन्ते ॥ १ ॥ ' एगिं '

एगिंदियनोएगिंदिय—पारिट्ठावणिआ समासओ दुविहा, एएसिं तु पयाणं, पत्तेय परूवणं वोच्छं ॥ २ ॥

पारिष्ठापनिकी समासतो द्विधा, एकेन्द्रियैर्नोएकेन्द्रियैश्च हेतुभूतैः। नोएकेन्द्रियास्त्रसादयः। 'एए' अनयोः एकेन्द्रिय-
नोएकेन्द्रियपदयोः । २ । 'पुढ'

पुढवी आउक्काए, तेऊ वाऊ वणस्सई चेव। एगिंदिय पंचविहा, तज्जाय तहा य अतज्जाय ॥ ३ ॥

पृथ्व्यादय एकेन्द्रियाः पञ्चविधा, एषां पारिस्थापनिकी द्विधा, तज्जाता तथाऽतज्जाता च। भावार्थोऽग्रे वक्ष्यते ।३। 'दुवि'

दुविहं तु होइ गहणं, आयसमुत्थं च परसमुत्थं च। एक्केक्कंपि य दुविहं, आभोगे तह अणाभोगे ॥ ४ ॥

ननु गृहीतं परिस्थाप्यते, पृथ्व्यादीनां त्वादानं कथं? उच्यते, द्विविधं ग्रहणं, स्वयं गृह्णत आत्मसमुत्थं, परस्माद् गृह्णतः परसमुत्थं। एकैकं द्विधा, आभोगे उपयोगे, अनाभोगेऽनुपयोगे च स्यात् ॥ ४ ॥ अत्र चूर्णिवृत्त्यर्थानुयायिगाथाः— 'आय' स्पष्टा 'से' इति तस्य साधोः ॥ ५ ॥ 'आय' आभोगतः आत्मसमुत्थं ग्रहणं अद्यादिना दष्टे साधौ भवेत् । तत्रेमा वक्ष्यमाणा यतना ॥ ६ ॥ 'मग्गि' प्रथमं गृहिभ्यः पृथ्वीकायोऽचित्तो मार्ग्यते, दायकाद्यभावे तु पश्चात् स्वयमानीयते । अचित्ताभावे एवं मिश्रो द्विविधो याच्यते आनीयते चेत्यर्थः, ततः सचित्तो वापि द्विधा याच्यते आनीयतेऽपि ॥ ७ ॥ तद्यथा 'हल' हलखननोत्थकुड्यलग्नो मिश्रः पूर्वं मृग्यते, ततः पश्चादलाभे आनीयतेऽटव्याः पथः वल्मीकदग्धक्षेत्रेभ्यश्च आनीयते ॥ ८ ॥ 'मग्गि' मिश्रालाभे सचित्तो मार्ग्यते, अलाभे 'आणि' इति यतनां कुर्यात् ।

१ एता मूलगाथाः क्वापि न लब्धा अतो न लिखिताः, किन्तु यथा ग्रन्थकारेण तद्व्याख्या कृता तत्तथैव अत्र दर्शिता, एवमग्रेऽपि यत्र यत्र मूलगाथानुपलब्धिस्तत्र तत्र एवमेवमवगन्तव्यम् ।

ज्याऽऽदानादि कुर्वतः असमीक्ष्य गमनादि कुर्वतश्चानाभोगिकी १४ । इहपरलोकयोराकाङ्क्षया लोकविरुद्धस्य चौर्यादेः करणेनानाकाङ्क्षावृत्तिः १५ । प्रयोगक्रिया त्रिधा—मनःप्रयोगादिः, दुर्ध्यानादिना दुष्टमनोवाकाययोगान् कुर्वतः १६, समन्तादुपादानं अष्टकर्म्मणां समुपादानक्रिया, सा द्विधा—देशोपघातसमुपादानक्रिया सर्वोपघातसमुपादानक्रिया च । तत्र देशोपघातः कस्यापीन्द्रियं देशेन घ्नतः, सर्वोपघातः सर्वत इन्द्रियं घ्नतः १७ । प्रेमवर्त्तिकी मायालोभाभ्यां प्रेम कुर्वतः रागहेतु–वाक्यं वोदाहरतः १८ । द्वेषवृत्तिः (वर्त्तिकी) क्रोधमानौ स्वयं कुर्वतोऽन्यस्य वोत्पादयतः १९ । ऐर्यापथिकी द्विधा बध्यमाना वेद्यमाना च, साऽप्रमत्तर्षेः वीतरागछद्मस्थस्य केवलिनो वाऽऽयुक्तं गच्छतस्तिष्ठतः शयानस्येत्यादि । आयुक्तं सर्वकार्यं कुर्वतो यावच्चक्षुःपक्ष्ममेषोन्मेषावपि कुर्वतः स्यात् । तस्यामाद्यसमये कर्म्म बध्यते, द्वितीये वेद्यते, तृतीये निर्जीर्यते च २० । एताः क्रियाः शुभाशुभकर्म्माश्रवाः स्युः ॥ ११ ॥ पडि०

**पडिक्कमामि पंचहिं कामगुणेहिं—सद्देणं रूवेणं रसेणं गंधेणं फासेणं । ( सूत्रम् )**

काम्यन्ते इति कामाः, जीवस्य बन्धनहेतुत्वाद् गुणवद् गुणाः । कामा एव गुणाः कामगुणाः, तत्र शब्देन रूपेण रसेन गन्धेन स्पर्शेन रक्तो द्विष्टो वा कर्म्मणा घोरं बध्यते, दीर्घसंसारं कुरुते । ‘ पडि ’

**पडिक्कमामि पंचहिं महव्वएहिं—पाणाइवायाओ वेरमणं मुसावायाओ वेरमणं अदिण्णादाणाओ वेरमणं मेहुणाओ वेरमणं परिग्गहाओ वेरमणं । ( सूत्रम् )**

व्रतं नियमः महच्च तद्व्रतं च महाव्रतं । इह महाव्रतैः सद्भिः क्षायोपशमिकभावादौदयिकभावकरणेन योऽतिचारस्तस्मात्प्र-
तिक्रामामि । तत्र मार्दवक्षमाक्रियारुचित्वादिः साधोः क्षायोपशमिको भावः, क्रोधाव्रतादिरौदयिको भावः कर्म्मोदयहेतुत्वा-
दतः स वार्य एव ॥ १३ ॥ ' पडि '

पडिक्कमामि पंचहिं समिईहिं—ईरियासमिइए, भासासमिइए, एसणासमिइए, आयाणभंड-
मत्तनिक्खेवणासमिइए उच्चारपासवणखेलजल्लसिंघाणपारिट्ठावणियासमिइए । ( सूत्रम् )

सं सामस्त्येन इतिः पुण्यभावेन गतिः समितिः, शुभव्यापारप्रवृत्तिरित्यर्थः । तत्रेर्या गमनं, तस्यां समितिः, यथा रथादि-
क्षुण्णेऽर्करश्मितप्तेऽध्वनि ज्ञानालम्बनेन यतनया युगमात्रदृष्ट्या गतिः । तत्र धर्म्मरुचेर्मण्डुकीदयादृष्टान्तः । भाषायां समितिः
हितमितासन्दिग्धभाषणं, तत्र दुर्गरोहे साधुपार्श्वे वैरिपृच्छायां ' बहुं सुणेइ कन्नेहिं ' इत्युत्तरं । एषणा—गवेषणा—ग्रहणैषणा—
ग्रासैषणाभेदात्त्रिधा । तत्र गोचरगतेनर्षिणा सम्यगुपयुक्तेन नवकोटीशुद्धं ग्राह्यं । तत्र सचित्तं न हन्ति १ न हनयति २ घ्नन्तं
वा नानुमन्यते ३ । न पचति १ न पाचयति २ पचन्तं नानुमन्यते ३ । न क्रीणाति १ न क्रापयति २ क्रीणन्तं नानु-
मन्यते । एवं नवकोटीशुद्धं । तत्र पञ्चर्षयो महाध्वोत्तारे क्षुत्तृट्क्रान्ता ग्रामेऽशुद्धाम्बु अलात्वा मृताः । आदानभाण्डमात्र-
निक्षेपणासमितिः—भाण्डं सामान्यतः उपकरणं तदेव भाण्डमात्रं तस्यादाने निक्षेपणे च समितिः । इह सप्त भङ्गाः स्युः—
पात्रादि न प्रतिलिखति न प्रमार्जति । एवं चतुर्भङ्गी, तत्र प्रतिलिखति प्रमार्जतीति तुर्ये भङ्गे दुष्टु प्रतिलिखति दुष्टु प्रमा-

जति, एवं चतुर्भङ्गी स्यात् । तत्राद्यास्त्रयोऽप्रशस्ताः अन्त्ये सुप्रतिलेखितसुप्रमार्जितभङ्गः शुद्धः । तत्र गुरुर्ग्रामं यान् पात्रकेषूद्ग्राहितेषु हेतुना स्थितस्तस्यैकः शिष्य इदानीमेव प्रतिलिख्य( खित इति ) स्थापयन् साधुभिरुक्तोऽवक्रिमत्र सर्पोऽस्तीति संनिहितसुर्या सर्पः कृतः । एषोऽसमितः । समितौ तु एकः श्रेष्ठिसुतो दीक्षितः स उत्थितः पञ्चशतसाधुदण्डानत्वरितमचपलं ऊर्ध्वमधश्च प्रमृज्यार्पयति मुञ्चति । ४ । उच्चारो विट्, प्रश्रवणं मूत्रं, खेलः श्लेष्मा, सिंघाणो घ्राणश्लेष्मा, जल्लो देहमलस्तेषां परीति युक्त्या स्थापनं सुप्रतिलेखितसुप्रमार्जितभुवि त्यागः उच्चारप्रश्रवणखेलसिंघानजल्लपरिष्ठापनं तत्र भवा उच्चारेत्यादि-पारिष्ठापनिका । इह धर्म्मरुचिरात्तमात्रकपरिष्ठापननियम आसनकम्पादिन्द्रस्तुत्यां पुरो मात्रे भृते साधुष्वाकुलेषु मिथ्यादृग्देवकृतकीटिकासु ज्ञातासु मूत्रं पिबन् देवेन नत्वाऽरक्षि । तथा एकः क्षुल्लः सायं स्थण्डिलानि न प्रतिलिखितानीति रात्रौ पीडितो निरोधम् कुर्वन् सुरीकृतोद्याद्धुवं वीक्ष्य व्युत्सृष्टवान्, तथैकः क्षुल्लः किं उष्ट्रा निविष्टाः सन्तीति सप्तविंशतिस्थण्डिलान्यप्रतिलिखन् सुर्या उष्ट्रान् विकुर्व्य उष्ट्रमुत्थापयन् बोधितः । अत्र सम्बन्धायाता पारिष्ठापनिकीनिर्युक्तिः ' पारि '

पारिट्ठावणियविहिं, वोच्छामि धीरपुरिसपण्णत्तं, जं णाऊण सुविहिया, पवयणसारं उवलहंति ॥ १ ॥

परि सर्वभेदैः स्थापनं अपुनर्ग्रहणतया न्यासः परिस्थापना तया निर्वृत्त्या पारिस्थापनिकी समितिस्तस्या विधिः । धीरपुरुषैरर्थतोऽर्हता, सूत्रतो गणधरैः प्रज्ञप्तं, सुष्ठु विहितं अनुष्ठानं येषां ते सुविहिताः, प्रवचनं सिद्धान्तस्तस्य सारं उपलभन्ते ॥ १ ॥ ' एगिं '

एगिंदियनोएगिंदिय—पारिट्ठावणिआ समासओ दुविहा, एएसिं तु पयाणं, पत्तेय परूवणं वोच्छं ॥ २ ॥

पारिष्ठापनिकी समासतो द्विधा, एकेन्द्रियैर्नोएकेन्द्रियैश्च हेतुभूतैः। नोएकेन्द्रियास्त्रसादयः। 'एए' अनयोः एकेन्द्रिय-
नोएकेन्द्रियपदयोः । २ । 'पुढ'

पुढवी आउक्काए, तेऊ वाऊ वणस्सई चेव। एगिंदिय पंचविहा, तज्जाय तहा य अतज्जाय ॥ ३ ॥

पृथ्व्यादय एकेन्द्रियाः पञ्चविधा, एषां पारिस्थापनिकी द्विधा, तज्जाता तथाऽतज्जाता च। भावार्थोऽग्रे वक्ष्यते ।३। 'दुवि'

दुविहं तु होइ गहणं, आयसमुत्थं च परसमुत्थं च । एक्केक्कंपि य दुविहं, आभोगे तह अणाभोगे ॥ ४ ॥

ननु गृहीतं परिस्थाप्यते, पृथ्व्यादीनां त्वादानं कथं ? उच्यते, द्विविधं ग्रहणं, स्वयं गृह्णत आत्मसमुत्थं, परस्माद् गृह्णतः
परसमुत्थं। एकैकं द्विधा, आभोगे उपयोगे, अनाभोगेऽनुपयोगे च स्यात् ॥ ४ ॥ अत्र चूर्णिवृत्त्यर्थानुयायिगाथाः—
'आय' स्पष्टा 'से' इति तस्य साधोः ॥ ५ ॥ 'आय' आभोगतः आत्मसमुत्थं ग्रहणं अद्यादिना दष्टे साधौ भवेत् ।
तत्रेमा वक्ष्यमाणा यतना ॥ ६ ॥ 'मग्गि' प्रथमं गृहिभ्यः पृथ्वीकायोऽचित्तो मार्ग्यते, दायकाद्यभावे तु पश्चात् स्वय-
मानीयते । अचित्ताभावे एवं मिश्रो द्विविधो याच्यते आनीयते चेत्यर्थः, ततः सचित्तो वापि द्विधा याच्यते
आनीयतेऽपि ॥ ७ ॥ तद्यथा 'हल' हलखननोत्थकुड्यलग्नो मिश्रः पूर्वं मृग्यते, ततः पश्चादलाभे आनीयतेऽटव्याः
पथः वल्मीकदग्धक्षेत्रेभ्यश्च आनीयते ॥ ८ ॥ 'मग्गि' मिश्रालाभे सचित्तो मार्ग्यते, अलाभे 'आणि' इति यतनां कुर्यात् ।

१ एता मूलगाथाः क्वापि न लब्धा अतो न लिखिताः, किन्तु यथा ग्रन्थकारेण तद्व्याख्या कृता तत्तथैव अत्र दर्शिता, एव-
मग्रेऽपि यत्र यत्र मूलगाथानुपलब्धिस्तत्र तत्र एवमेवमवगन्तव्यम् ।

नवरं आशु शीघ्रं कारः करणं यत्र तस्मिन्नाशुकारिणि त्वरितें कार्ये नायं अचित्तमिश्रादियतनाया नियमः । येन सचित्तादिना कार्यं तदन्यदत्तं स्वयं (वा) ग्राह्यमित्यर्थः । एवं लवणाद्यपि, उक्तं आत्मसमुत्थं ग्रहणं आभोगात् ॥ ९ ॥ 'आय' अनाभोगाद्यथा–अजीवं प्रासुकं लवणादि याचितं । अज्ञानात्तु मिश्रादि लायात्, दाता वा खण्डे मधुधूलौ याचिते लवणं दद्यात्तच्चात्तं इति कदापि स्यात् ॥ १० ॥ 'एए' एतेनात्मसमुत्थेन द्विधावर्णितेन परसमुत्थं द्विविधमपि वर्णितं जानीहि । 'जम्हा' यस्मात् यत्परः कथंचिदाभोगानाभोगाभ्यां ॥ ११ ॥ 'एत्थ' अत्र कार्ये कृतेऽनाभोगाद्वा सचित्ते परिस्थापनाविधिः–पृथ्वीकायस्तस्य दातुर्दातव्यः, तस्मिन्ननिच्छति पृच्छा, कुत आनीतः ? ततः स्थाने उक्ते यतो वक्ति तत्र गत्वा त्याज्यः । अशिष्टे वर्णगन्धादिना तदाकरं ज्ञात्वा तत्रोज्झ्यः ॥ १२ ॥ 'वाघा' नास्त्याकरो विकालो वा जातोऽध्वा ( ध्वनिस्तेनाः ) वेत्यादौ व्याघाते मधुरे उग्रद्रव्याभाविते कर्पूरदले तस्मिन्नसति वटादिपत्रे क्षिप्त्वा आबाधावर्जितस्थाने त्याज्यः, इत्युक्तः पृथ्वीकायः १ ॥ १३ ॥ 'आया' विपकुम्भो वातादिविकारोत्थो महास्फोटक आदितो विषाहारात् मूर्च्छितो ग्लानो वा सेव्यः । तत्रेमा यतना ज्ञातव्या ॥ १४ ॥ 'मग्गि' बहुप्रथममचित्तोऽप्कायो मार्ग्यत इत्यादि, अचित्तालाभे ततोऽधुनोद्वृत्तं अचिरकालजातं [अठिकराइ] तंदुलधावनाद्यम्बुमिश्रं मृग्यते अलाभे स्वयमेव क्षुल्लहृदपुष्करादिषु गत्वा शीतोष्णक्षारादिसम्पर्कात् मिश्रं जलं आनयति ॥ १५ ॥ 'मग्गि' स्पष्टा ॥ १७ ॥ 'आय' अजीवजलं याचित्वा मिश्रादि लायात् । आम्लकाञ्जिके याचिते आम्लस्थाने वोदकं लायात्, यथा कुंकणे काञ्जिकं जलं चैककाष्टमंच्यां तिष्ठतः, दात्र्या साधुः स्वयं लाहीत्युक्तोऽजानन् जलमादात्। इयरं, कोऽर्थः–यथा आत्मोत्थं द्विधा तथा परोत्थमपि, परो दाता जानन् भक्त्या वाऽभक्त्या दत्ते

॥ १८ ॥ 'एत्थ' ॥ १९ ॥ 'वड' जलं द्विधा कौपं सरोनद्यादिजं च। तत्र वर्णादिना ज्ञाते चेत्तटाकादेर्जलं, तस्य च तटं आर्द्रं तदा तत्र शनैः शनैस्त्याज्यं यथा प्रवाहाद्गत्वा स्थितजले मिलेत्। शुष्कतटे तु स्थिताम्बूर्ध्वं वटादिपत्रं अङ्कित्वा शनैः शनैस्त्याज्यं यथा उब्भराः शब्दा रेल्लुका न भवन्ति। पत्रेऽसति भाजनकर्णेऽङ्कित्वा। कूपेऽपि आर्द्रतटे प्राग्वत् ॥ २० ॥ 'छिन्न' शुष्कतटेऽगडेऽम्बुपात्रं शिक्यकेऽवलम्बेत् तले च दीर्घदोरं बध्वा कूपजले ईषदनाप्ते तलदोरमाकृष्यावाङ्मुख-पात्रेणोज्झेत् ॥ २१ ॥ 'वाघा' कूपाद्यभावस्तेनभयादिरूपे व्याघाते सपतद्ग्रहमेवाम्बु क्षीरद्रुमाधो निसृजेत्। पात्रेऽसति आर्द्रा पृथ्वी याच्या। अथवा अभावे उष्णाम्बुनार्द्रीकृत्य तत्र प्रक्षिपेत् ॥ २२ ॥ अथवा 'चिक्खि' निर्व्याघाते निखिले वा खड्डां खात्वा पत्रप्रणालेन निसृज्य छायां कुर्यात् कण्टकादिभिश्च रक्षेत् ॥ २३ ॥ 'मीसि' प्रत्यनीकया मिश्रितोऽप्कायो दत्तोऽनाभोगाद्रिक्तपात्रे आत्तस्तदार्द्रपृथ्व्यादौ छर्द्यः, न तु कूपादौ पूर्वगृहीतेऽचित्ते जले, सचित्ते तु स्तोके आत्ते, चेत्स्थण्डिलादर्वाक् परिणमति तदा परिभोगः ॥ २४ ॥ 'नवि' स्थण्डिलं यावद्गम्यते न च तावत्परिणमति तदा परिष्ठाप्यते, यदा हरितनुः पतति तदा प्रतीक्ष्य तस्मिन् शुष्के त्याज्य इति प्रवचनविधिना यतना। यद्यपरिणतं आत्तं न त्यज्यते तदाऽनवस्था, तथाऽन्येऽप्यपरिणतं ज्ञात्वा भुञ्जते इति प्रसङ्गश्च दोषौ इति, गतोऽप्कायः ॥ २५ ॥ 'आग' पोट्टशूलादिकृते तापनायादितोऽहिदष्टे डंभनाय सर्पादिशङ्कायामुद्योताय वा स एवाचित्तमिश्रमार्गणादिविधिः ॥ २६ ॥ 'अग्नि' अग्निकायस्त्रिविधोऽपि स्पष्टः। नवरं अचित्तमिश्रौ क्रमादीषदुष्णपाषाणाग्निवर्णपाषाणादी ज्ञेयौ। 'एत्थे'त्यादि, यत आत्तस्तत्रैव यतनया क्षिप्यते। 'सिय न दये' इति पाठे, स्याद् कदाचिद्धनिकः क्षेप्तुं न दत्ते, ततः ॥ २७॥

‘सक’ स्वकाष्ठोद्भवेऽन्यस्मिन्नग्नौ वा त्याज्यः। तस्मिन्नप्यसति सदृशक्षारेणाच्छाद्यतेऽभावेऽसदृशेनापि, दीपके त्वयं विधिः ॥ २८ ॥ यथा ‘उग्ग’ उद्गाल्य तैलं वर्त्तिं निःपीड्य यतनयेति यथा स न निर्वाति मल्लकसम्पुटे निसृजनं त्यागः, दीपो यथायुः प्रपाल्य परिणमेन्निर्वायात् ॥ २९ ॥ ‘कज्जं’ ग्लानभक्तप्रत्याख्यायकादिकार्ये यत्नेन प्राणातिपातादिरक्षार्थं सम्पुटे एव धारयेत्। कृते कार्ये पश्चादुक्तविधिना विवेचनं त्यागः। अनाभोगादात्मोत्थं अग्निग्रहणं भस्मना सह, परोत्थं आभोगात् मर्मुराग्निं भस्मान्तर्दद्यात्। वसतौ भक्त्या द्वेषाद्वोद्योतायाग्निं क्षिपेत्। अनाभोगाल्लग्नाङ्गारां रोटीं दद्यात्। तत्रापि विधिरुत्पत्त्यादौ त्यागः प्राग्वत् इति, गतोऽग्निः ॥ ३० ॥ ‘आय’ अम्भस्तरणादौ वातपूर्णा भस्त्रा इत्यादि च। शूलादिकार्ये वाततुंबकादि च गृह्णीयात्। याचनादिविधिरचित्तादेः स एव ॥ ३१ ॥ ‘अचि’ अचित्तमिश्रसचित्ता बस्त्यादिवाताः कालात् विज्ञेयाः। कालोऽपि द्विविकल्पः स्निग्धो रूक्षश्च, तत्र व्यवहारतो दक्षिणायने स्निग्धः काल उत्तरायने रूक्षः। एकैकस्त्रिधा ॥ ३२ ॥ ‘उक्को’ उत्कृष्टादिः, उत्कृष्टो मध्यो मन्दश्च। उत्कृष्टे स्निग्धे काले वर्षर्तौ श्रावणभाद्रयोः बस्तौ वातः पौरुषीं यावदचित्तः। दृतिभवेन बस्तिभवेन वायुना मुनेः प्रयोजनं स्यात्, तथा ग्लानत्वेऽपि वायुना कार्यं स्यात्। तत्र द्वितीयायां मिश्रस्तृतीयायां सचित्तः ॥ ३३ ॥ ‘मज्झि’ मध्यमे स्निग्धे शरदि द्वितीयाया आरभ्य चतुर्थ्यां सचित्तः, कोऽर्थः आद्यद्वितीयपौरुष्योरचित्तस्ततस्तृतीयस्यां मिश्रः, चतुर्थ्यां सचित्तः। मन्दे स्निग्धे काले हेमन्ते पौरुषीत्रयं यावदचित्तः, चतुर्थ्यां मिश्रः, पञ्चम्यां सचित्तः ॥ ३४ ॥ ‘लुक्खे’ रूक्षे काले मन्दमध्योत्कृष्टे माघफाल्गुनादिद्विद्विमासयोः पौरुषीयावद्दिना ज्ञेयाः। बस्तिवातस्य दृतेरपि च पूर्वं ध्मातस्यैवमेव ॥ ३५ ॥ ‘ताहे’ यः पुनस्तदैव ध्मात्वा बस्त्यादिर्जले क्षिप्यते, स

प्रथमे हस्तशतेऽचित्तो, द्वितीये हस्तशते मिश्रस्तृतीये सचितः ॥ ३६ ॥ 'दई' ग्लानत्वे कदापि दतिभवेन बस्तिभवेन वा वायुना मुनेः शूलादौ प्रयोजनं स्यात्तत्र प्रागचित्तो याच्यः ततो मिश्रादिः । आभोगानाभोगात्मपरोत्थानि प्रागवत् । सचित्तमिश्रौ वायू परिहरेत् ॥ ३७ ॥ 'एत्थ' भस्त्रादिवाते सचित्ते ज्ञाते भस्त्रादिस्तस्यैवार्प्यतेऽनिच्छतोऽपवरके स कपाटे प्रविश्य शनैः शनैः वायुर्मुच्यते । तदभावे पट्टशालायां मधुरे वनखण्डे गत्वा संघाटीं बृहत्पटीं प्रावृत्य तदन्तर्मुञ्चत्यन्यजीवरक्षार्थं इति, गतो वायुः ४, ॥ ३८ ॥ 'आय' 'पुवत्तो चेव विही' वने वनस्पतिकाये, आभोगे आगाढग्लानार्थं आत्मसमुत्थं ग्रहणं मूलादीनां स्यात्, अनाभोगे लोट्टकुक्कसादीनां स्यात्तत्र लोट्टस्य 'पुव्वुत्तो चेव विही' पूर्वोक्तो वायुकायोक्त एव विधिः पौरुष्यादिविभागरूपः, परं तत्राचित्तस्य वायोरचित्तमिश्रसचितत्वे काल उक्तोऽत्र तु सचित्तस्य सतः सचित्तमिश्राचित्तत्वे ज्ञेयः । तथा प्राक् स्निग्धे पौरुष्यो रूक्षे तु दिना उक्ताः, अत्र तु व्यत्ययः । अयं भावः–पिष्टलोट्ट उत्कृष्टरूक्षे ज्येष्ठाषाढयोः आद्यायां पौरुष्यां सचित्तो, द्वितीयस्यां मिश्रः, तृतीयस्यां अचित्तः । मध्यरूक्षे चैत्रवैशाखयोः पौरुषीत्रयादन्वचित्त इत्यादियावत् । उत्कृष्टस्निग्धे श्रावणभाद्रयोः पञ्चदिनेभ्योऽचित्तः । स च भक्तमध्ये पतितोऽपि त्याज्यः, स्थूरन्यायश्चायं । अत्यन्तश्लक्ष्णलोट्टोऽन्तमुहूर्त्तेनापि शुद्ध्येत् । 'दुकट्ठिए चिरंपि हुज्जे'ति चूर्णिवृत्त्युक्तितः स्थूलबीजदलयुक्तः सुचिरमपि सचित्तः, तस्माद्देशकालाभिज्ञेन साधुनैवेह भाव्यं । तथा 'परो वि आभोगउ' इत्यादि, परोऽप्याभोगतो मूलादि दद्यात् । अनाभोगतश्च फलकमिश्राणि पीलूनि तथा सचित्तलोट्टादि दद्यात्, आदित आर्द्रकमिश्रं पूरणं करमन्दमिश्रं काञ्जिकं निम्बपत्राणि तिलांश्चौषधार्थं एकत्रं कुट्टितानि ॥४०॥ 'एत्थ' अत्र कार्ये सिद्धे शेषस्य परिस्थापना-

विधिः परपात्रादिर्ज्ञेयः, कोऽर्थः सचित्तं चेद्विवेक्तुं शक्यं तदोद्धृत्य परस्य गृहिणः पात्रे त्याज्यं, तस्मिंस्त्वनिच्छति स्वपात्रे मधुरकर्प्परादौ वा क्षिप्त्वा शीताचित्तस्थाने त्याज्यं। यद्युद्धर्त्तुमशक्यं तदा सर्वं वस्तु यतनयोज्झ्यं। 'संथारा' इत्यादि, संस्तारकादौ पनके आर्द्रकादौ च विचित्रा पारिस्थापनिका, तद्यथा–संस्तारके दण्डादौ पनके यावत्स न परिणमेत् तावत्तदुपकरणं न भोग्यं। अथ मार्गे चलितास्तदा शीतले प्रदेशे मोच्यं, तथार्द्रकस्य पील्लूनां च दातुरग्रहणे यत्र क्षेत्रे उत्पद्यन्ते तत्र त्यागः, आकराभावे तु निर्व्याघाते तिर्यगाद्यापातरहिते सार्द्रमधुरभूभ्यां मधुदे कर्प्परे द्रुतलादौ वा क्षिप्त्वा मधुरवनान्तर्वा त्यागः इति, गतो वनस्पतिकायः ॥ ४१ ॥

[ अयं पुनर्भावार्थो वर्त्तते–'तत्थ ताव आयसमुत्थं कहं च आभोएण होज्ज[1], साहू अहिणा खइओ, विसं वा खइयं, विसप्फोडिया वा उट्ठिया, तत्थ जो अचित्तो पुढविकाओ केणइ आणिओ सो मग्गिज्जइ, णत्थि आणिल्लओ, ताहे अप्पणावि आणिज्जइ, तत्थवि ण होज्ज अचित्तो ताहे मीसो, अंतो हलखणणकुड्डमाईसु आणिज्जइ, ण होज्ज ताहे अडवीओ पंथे वंमिए वा दवदड्ढए वा, ण होज्ज पच्छा सचित्तोवि घेप्पइ, आसुकारी वा कज्जं होज्जा जो लद्धो सो आणिज्जइ, एवं लोणंपि जाणंतो, अणाभोइएण–तेण लोणं मग्गियं अचित्तंति काऊणं मीसं सचित्तं वा घेत्तूण आगओ, पच्छा णायं तत्थेव छड्डेयव्वं, खंडे वा मग्गिए एयं खंडंति लोणं दिन्नं, तंपि तहिं चेव विगिंचियव्वं, ण देज्ज ताहे तं अप्पणा विगिंचियव्वं, एयं आयसमुत्थं दुविहंपि। परसमुत्थं आभो-

१ अयं भावार्थः श्रीहारिभद्रीयावश्यकनिर्युक्तिवृत्त्युध्धृतः, अनुपलब्धगाथार्थानुसारित्वात्, एवमग्रेऽपि यत्रैतच्चिह्नेन [ ] भावार्थो निबद्धः स श्रीहारिभद्रीयवृत्त्युध्धृत एव बोध्यः।

गेण ताव सचित्तदेसमट्टिया लोणं वा कज्जनिमित्तेण दिण्णं, मग्गिएण अणाभोगेण खंडं मग्गिय लोणं देज्ज तस्सेव दायव्वं, नेच्छेज्ज ताहे पुच्छिज्जइ–कओ तुब्भेहिं आणियं? जत्थ साहइ तत्थ विगिंचिज्जइ, न साहेज्ज न जाणामोत्ति वा भणेज्जा ताहे उवलक्खेयव्वं वण्णगंधरसफासेहिं, तत्थ आगरे परिट्ठविज्जइ, नत्थि आगरो पंथे वा वट्टंति विगालो वा जाओ ताहे सुक्कगं महुग्गं कप्पर मग्गिज्जइ, ण होज्ज कप्परं ताहे वडपत्ते पिप्पलपत्ते वा काऊण परिट्ठविज्जइ १। आउक्काए दुविहं गहणं आयाए णायं अणायं च, एवं परेणवि णायं अणायं च, आयाए जाणंतस्स विसकुंभो हणियव्वो विसफोडिया वा सिंचियव्वा विसं वा खइयं मुच्छाए वा पडिओ गिलाणो वा, एवमाइसु (कज्जेसु) पुव्वमचित्तं पच्छा मीसं अहुणाधोयं तंदुलोदयाइ, आउरे कज्जे सचित्तंपि, कए कज्जे सेसं तत्थेव परिठविज्जइ, न देज्ज ताहे पुच्छिज्जइ–कओ आणीयं? जइ साहेइ तत्थ परिठयेव्वं आगरे, न साहेज्जा न वा जाणेज्जा पच्छा वण्णाईहिं उवलक्खेउं तत्थ परिट्ठवेइ, अणाभोगा कोंकणेसु पाणियं अंबिलं च एगत्थ वेतिआए अच्छइ, अविरइया मग्गिया भणइ–एत्तो गिण्हाहि, तेण अंबिलंति पाणियं गहियं, णाये तत्थ छुभेज्जा, अह न देइ ताहे आगरे, एवं अणाभोगा आयसमुत्थं, परसमुत्थं जाणंती अणुकंपाए देइ–ण एते भगवंतो पाणियस्स रसं जाणंति हरदोदगं दिज्जा, पडिणीययाए वा देज्जा, एयाणि से वयाणि भज्जंतुत्ति, णाए तत्थेव साहरियव्वं, न देज्ज जओ आणियं तं ठाणं पुच्छिज्जइ, तत्थ नेऊं परिट्ठविज्जइ, न जाणेज्जा वण्णाईहिं लक्खिज्जइ ताहे णइपाणियं णईए विगिंचेज्जा, एवं तलागपाणियं तलाए, अगडवावि-सरमाइसु सट्ठाणेसु विगिंचिज्जइ, जइ सुक्कं तडागपाणियं वडपत्तं पिप्पलपत्तं वा अड्डूऊण सणियं विगिंचइ, जह उज्जरा न जागंति, पत्ताणं असईए भायणस्स कण्णा जाव हेट्ठा सणियं उदयं अल्लियाविज्जइ ताहे विगिंचिज्जइ, अह कूओदयं ताहे जइ

कूवतडा उल्ला तत्थ सणियं निसिरइ, अणुल्लसिओ सुकतडा होज्जा उल्लगं च ठाणं नत्थि ताहे भाणं सिक्कएण जडिज्जइ मूले दोरो बज्झइ, उसकावेउ पाणियं ईसिमसंपत्तं मूलदोरो उक्खिप्पइ ताहे पलोट्टइ, नत्थि कूवो दूरे वा तेणसावयभयं होज्जा ताहे सीयलए महुररुक्खस्स वा हेट्ठा सपडिग्गहं वोसिरइ, न होज्ज पायं वा उल्लियं पुहविकायं मग्गित्ता तेण परिट्ठवेइ, असइ सुक्कंपि उण्होदयेण उल्लेत्ता पच्छा परिट्ठविज्जइ, निव्वाघाए चिक्खल्ले खड्डं खणिऊण पत्तपणालेण विगिंचइ, सोहिं च करेंति, एसा विही, जं पडिनियत्ताए आउक्काएण मीसेउं दिण्णं तं विगिंचेइ, जं संजयस्स पुव्वगहिए पाणिए आउकाओ अणाभोगेण दिण्णो जइ परिणओ भुंजइ, नवि परिणमइ जेण कालेण थंडिलं पावइ विगिंचियव्वं, जत्थ हरतणुया पडेज्जा तं कालं पडिच्छित्ता विगिंचिज्जइ २ । तेउक्काओ तहेव आयसमुत्थो आहोएण संजयस्स अगणिकाएण कज्जं जायं—अहिडको वा डंभिज्जइ फोडिया वा वायगंठी वा अन्त्रवृद्धिर्वा, वसहीए दीहजाईओ पविट्ठो, पोट्टसूलं वा तावेअव्वं, एवमाईहिं आणिए कज्जे कए तत्थेव पडिछुब्भइ, ण देति तो ते तेहिं कट्ठेहिं जो अगणी तज्जाइओ तत्थेव विगिंचिज्जइ, न होज्ज सोवि न देज्ज वा ताहे तज्जाएण छारेण उच्छाइज्जइ, पच्छा अण्णजाइएणवि, दीवएसु तेल्लं गालिज्जइ वत्ती व निप्पीलिज्जइ मल्लगसंपुडए कीरइ पच्छा अहाउगं पालेइ, भत्तपच्चक्खायगाइसु मल्लगसंपुडए काऊण अच्छत्ति, सारक्खिज्जइ, कए कज्जे तहेव विवेगो, अणाभोगेण खेलमल्लगालोयच्छारादिसु, तहेव परो आभोएण छारेण दिज्ज वसहीए अगणिं जोइक्खं वा करेज्ज तहेव विवेगो, अणाभोएणवि एए चेव पूयलियं वा सइंगालं देज्जा, तहेव विवेगो ३ । वाउकाए आयसमुत्थं आभोएण, कहं ? वत्थिणा दिइएण वा कज्जं, सो कयाइ सचित्तो अचित्तो वा मीसो वा भवइ, कालो दुविहो—निद्धो लुक्खो य, णिद्धो

तिविहो-उक्कोसाइ, लुक्खोवि तिविहो-उक्कोसाइ, उक्कोसए सीए जाहे धंतो भवइ ताहे जाव पढमपोरिसी ताव अचित्तो बित्तियाए मीसो, ततियाए सचित्तो, मज्झिमए सीए बितियाए आरद्धो चउत्थीए सचित्तो भवइ, मंदसीए तइयाए आरद्धो पंचमाए पीरिसीए सचित्तो, उण्हकाले मंदउण्हे मज्झे उक्कोसे दिवसा नवरि दो तिण्णि चत्तारि पंच य, एवं वत्थिस्स दइयस्स पुव-द्दंतम्स एसेव कालविभागो, जो पुण ताहे चेव धमित्ता पाणियं उत्तारिज्जइ, तस्स य पढमे हत्थसए अचित्तो बितिए मीसो तइए सचित्तो, कालविभागो नत्थि, जेण पाणियं पगतीए सीयलं, पुव्वं अचित्तो मग्गिज्जइ पच्छा मीसो पच्छा सचित्तोत्ति। अणाभोएण एस अचित्तोत्ति मीसगसचित्ता गहिया, परोवि एवं चेव जाणंतो वा देज्जा अजाणंतो वा, णाए तस्सेव, अणिच्छंते उवरगं सकवाडं पविसित्ता सणियं मुंचइ, पच्छा सालाएवि, पच्छा वणणिगुंजे महुरे, पच्छा संघाडियाउवि जयणाए, एवं दइयस्सवि, सचित्तो वा अचित्तो वा मीसो वा होउ सवस्सवि एसविही, मा अण्णं विराहेहित्ति ४। वणस्सइकाइयस्सवि आयसमुत्थं आभोएणं गिलाणाइकज्जे मूलाईण गहणं होज्जा, अणाभोएण गहियं भत्ते वा लोट्टो पडिओ पिट्ठगं वा कुक्कुसा वा, सो चेव पोरिसि-विभागो, दुक्कुट्ठिओ चिरंपि होज्जा, परो अछगेण मिसियगं चवलगमीसियाणि वा पील्लूणि कूरओडियाए वा अंतो छोढूणं करमद्दएहिं वा समं कंजिओ अन्नयरो बीयकाओ पडिओ होज्जा, तिलाण वा एवं गहणं होज्जा, निंबं तिलमाइसु होज्जा, जइ आभोगगहियं आभोगेण वा दिन्नं विवेगो, अणाभोगगहिए अणाभोगदिन्ने वा जइ तरइ विगिंचिउं पढमं परपाए, सपाए। संथारए लट्ठीए वा पणओ हवेज्जा ताहे उण्हं सीयं व णाऊण विगिंचणा, एसोवि वणस्सइकाओ पच्छा अंतोकाए एसिं विगिंचणविही अछगं अछगखेत्ते सेसाणी आगरे, असइ आगरस्स निवाघाए महुराए भूमिए, अंतो वा कप्परे वा पत्ते वा, एस विहित्ति।]

**तज्जायपरिट्ठवणा, आगारमाईसु होइ बोद्धव्वा । अतज्जायपरिट्ठवणा, कप्परमाइसु बोद्धव्वा ॥२०६॥**

तज्जाते तुल्यजातीये परिस्थापना तज्जाता परिस्थापना साऽऽकरादिषु ज्ञातव्या । अतज्जाते भिन्नजातीये कर्प्परादौ परिस्थापनाऽतज्जाता परिस्थापना, उक्ता एकेन्द्रियपरिस्थापनिका ॥ २०६ ॥ 'णोए'

णोएगिंदिएहिं जा सा, सा दुविहा होइ आणुपुव्वीए । तसपाणेहिं सुविहिया ! नायव्वा नोत्तसेहिं च ॥ ४२ ॥

नोएकेन्द्रियैः, नोशब्दो निषेधे, (न) एकेन्द्रियान्वितेत्यर्थः। एवं नोत्रसनोउपकरणादिष्वपि यासौ समयोक्ता सा द्विविधा। त्रसा एव प्राणा जन्तवस्त्रसप्राणास्तैः करणभूतैः, हे सुविहिताः ! नोत्रसैराहाराद्यैश्च ज्ञातव्या ॥ ४२ ॥ 'तस'

तसपाणेहिं जा सा, सा तिविहा होइ आणुपुव्वीए । विगलिंदियतसेहिं, जाणे पंचिंदिएहिं च ॥ ४३ ॥

'जाणे' जानीहि ॥ ४३ ॥ 'विग'

विगलिंदिएहिं जा सा, सा तिविहा होइ आणुपुव्वीए । वियतियचउरो यावि य, तज्जाया तहा अतज्जाया ॥ ४४ ॥

त्रिविधा द्वित्रिचतुरिन्द्रियानाश्रित्य, सा एकैका द्विधा तज्जाताऽतज्जाता च ॥ ४४ ॥

'गडे' व्रणे सति जलूका आत्तास्ततः स्थाने एव त्याज्याः । 'सत्तुगे'त्यादि संसक्तसक्तुकादिष्वाभोगाद्यपि भजितव्यं, कोऽर्थः-व्रणे पिण्डार्थं आभोगानाभोगाभ्यां सक्तवः संसक्ता आत्तास्तेषु गड्डुर्यः संशोध्य दातुः सक्तुपात्ररूपे आकरे त्याज्याः, अनिच्छतस्तु सक्तुभिः सहाऽव्याघातप्रदेशे त्याज्याः ॥ ४५ ॥ ननु ग्लानार्थमेवं, यदा तु संसक्तदेशे संसक्तसक्तुग्रहणं तदा किमित्याह 'संसा' यत्रान्नाद्यम्बुषु जीवाः संसज्यन्ते तस्मिन् संसक्ते देशे न गम्यते । कारणे तु गमने यथोचितां यतनां

कुर्यात्, यथा—यत्र सक्तवः संसज्यन्ते तत्र कूरादि याच्यं, अलाभे तद्दिनसक्तुनाऽऽदत्तेऽभावे द्व्यह्निकान्वा तेषामप्यभावे स्थाने एव संशोध्य ग्राह्याः। अध्वादिकारणात् पृथक्पात्रे लात्वा बहिः रजस्त्राणोपरि घनमृदुपटलके क्षिप्त्वा पृथक् पृथक् त्रिभिः साधुभिः शोध्याः, अभावे एकोऽपि नववारान् कुर्यात्। आद्यवारे जन्त्वदर्शनेऽपि त्रिः शोध्या जीवदर्शनादनु तु पुनः पुनस्त्रिः शोध्या यावद्वारत्रयेऽपि जीवानदृष्ट्वा तत्सक्तुमुष्टीः २ लात्वा शोध्यन्ते। चेच्छुद्धास्तर्हि भोज्याः। अथैकोऽपि जन्तु-र्दृष्टस्तदा मूलात्पुनः सर्वेऽपि शोध्याः, जीवास्तु पात्रे स्तोकसक्तुभिः सह स्थाप्याः। पश्चादाकरादिषु त्याज्याः। 'पाणंमी'-त्यादि संसक्तपानके पात्रादियतनैषा यथा—संसक्तपानमन्यपात्रे संशोध्य प्राग्गृहीतशुद्धाम्भःपात्रे क्षेप्यं, रसजैः संसक्तं तु काञ्जिकादि सपात्रं त्याज्यम्॥ ४६॥ 'पाया' पात्राभावे आर्द्रा प्रातिहारिका काञ्जिकस्थाली याच्या, अभावे शुष्कां स्थालीमाम्लेनाऽऽर्द्रीकृत्य तस्यां संसक्तमाम्लं क्षेप्यमभावे याचित्वाऽन्यस्मिन् भाण्डे। 'अंबिलबीयत्ति' अम्लबीजानि हृढणादीनि धोवनाद्यम्भसा सहाऽऽम्लतार्थं क्षिप्यन्ते, बीजाभावे यथालब्धेऽपि पात्रे संसक्ताम्बु क्षिप्त्वा, चेद्भाण्डं न देयं, तदा तिर्यगाद्यबाधे स्थाने मोच्यम्, अन्यथा 'पाडिहारिय'त्ति प्रातिहारिकभाण्डे क्षिप्त्वोपाश्रयेऽपि ध्रियते यावत्ते जीवाः परिणमन्ति तावत् 'तिकालं'ति त्रिकालं दृष्ट्वा प्रतिलेख्याः। अम्बुशोषे त्वन्याम्बुक्षेपो यावज्जीवाः परिणमन्ति। ततो जलं त्यक्त्वा पात्रमर्प्यम्। सर्वथा भाण्डाभावे 'अडवी' त्यादि, अटव्यां छायायां चिखिल्ले खड्डां कृत्वाऽन्तर्लिपित्वा निश्छिद्र-मधुरपत्रैः शनैस्तज्जलं क्षेप्यम्। संसक्ताम्बुपात्रं वारत्रयमम्बुना प्रक्षाल्य तदम्बु तत्रैव क्षेप्यम्। पश्चात्पात्रे पृथक्कल्पो देयः। श्लक्ष्णकाष्ठैर्गर्त्ता आच्छाद्या। 'लिंपणय'त्ति पङ्केन निश्छिद्रलिम्पनात् ततः कण्टकैर्झपनं (?) छादनम्॥ ४७॥ 'पाय'

यस्मिन् प्राक् संसक्ताम्बु क्षिप्तमासीत्तस्मिन् पात्रे शीतादि–शीतजलादि न ग्राह्यं संसक्तिप्रसंगात् । आदिशब्दाद्दिनद्वयमवश्रामणं कूरं वा ग्राह्यं संसक्तमसंसक्तं च। द्वे पात्रे एकः साधुर्न धरेद्यतोऽसंसक्तं संसक्तगन्धमात्रात् संसज्यते, संसक्तं चाऽत्यक्त्वा न हिण्डेत न समुद्दिशेन्नाऽश्नीयात् । यदि स्वयं श्रान्तो गन्तुमशक्तस्तदाऽन्यैस्त्याज्यम् । अथ तज्जीवौघे परिणते दृष्टे साधुत्रिकेण च प्रेक्षिते गलित्वा तद्भोगोऽनुज्ञातस्तथा धावनजले पूतरेषु सत्सु विस्तीर्णास्ये पात्रेऽम्बु क्षिप्त्वोर्ध्वं गलनं बध्वा तदन्तरितं कौशिकेनोल्लम्ब्य शेषं स्तोकं सत्सजीवाम्भो दातुरग्रहणेऽप्काये यतनया त्याज्यम् ॥ ४८ ॥ 'तक्का' तक्रादीनामप्येवं, कोऽर्थः ? संसक्ततक्रस्याऽम्बुवद्विधिः, दधिनवनीतयोस्त्वयं–पूर्वं जलं गालयित्वा पिण्डीभूतदध्नः 'एका उंडी खोट्टा तक्काया' इति तक्रादौ प्रक्षेप्या, 'पेहति' चेत्प्राणाः स्युस्तदा प्रेक्ष्यन्ते ततस्त्यज्यते, न स्युस्तदा भुज्यते । 'नवणीय'त्ति नवनीतेऽप्येका 'उंडी'त्यादि कार्यम् । आदि तस्तक्राभावे गोरसधावने क्षेप्या, अभावे शीतीभूतोष्णाप्सु, अभावे तन्दुलाप्सु क्षिप्त्वा वीक्ष्य शुद्धे भोज्यमशुद्धयोर्विधिना त्यागः । आकरेऽभावे शीतलप्रदेशे पात्रे स्तोकाम्बु क्षिप्त्वा त्याज्यं, उर्ध्वं कण्टकैराच्छाद्यमगालिते दध्नि पात्रपतिते संसक्तभ्रान्तौ दधिपात्रतीरमानीय पुनः पश्चात्कृत्वा दधिलिप्ततीरे जीवा ईक्ष्याः । इक्षुविकारे कक्कम्बेऽप्येष विधिः । परसमुत्थमप्येवं । इति गता द्वीन्द्रियाः ॥ ४९ ॥ 'कीड' कीटिकादिसंसक्तभक्तादिष्वयं विधिः, कीटिकासंसक्तं भक्तादि सुषिरे विकीर्य, यथा तास्तत्र विशन्ति, उत्सूरे सति त्याज्यं वा । संस्तारकः पीठफलकादिस्तत्र मत्कुणोद्देहिकासु चाऽयं विधिः–पूर्वं पीठादि संसक्तं दृष्ट्वा न ग्राह्यमात्तं तु संसज्यमानं पादपुञ्छनेनाऽन्वहं त्रिः प्रमार्ज्य तथापि संसर्गे मत्कुणास्तज्जातीये काष्ठे स्थाप्याः । उद्देहिकायुग्वस्त्रं विविक्ते

मुच्यते । अन्याभावे तास्तच्छिले ढौकया वस्त्रं त्यक्त्वा तत्राऽऽयान्ति । लोचे कृते षट्पदीनां दिनसप्तकं केशेषु विश्रामणमध्वादिकारणे शीतले निर्व्याघाते त्यागः । सूत्रचूर्णिवृत्तिष्वेवं दृश्यते, वृत्तिटिप्पने तु लोचे कृते सप्त दिनानि यावत्केशाः शोध्यन्ते, मार्गगमनादिकारणे सकृदपि शोधिता निर्व्याघातशीतलप्रदेशे परिस्थाप्यन्ते इत्यस्ति, तत्त्वं तु ज्ञानिगम्यं । तथा गोचरादौ कीटकादियुक्तं पानकं शीघ्रं गाल्यते । अथ पश्चात्पतितास्तदाऽन्नादिलिप्तहस्तेनाऽप्युद्ध्रियन्ते, नत्वेवं पाने सलेपेऽपि प्रत्याख्यानभङ्गः । गतास्त्रीन्द्रियाः ॥ ५० ॥ ' चउ ' अक्षिण अक्षरोगोत्खननाय चतुरिन्द्रियाणां ग्रहणं, ताश्च दृष्ट्यन्तर्धृताः पादे रोगं घर्षयन्ति । दातृहस्तस्थेऽन्नादौ मक्षिकापातेऽग्रहणं, आत्ते तु पतितां समुद्धृत्य ' नेह 'त्ति स्नेहाक्तायाः क्षारेण भस्मना गुण्डना, कोत्थलकारिका-भ्रमरी तद्गृहयुग्वस्त्रे, सर्वत्यागः, अन्यवस्त्राभावे तावन्मात्रस्य छेदः । अन्यथाऽन्यत्र तद्गृहस्य संक्रमणं कुर्यात् गताश्चतुरिन्द्रियाः ॥ ५१ ॥

[ भावार्थस्त्वयं-त्रेइंदियाणं आयसमुत्थं जलुगा गंडाइसु कज्जेसु गहिया तत्थेव विगिंचिज्जइ, सत्तुया वा आलेवणनिमित्तं ऊरणियासंसत्ता गहिया विसोहित्ता आयरे विगिंचेति, असइ आगरस्स सत्तुएहिं समं निवाघाए, संसत्तदेसे वा कत्थइ होज्ज अणाभोगगहणं तं देसं चेव न गंतवं, असिवाईहिं गमेज्जा जत्थ सत्तुया तत्थ कूरं मग्गइ, न लहइ तद्देवसिए सत्तुए मग्गइ, अमइए चितिए जाव ततिए, असइ पडिलेहिय २ गिण्हइ, वेला वा अइक्कमइ अद्धाणं वा, संकिया वा मत्ते घेप्पंति, ताहिं उज्जाणे देउले पडिसयस्स वा ताहिं रयत्ताणं पत्थरिऊणं उवरि एकं घणमसिणं पडलं तत्थ पल्लच्छिज्जंति, तिन्नि ऊरणयपडिलेहणाओ, नत्थि जइ ताहे पुणो पडिलेहणाओ, तिण्णि मुट्ठिओ गहाय जइ सुद्धा परिभुजंति, एगंमि दिट्ठे पुणोवि

मूलाओ पडिलेहिज्जंति, जे तत्थ पाणा ते मल्लए सत्तुएहिं समं ठविज्जंति, आगराइसु विगिंचइ, नत्थि बीयरहिएसु विगिंचइ, एवं जत्थ पाणयंपि बीयपाए पडिलेहित्ता उग्गाहिए छुब्भइ, संसत्तं जायं रसएहिं ताहे सपडिग्गहं वोसिरउ, नत्थि पायं ताहे अंबिलिं पाडिहारियं मग्गउ, णो लहेज्ज सुक्कयं अंबिलिं उल्लेऊणं असइ अण्णंमिवि अंबिलिबीयाणि छोढूण विगिंचइ, नत्थि बीयरहिएसु विगिंचइ, पच्छा पडिस्सए पाडिहारिए वा अपाडिहारियं वा तिकालं पडिलेहेइ दिणे दिणे, जया परिणयं तहा विगिंचइ, भायणं च पडिअप्पिज्जइ, नत्थि भायणं ताहे अडवीए अणागमणपहे छाहीए जो चिक्खल्लो तत्थ खड्डं खणिऊण निच्छिड्डं लिंपित्ता पत्तणालेणं जयणाए छुभइ, एक्कसि पाणएणं भमाडेइ, तंपि तत्थेव छुब्भइ, एवं तिन्निवारे, पच्छा कप्पेइ सण्हकट्ठेहि य मालं करेंति चिक्खिल्लेणं लिंपइ कंटयछायाए य उच्छाएइ, तेण य भाणएणं सीयलपाणयं ण लयइ, अवसावणेण कूरेण य भाविज्जइ एवं दो तिण्णि वा दिवसे, संसत्तगं च पाणयं असंसत्तगं च एगो न धरे, गंधेण विसंसिज्जइ, संसत्तं च गहाय न हिंडिज्जइ, विराहणा होज्ज, संसत्तं गहाय न समुद्दिसिज्जइ, जइ परिस्संता जे ण हिंडंति ते लिंति, जे य पाणा दिट्ठा ते मया होज्जा, एगेण पडिलेहियं बीएण ततिएणं, सुद्धं परिभुंजति, एवं चेव महियस्सवि गालियदहियस्स नवणीयस्स का विही ? महीए एगा उड्डी छुब्भइ, तत्थ तत्थ दीसंति, असइ महीयस्स का विही ? गोरसधोवणे पच्छा उण्होदयं सियलाविज्जइ, पच्छा महुरे चाउलोदये, तेसु सुद्धं परिभुज्जइ, असुद्धे तहेव विवेगो दहियस्स, पच्छओ उयन्ता णियत्ते पडिलेहिज्जइ, तीराए सुत्तेसुवि एस विही, परोवि आभोयणाभोयाए ताणि दिज्जा। तेइंदियाण गहणं सत्तुयपाणाण पुव्वभणिओ विही, तिलकीडयावि तहेव दहिए वा रल्ला तहेव छगणकिमिओवि तहेव संधारगो वा गहिओ घुणाइणा णाए तहेव

तारिमए कट्ठे संकामिज्जइ, उद्देहियाहिं गहिए पोत्ते णत्थि तस्स विगिंचणया, ताहे तेसिंचि लोढाइज्जइ, तत्थ अइंति लोए, छप्पइयाउ विसामिज्जंति सत्तदिवसे, कारणगमणं ताहे सीयलए निवायाए, एवमाईणं तहेव आगरे निवाघाए विवेगो, कीडियाहिं संमत्ते पाणए जइ जीवंति खिप्पं गलिज्जइ, अहे पडिया लेवाडेणेव हत्थेण उद्धरेयव्वा, अलेवडयं चेव पाणयं होइ, एवं मक्खियावि, संघाडएण पुण एगो भत्तं गेण्हइ मा चेव छुब्भइ, बीयो पाणयं, हत्थो अलेवाडओ चेव, जइवि कीडियाउ मइयाउ तहवि गलिज्जंति, इहरहा मेहं उवहणंति मच्छियाहिं वमी हवइ, जइ तंदुलोयगमाइसु पूयरओ ताहे पगासे भायणे छुहित्ता पोत्तेण दद्दरओ कीरइ, ताहे कोसएणं खोरएण वा उकड्ढिज्जइ, थोवएण पाणएण समं विगिंचिज्जइ, आउकायं गमित्ता कट्ठेण गहाय उदयस्स ढोइज्जइ, ताहे अप्पणा चेव तत्थ पडइ, एवमाइ तेइंदियाणं, पूयलिया कीडियाहिं संसत्तिया होज्जा, मुक्कओ वा कूरो, ताहे झुसिरे विक्खिरिज्जइ, तहेव तत्थ ताओ पविसंति, मुहुत्तयं च रक्खिज्जइ जाव विप्पसरियाओ। चउरिंदियाणं आसमक्खिया अक्खिम्मि अक्खरा उकड्ढिज्जइत्ति घेप्पइ, परहत्थे भत्ते पाणए वा जइ मच्छिया तं अणेसणिज्जं, संजयहत्थे उद्धरिज्जइ, नेहे पडिया छारेण गुंडिज्जइ, कोत्थलगारिया वा वच्छत्थे पाए वा घरं करेज्जा सव्वविवेगो, असइ छिंदित्ता, अह अन्नंमि य घरए संकामिज्जंति, संथारए मंकुणाणं पुव्वगहिए तहेव घेप्पमाणे पायपुंछणे वा, जइ तिन्नि वेलाउ पडिलेहिज्जंतो दिवसे २ संसज्जइ ताहे तारिसएहिं चेव कट्ठेहिं संकामिज्जंति, दंडए एवं चेव, भमरस्सवि तहेव विवेगो, सअंडए सकट्ठो विवेगो, पूतरयस्स पुव्वभणिओ विवेगो, एवमाइ जहासंभवं विभासा कायव्वा ] ' पञ्चि '

पंचिंदिएहिं जा मा सा दुविहा होइ आणुपुव्वीए। मणुएहिं च सुविहिया, नायव्वा नोयमणुएहिं ॥ ५२ ॥

मनुजैश्च नोमनुजैस्तिर्यग्भिः ॥ ५२ ॥ ' मणु ' ' संज '

मणुएहिं खलु जा सा सा दुविहा होइ आणुपुव्वीए । संजयमणुएहिं तह, नायव्वाऽसंजएहिं च ॥ ५३ ॥

संजयमणुएहिं जा सा सा दुविहा होइ आणुपुव्वीए । सचित्तेहिं सुविहिया ! अचित्तेहिं च नायव्वा ॥ ५४ ॥

सचित्तैर्जीवद्भिरचित्तैर्मृतैः ॥ ५३-५४ ॥ तत्र ' अण '

अणभोग कारणेण व, नपुंसमाईसु होइ सचित्ता । वोसिरणं तु नपुंसे, सेसे कालं पडिक्खिज्जा ॥ ५५ ॥

अनाभोगेनाज्ञानेन, कारणेऽशिवादिना, क्लीबजड्डादिषु दीक्षितेषु सचित्ता पारिष्ठापनिकी । तत्र क्लीबे तुशब्दादनाभोगे दीक्षिते व्युत्सर्जनं, शेषे आभोग ( गेन कारणे ) दीक्षिते तथा जड्डादौ कारणसमाप्तिकालं प्रतीक्षेत । जड्डे तु वक्ष्यमाणं कालं प्रतीक्षेत ॥ ५६ ॥ कारणानि ' असि '

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व आगाढे । गेलन्ने उत्तिमट्ठे, नाणे तवदंसणचरित्ते ॥ ५७ ॥

अशिवे व्यन्तरकृतेऽवमौदर्ये दुर्भिक्षे, राज्ञि द्विष्टे, भये प्रत्यनीकेभ्यः, 'आगाढे' भृशं इति सर्वत्र योज्यं, ग्लानत्वे उत्तमार्थेऽनशने, ज्ञान इति पठने, दर्शने दर्शनप्रभावकसम्मत्यादिशास्त्रे पाठे, चारित्रार्थमेषु कार्येषु कार्याय क्लीबादि दीक्ष्यते ॥५७॥ 'राय'

रायदुट्ठभएसुं, ताणट्ठ णिवस्स वाऽभिगमणट्ठा । वेज्जो व सयं तस्स व, तप्पिस्सइ वा गिलाणस्स ॥ ५८ ॥

राजा दुष्टश्च तेषां भये त्राणार्थं राजमान्यादिक्लीबदीक्षा, नृपस्य वाऽभिगमनायाऽनुकूलनाय, वैद्यो वा स्वयं क्लीबस्तस्य सम्बन्धी वा, तस्मिन् दीक्षिते ग्लानस्य तर्पिष्यति वा चिकित्सिष्यति ॥ ५८ ॥ ' गुरु '

गुरुणोव्व अप्पणो वा, णाणाई गिण्हमाणि तप्पिहिई। अचरणदेसा णिन्ते, तप्पे ओमासिवेहिं वा ॥ ५९ ॥

गुरोर्वाऽऽत्मनो वा परस्य वा ज्ञानादौ गृह्यमाणे तर्पिष्यत्युपकरिष्यति। अचरणो देशः, यत्र चारित्रं पालयितुमशक्यं, ततो देशात् 'णिन्ते'त्ति गच्छति निर्गच्छति। स्वजनबलाद्भक्तादिना स्तेनरक्षया वा तर्पयेत्। अवमाशिवयोर्वा ॥५९॥ 'एए'

एएहिं कारणेहिं, आगाढेहिं तु जो उ पव्वावे। पंडाई सोलसयं, कए उ कज्जे विगिंचणया ॥ ६० ॥

पण्डादिषोडशकनिशीथोक्तं अयोग्यं आदिशब्दाज्जड्डादि, कृते तु कार्ये त्यजना कार्या ॥ ६० ॥ 'दुवि' दीक्षणीयं क्लीबं द्विधा ज्ञमज्ञं च, तत्र यो वेत्ति 'साधूनां क्लीबं दीक्षितुं न कल्पते' इति स ज्ञः ॥ ६१ ॥ 'अजा-' पूर्वोक्तं न जानाति सोऽज्ञः। द्वयोर्दीक्षार्थे आगतयोर्वा दीक्षा न स्यादिति प्रज्ञापना क्रियते, यदि द्वावपि दीक्षानिषेधमिच्छतस्तदा न दीक्षा, नेच्छतोः पूर्वोक्ते कार्ये जाते चैष दीक्षाविधिः ॥ ६२ ॥ 'कडि'

कडिपट्टए य छिहली, कत्तरिया भंडु लोय पाढे य। धम्मकहसन्निराउल, ववहारविकिंचणं कुज्जा ॥ ६३ ॥

कट्यां पट्टोऽस्य बध्यते १ शिखा स्थाप्याऽनिच्छतः कर्त्तर्या केशछेदः २ 'भंडु'त्ति मुण्डनं ३ लोचो वाऽ४ पाठो विपर्यस्तालापकादिः ५ धर्मकथाकथनं ६ तथा कार्यसिद्धौ त्यागकाले तस्मिन्न निर्याति संज्ञिनां श्राद्धानां कथनं ७ यथा ते मापयित्वा कारयन्ति। क्लीबं राज्ञः कुले गत्वा चेद्वक्ति तदा व्यवहारः कार्यो वक्ष्यमाणयुक्त्या विगिञ्चना त्यागः ॥ ६३ ॥ द्वारगाथा 'कडि'

कडिपट्टभंडछिहली, कीरति णवि धम्म अम्ह चेवासी। कत्तरि खुरेणऽणिच्छे, हाणी एक्केक जा लोउ ॥ ६४ ॥

तस्मिन्ननिच्छत्यन्ये भणन्त्यस्माकमपीत्यादि द्वार १ ॥ ६४ ॥ ' सिह ' सिहली नाम शिखोच्यते सा तस्य ध्रियते २ कर्त्तर्या कल्पनं, भण्डतीत्यादि स्पष्टं ३, कार्येण हेतुभूतेन लोचोऽपि ४ पाठो द्विधा ग्रहणशिक्षाऽऽसेवनाशिक्षा च । तत्र ग्रहणे ग्रहणशिक्षायां परमतानि ग्राह्यतेऽनिच्छति स्वमतोक्तानि परमतानि, तथाऽप्यनिच्छति विपरीताः स्वसमया आलापकाः पाठ्याः । तथाऽऽसेवनायां चरणकरणानि न ग्राह्यते ॥ ६५ ॥ ' विया '

वियारगोयरे थेरसंजुत्तो रत्तिं दूरि तरुणाणं । गाहेइ ममंपि तत्तो, थेरअ जत्तेण गाहिंति ॥ ६६ ॥

विचारे बहिर्भूमौ, गोचरे भिक्षायां स्थविरसंयुतः प्रेष्यते रात्रौ तु तरुणानां दूरे स्थाप्यते, चेत्स वक्ति ' ग्राहयत शिक्षां ममाऽपि ' ततः स्थविरा यत्नेन ग्राह्यन्ति ॥ ६६ ॥ ' वेर '

वेरग्गकहा विसयाण, णिंदणा उट्ठणिसियणे गुत्ता । चुक्कखलितंमि बहुसो, सरोसमिव तज्जए तरुणा ॥ ६७ ॥

वैराग्यकथां विषयानां निन्दनां वदन्ति, उत्थाने निषीदने गुप्ताङ्गाः सन्तः क्लीबं क्रियायां 'चुक्क' भ्रष्टं स्खलितं च तरुणाः सरोषमिव तर्जयन्ति विपरिणामाय ॥ ६७ ॥ ' कत '

कतकज्जा से धम्मं, कहिंति मुंचाहि लिंगमेयंति । मा हण दुएवि लोए, अणुव्वत्ता तुज्झ सो दिक्खा ॥ ६८ ॥

धर्मकथाः पाठयन्ति वा कृतकार्या तस्य स्वं धर्ममाख्यान्ति यथा हे क्लीब ! परमपि ( द्वयमपि ) लोकं मा जहीत्यादि ॥ ६८ ॥ एवमुक्तेऽप्यनिच्छति ' सण्णि '

सण्णिखरकम्मितो वा, भेसेइ कओ इह्देस संविग्गो । ते सासती रायकुले, यदि सो ववहार मग्गिज्जा ॥ ६९ ॥

संज्ञिनां श्राद्धानां खरकर्मणां तलवरादीनां प्रज्ञापना कथनं, ते च गाढं भापयन्ति, 'कुतो युष्मन्मध्येऽदः क्लीबं ? यात्वसौ नो चेद्वनिष्यामः, ' इतरे साधवोऽपि ' मा म्रियस्व, गच्छ, इति प्रज्ञापयन्तीत्यादि ॥ ६९ ॥ द्वार ७ ' एए '

एएहिं दिक्खिओहं, साहिज्ज लोगो ण याणते कोति । जह एतेहिं दिक्खितो हं, तो ते बिंति ण दिक्खेमो ॥ ७० ॥

अथ क्लीबं नरेन्द्राय ' एए 'त्यादि ' साहिज्ज ' वदेत्, ततोऽसावेभिर्दीक्षित इति राज्ञा ज्ञाते कटिपट्टादिना प्रतिषेधः । अथ लिङ्गे सति स्वयं गृहीतलिङ्ग इति प्रतिषेधः ॥ ७० ॥ ' अज्झा '

अज्झाविओ मि एतेहिं, चेव पडिसेहो किंचऽहीतं ? तो । छलियकहादी कड्डति, कत्थ जती कत्थ छलिताइं ॥ ७१ ॥

एतैः पदैरेवाऽध्यापितोऽहमिति वक्ति, ततोऽन्यमतग्रन्थमस्माभिर्भाणित इति निषेधः, किं वाऽधीतं त्वया ? तत्राऽस्य छलितकथादेर्विरुद्धकथादेः प्राक् पठितत्वात् तत्कर्पणे उच्यते—क यतिः ? क च छलितादिः ? ॥ ७१ ॥ यतः ' पुवा '

पुव्वावरसंजुत्तं, वेरग्गकरं सततमविरुद्धं । पोराणमद्धमागहभासाणियतं हवइ सुत्तं ॥ ७२ ॥

पूर्वापराभ्यां संयुक्तं सम्बन्धं सतन्त्रं मविस्तरं, पुराणं चिरन्तनमर्धमागधभापया नितरां यतं बद्धं जैनसूत्रं स्यात् ॥७२॥ 'जे सु'

जे सुत्तगुणाभिहिता, तव्विवरीयाइं गाहिओ पुव्विं ।निच्छिण्णकारणाणं सा चेव विगिंचणे जयणा ॥ ७३ ॥

ये सूत्रगुणा उक्ताः, अत एव हेतोस्तद्विपरीतसूत्राणि पूर्वं ग्राहयेत् । ' निच्छिण्णे 'त्यादि समाप्तकारणानां यतीनां विगनेऽमावेवोक्ता वक्ष्यमाणा च यतना ॥ ७२ ॥ नायमेभिर्दीक्षित इति ज्ञातेऽन्यदेशे त्याज्यः । अन्ये त्वाहुर्नाऽन्यत्र गम्यं, किन्तु नृपपृष्टैः श्रीगृहदृष्टान्ता वाच्याः, राजन् ! यदि श्रीगृहे कोऽपि चुक्कितस्तस्य किं युक्तं ? राजा वक्ति निष्काश्यते,

तद्वंस्याऽपि ज्ञानादिश्रीगृहविनाशित्वात् त्यागः । बहुस्वजनो वा क्लीबस्त्यक्तुं न शक्यते तत्रेयं यतना ॥ ७३ ॥ 'कावा'

कावालिए सरक्खे, तव्वण्णियवसहलिंगरूवेणं । वेडुंबगपव्वइए, कायव्व विहीए वोसिरणं ॥ ७४ ॥

कापालिको भरटकः, सरजस्को योगी, तत्त्वज्ञो बौद्धस्तत्र वृषभः कापालिकादिलिङ्गरूपेण निःसृत्य दूरे गत्वा बहुस्वजनं क्लीबं व्युत्सृजति। नृपादिकुलोद्भवो वेडुम्बको भण्यते, तस्मिन्नपि प्रव्राजित उक्तविधिना व्युत्सृजनं ॥ ७४ ॥ अत्र भाष्यं 'निव' 'तुम'

निववल्लभबहुपक्खंमि, वावि तरुणवसहामिणं बेंति । भिन्नकहाओ भट्टाण घडइ इह, वच्च परतित्थी ॥ ७५ ॥

तुमए समगं आमंति, निग्गओ भिक्खमाइलक्खेणं। नासइ भिक्खुकमाइसु, छोढूण तओवि विपलाइ ॥ ७६ ॥

नृपवल्लभे बहुपक्षे वा तरुणवृषभा इदं ब्रुवते 'भिन्ना विरुद्धा भ्रष्टाः कथा इह न घटन्ते व्रज परतीर्थे'। स चेद्वक्ति 'तुम' त्वया समं व्रजामि, ततो वृषभ आममित्युक्त्वा यथोक्तभिक्षुकादिवेपलक्ष्येण निर्गतो भिक्षुकादिषु तं क्षिप्त्वा नश्यत्यदृश्यः स्यात्ततः पलायते ॥ ७५ ॥ उक्ता क्लीबपारिष्ठापनिका । आदौ 'नपुंसमाईसु होइ सचिता' इत्यादिशब्देनाऽवरुद्धा गृहीता ये जड्डादयस्त इमे वक्ष्यमाणाः स्युः, शेषं स्पष्टं ॥ ७६ ॥ 'तिवि'

तिविहो य होइ जड्डो भासा सरीरे य करणजड्डो य । भासाजड्डो तिविहो, जलमम्मण एलमूओ य ॥ ७७ ॥

जड्डो जाड्यवान्, स त्रिधा भाषाजड्डः शरीरजड्डः करणजड्डश्च। भाषाजड्डो जलमूको मम्मणा मूकः एडमूकश्च ॥ ७७ ॥ 'जला' इव यथार्थे, यथा जलमध्ये ब्रुडितो घटो 'बुड' इति इदृशो यस्य ध्वनिः स जलमूकः । यथा एडको बोबूयते

तथा यो वक्ति स एडमूकः ॥ ७८ ॥ ' मम्म ' यस्य प्रजल्पतो वाक् उत्खच्यते स्खलति स मम्मणमूकः, एतस्य मेधागुणतो दीक्षा भवेन्नेतरयोः ॥ ७९ ॥ ' दंस '

दंसणणाणचरित्ते, तवे य समिईसु करणजोए य । उवइट्ठंपि न गेण्हइ, जलमूओ एलमूओ य ॥ ८० ॥

करणयोगाः प्रतिलेखनाद्याः ॥ ८० ॥ ' णाण '

णाणायट्ठा दिक्खा, भासाजड्डो अपच्चलो तस्स । सो य बहिरो य नियमा, गाहण उड्डाह अहिगरणे ॥ ८१ ॥

इह ज्ञानाद्यर्थं दीक्षा दीयते, भाषाजड्डस्तस्य ज्ञानाद्यर्थस्याऽप्रत्यलः, यतः एडमूको नियमाद्बधिरो जलमूकस्य च ज्ञाना-दिग्राहणे उड्डाहाऽधिकरणे स्तः ॥ ८१ ॥ उक्तो भाषाजड्डः । ' तिवि ' ' अद्धा '

तिविहो सरीरजड्डो, पंथे भिक्खे य होइ वंदणए । एएहिं कारणेहिं, जड्डस्स न कप्पई दिक्खा ॥ ८२ ॥

अद्धाणे पलिमंथो, भिक्खायरियाए अपरिहत्थो य । दोसा सरीरजड्डे, गच्छे पुण सो अणुण्णाओ ॥ ८३ ॥

शरीरजड्डस्त्रिविधस्त्रिषु स्थानेष्वयोग्य इत्यर्थः, यथा पथि भिक्षायां वन्दने च । तत्र शरीरजड्डेऽध्वनि पलिमन्थो वेलातिक्रम एव, द्वितीयं स भिक्षाचर्यायामपरिहस्तो जड्डकत्वेनाऽशीघ्रकारित्वाददक्षो मूर्खश्चशब्दात् तृतीयं वन्दनादावशक्तः । शरीरजड्डे यद्यप्येते दोषाः परं गच्छे ज्ञानादौ कारणेऽनुज्ञातः ॥ ८२ ॥ तथा ' उड्डु '

उड्डुस्सासो अपरक्कमो य, गेलन्नलाघवग्गिअहिउदये । जड्डस्स य आगाढे, गेलण्ण असमाहिमरणं च ॥ ८४ ॥

जड्डः स्तोकेऽपि कार्ये कृत उच्चोच्छ्वासः स्यात्, तथा भक्तपानाद्यानयने मार्गगमनादौ वाऽपराक्रमोऽक्षमः । ग्लानत्वे

सत्युत्थानादौ, अग्नौ अहौ उदके च पलायितुमक्षमः । आगाढग्लानत्वेऽसमाधिमरणं च ॥ ८४ ॥ 'सेए'

सेएण कक्खमाई, कुच्छेण (कुत्थणे) धुवणुप्पिलावणा पाणा। नत्थि गलओय चोरो, निंदियमुंडाइ(व)वाए य ॥ ८५ ॥

कक्षादीनां स्वेदेन कोथनं, तदाऽम्भसा धावने प्राणा उत्प्लाव्यन्ते । एते नित्यं निविष्टाः खादन्ति नाऽन्यत् किञ्चिद्विदन्ति, यतो न स्याद्गलः कण्ठश्चोरः, खादितं ज्ञापयत्येवेत्यर्थः । जनो वक्ति 'ओदनार्थमेवे'ति मुण्डिता निन्दितमुण्डा इत्यपवादश्च । भाषाशरीरजङ्घावुक्तौ ॥ ८५ ॥ अतः करणजङ्घः 'इरि'

इरियासमिई भासेसणा य, आयाणसमिइगुत्तीसु । नवि ठाइ चरणकरणे, कम्मुदएणं करणजङ्घो ॥ ८६ ॥

ईर्यासमित्यादिष्वन्यस्मिन्नपि यो यथोक्ते चरणकरणे न तिष्ठति स करणजङ्घः ॥ ८६ ॥ 'एसो'

एसोवि न दिक्खिज्जइ, उस्सग्गेणमह दिक्खिओ होज्जा। कारणगएण केणइ, तत्थ विहिं उवरि वोच्छामि ॥ ८७ ॥

एषोऽप्युत्सर्गेण न दीक्ष्यतेऽथ दीक्षितो भवेत् केनाऽपि कारणगतेन कारणोत्पत्त्या तत्राऽर्थे विधिमुपरीत्यग्रे वक्ष्ये ॥ ८७ ॥ 'जो य' कदाचिन्मम्मणमूकः प्रव्राज्यते स गुणदोषौ विचार्य ॥ ८८ ॥ 'मोत्तुं'

मोत्तुं गिलाणकज्जं, दुम्मेहं पडियरइ जाव छम्मासा । एक्केक्के छम्मासा, जस्स व दट्ठुं विगिंचणया ॥ ८९ ॥

मेधावान् दीक्ष्यत इति प्रागुक्तं, दुर्मेधं तु ग्लानादिकार्याय दीक्षितुं, 'गिलाणकज्जं'ति ग्लानकार्यकारणकालं मुक्त्वा षण्मासान् यावत्पाठयेत् । एवं 'एक्केक्के'त्यादि, स्वकुले, ततो गणे, ततः संघे, प्रत्येकं षण्मासाः पाठ्यः । 'जस्स'त्ति यं वा दृष्ट्वा प्राप्य जाड्यं नश्येत्तस्यार्प्यः, न स्याच्चेद्विज्ञः, ततो विवेचना त्यागः ॥ ८९ ॥ 'गच्छे' शरीरजङ्घो गच्छे यथायुर्या-

[illegible] तपःकर्म कार्यते ॥ ९० ॥ 'जो पु'

जो पुण करणे जढो, [illegible] तस्स होंति छम्मासा । कुलगणसंघनिवेयण, एवं तु विहिं तहिं कुज्जा ॥ ९१ ॥

[illegible] कारणे [illegible] षण्मासान् यावत्सामाचारीशिक्षणं, ततः कुलादिषु निवेदनं कृत्वा एतं प्रागुक्तं [illegible] कुर्यात् ॥ ९१ ॥ उक्ताः सचित्तमनुजसंयता अथाऽचित्तमनुजसंयताः 'आसु'

आसुक्कारगिलाणे, पच्चक्खाणे य आणुपुव्वीए । अचित्तसंजयाणं, वोच्छामि विहीए वोसिरणं ॥ ९२ ॥

[illegible] अचित्तीकरणं, आशु शीघ्रं [illegible] तद्धेतुत्वादिह विषूचिकादयस्तैर्योऽचित्तीभूतो ग्लानो मन्दश्च सन् तथाऽनुपूर्व्या [illegible] योऽचित्तीभूतः ॥ ९२ ॥ 'एव'

एव तु [illegible] मुणिणा सुत्तत्थगहियसारेणं । न हु कायव्व विसाओ, कायव्व विहीइ वोसिरणं ॥ ९३ ॥

[illegible] साधौ ॥ ९३ ॥ अथ द्वारगाथे इमे द्वे 'पडि' 'उट्ठा'

पडिलेहणा दिसा णंतए य, काले दिया य रीणो य । कुसपडिमा पाणग-नियत्तणे य तणसीसउवगरणे ॥ ९४ ॥

उट्ठाणनामगहणे, पयाहिणे काउसग्गकरणे य । खमणे य असज्झाए, तत्तो अवलोयणे चेव ॥ ९५ ॥

[illegible] १ 'दिस'त्ति दिग्भागवीक्षणं २ नन्तं वस्त्रं मृताच्छादनार्हं ३ तानि जघन्यतस्त्रीणि चत्र-
[illegible] २ दिवारात्रौ च सायौ काले मृत्यौ जाते सति लाञ्छनादि कार्यं ४ कुशप्रतिमा ५ पानीयमुपवातरक्षार्थं

यस्यां दिशि ग्रामस्तस्यां कार्यं ९ मृतपार्श्वे उपकरणं रजोहरणादि मोच्यं १० उत्थाने शवस्य ग्रामादित्यागः ११ साधोर्नामग्रहणे तस्य लोचादि कार्यं १२ परिष्ठाप्य संहारेणाऽप्रदक्षिणमागम्यं १३ ततः कायोत्सर्गः १४ रत्नाधिकादौ मृत उपवासः १५ अस्वाध्यायश्च न तु सर्वस्मिन् १६ ततो द्वितीयेऽह्नि परिष्ठापनाभूम्यवलोकनं १७ ॥ ९४–९५ ॥ अथ द्वाराणां व्याख्या 'जहि'

जहियं तु मासकप्पं, वासावासं च संवसे साहू । गीयत्था पढमं चिय, तत्थ महाथंडिले पेहे ॥ ९६ ॥

संवसन्ति साधवस्तत्र ग्रामाद्बहिरासन्ने, मध्ये, दूरे च इति महास्थण्डिलानि प्रत्युपेक्षन्ते, यत आद्यस्य हरितजनाकीर्णतादिव्याघाते द्वितीये गम्यत इत्यादि ॥ ९६ ॥ अन्यकृता गाथा । द्वार १ । 'दिसा' 'पउ'

दिसा अवरदक्खिणा, दक्खिणा य अवरा य दक्खिणा पुव्वा । अवरुत्तरा य पुव्वा, उत्तरपुव्वुत्तरा चेव ॥ ९७ ॥

पउरन्नपाणपढमा, बीयाए भत्तपाण ण लहंति । तइयाए उवहीमाई, नत्थि चउत्थीए सज्झाओ ॥ ९८ ॥

दिशः क्रमादपरदक्षिणाद्याः–नैऋत १ दक्षिण २ पश्चिम ३ आग्नेय ४ वायव्य ५ पूर्वा ६ उत्तरा ७ ईशानाख्याः ८। तत्र प्रथमायां नैऋतायां प्रत्युपेक्षितायां प्रचुरमन्नं पानं वस्त्रादि च स्यात्, तस्यामसत्यां द्वितीयस्यां प्रेक्षणे भक्तादि न लभन्ते तृतीयस्यां प्रतिलेखितायामुपध्यादि न लभन्ते, शेषं स्पष्टं ॥ ९७–९८ ॥ 'पंच'

पंचमियाए असंखडि, छट्ठीए गणविभेयणं जाण । सत्तमिए गेलन्नं, मरणं पुण अट्ठमी बिंति ॥ ९९ ॥

षष्ठ्यां गणस्य भेदं विभेदं जानीहि, शेषं स्पष्टं । तथाऽऽद्याया अभावे द्वितीयाऽपि प्रेक्ष्यते, तथाऽप्याद्याया एव गुणः,

एवमाद्यादीनामभावेऽग्रेतनाऽग्रेतनादिका प्रतिलेख्या, गुणस्त्वाद्याया एव। पूर्वस्यां २ सत्यां त्वग्रेतनायाः प्रेक्षणे ग्रन्थोक्तो दोषः, द्वार २ ॥ ९९ ॥ 'पुव्वं'

पुव्वं दव्वालोयण, पुव्विं गहणं च णंतकट्ठस्स। गच्छंमि एस कप्पो, अनिमित्ते होउवक्कमणं ॥ १०० ॥

साधवस्तिष्ठन्त एव पूर्वं तृणडगलछारादिद्रव्यालोकनं कुर्युः। शवाच्छादनार्हाणाम् नन्तानां वहनार्हकाष्ठस्य च ग्रहणं यतो विस्तारदैर्घ्याभ्यां यत्प्रमाणमुक्तं तस्मादधिकानि चोक्षाकर्चुरसुगन्धिश्वेतवासांसि, एकं तले क्षेप्तुमेकं परिधापनायैकमाच्छादनायेति जघन्यतः, बहु गच्छं तु ज्ञात्वा बहूनि स्थाप्यान्यन्यथाऽऽज्ञाभङ्गः। मलिनकुचेलानि न क्षेप्याणि जननिन्दादोषभावात्। तानि वस्त्राणि वृषभाः सारयन्ति पाक्षिकादिषु प्रत्युपेक्षन्ते नाऽन्वहं मालिन्याप्तेः, गच्छ एष कल्पः आचारः। काष्ठमपि पूर्वमेव ग्राह्यं यतोऽनिमित्ते निष्कारणेऽप्यकस्मात्कस्याऽप्युपक्रमणं मृत्तिः स्यात्तदैव काष्ठग्रहणेऽपक्रमणेऽधिकरणं स्यात्, तत्र मृतं परिष्ठाप्य सागारिकाशयं ज्ञात्वा पश्चादानेयं वा परिष्ठाप्यं वा ॥ १०० ॥ 'सह' 'जं वे'

सहसा कालगयमी, मुणिणा सुत्तत्थगहियसारेण। न विसामो कायव्वो, कायव्व विहीइ वोसिरणम् ॥ १०१ ॥

जं वेलं कालगओ, निक्कारण कारणे भवे निरोहो। छेयणबंधणजग्गणकाइयमत्ते य हत्थउडे ॥ १०२ ॥

अह्नि निशि वा यस्यां वेलायां कालगतो निष्कारणे तदैव निष्काश्यः, स्वजनबाहुल्यसमहत्त्वभयादौ कारणे निरोधः स्थापनं भवेत्। स्थापने चाऽङ्गुल्यन्तरे छेदनं, करयोः पादयोश्चाऽङ्गुष्ठद्वयं संमील्य बन्धनं, संस्तारकेण च सह बन्धनं, बालादीन् दूरे कृत्वा गीतार्थानां निर्भयत्वेन सत्कथाभिर्जागरणं, कायिकीयुग्मात्रकं च न परिष्ठाप्यं, यस्मात् कदाचिच्छवस्यो-

स्थाने 'हत्थउडे' त्ति हस्तपुटेन कायिकीं लात्वा सिञ्चति। अच्छेदनादावाज्ञादयो दोषाः ॥ १०–२ ॥ यतः 'अन्ना'

अन्नाविट्ठसरीरे, पंता वा देवया उ उट्ठेज्जा। काइयं डव्वहत्थण, मा उट्ठे बुज्झ गुज्झया ' ॥ १०३ ॥

अन्याविष्टे व्यन्तराधिष्ठे शरीरे छलः स्यात्, प्रान्ता प्रत्यनीका देवता वा शरीरं प्रविश्योत्तिष्ठेत्, ततश्छेदादि कार्यं ! एवमप्युत्थाने 'डव्व०' वामहस्तेन कायिक्या सिक्त्वोच्यते 'मा उट्ठे'त्यादि, हे गुह्यक व्यन्तर ? बुध्यस्व मा संथाराओ उट्ठेहि, यद्येवं कुर्वतामपि ॥ १०३ ॥ 'वित्ता' 'दोन्नि'

वित्तासेज्ज हसेज्ज व, भीम वा अट्टहास मुंचेज्जा। अभीएणं तत्थ उ, कायव्व विहीए वोसिरणं ॥ १०४ ॥

दोन्नि य दिवड्ढखेत्ते, दब्भमया पुत्तला उ कायव्वा। समखेत्तंमि उ एक्को, अवड्ढऽभीए ण कायव्वो ॥ १०५ ॥

वित्रासयेदित्यादि, तत्राऽभीतेनेत्यादि। इह यदा मृतस्तदा करांह्री सरलौ क्रियेतेऽह्री मिल्येते, मुखे मुखपोतिर्बध्यात्, द्वार ४। द्व्यर्धक्षेत्रे पञ्चचत्वारिंशन्मुहूर्त्तमाने क्षेत्रे द्वे दर्भमये, समक्षेत्रे त्रिंशन्मुहूर्त्त एकः, अपार्द्धे पञ्चदशमुहूर्त्तेऽभिजिति च न कार्यः ॥ १०४–५ ॥ 'तिण्णे'

तिण्णेव उत्तराइं, पुणव्वसू रोहिणी विसाहा य। एए छ नक्खत्ता पणयालमुहुत्तसंजोगा ॥ १०६ ॥

पञ्चचत्वारिंशन्मुहूर्त्तानि ९० घटिकाश्चन्द्रेण सह संयोगं कुर्युः ॥ १०६ ॥ 'अस्सि' 'तह' 'सय'

अस्सिणिकित्तियमियसिर, पुस्सो मह फग्गु हत्थ चित्ता य। अणुराह मूल साढा, सवणधणिट्ठा य भद्दवया ॥ १०७ ॥

तह रेवइत्ति एए पन्नरस हवंति तीसइमुहुत्ता। नक्खत्ता नायव्वा, परिट्ठवणविहीय कुसलेणं ॥ १०८ ॥

मयभिसया भरणीओ, अद्दा अस्सेम साइ जेट्ठा य । एए छ नक्खत्ता, पनरसमुहुत्तसंजोगा ॥ १०९ ॥

आषाढा पूर्वाषाढोत्तराषाढा, 'मह' मघा । एषु नक्षत्रेषु यथोक्तविध्यकरणे सामाचारीदोषः । 'अकरणे अन्ने दो कट्टेह' इत्यादिचूर्ण्युक्तदोषाश्च द्वार ५ ॥ १०७–१०९ ॥ 'सुत्त'

सुत्तत्थतदुभयविऊ, पुरओ घेत्तूण पाणय कुसे य । गच्छइ य जउड्डाहो, परिट्ठवेऊण आयमणम् ॥ ११० ॥

सूत्रार्थयोस्तदुभयस्य विज्ञो मात्रकेण सहाऽसंसृष्टं पानीयं तथा चतुरंगुलाधिकहस्तमानान् समच्छेदेन अन्योन्यासम्बन्धान् कुशांश्च गृहीत्वा पुरतो( पृष्ठतो )ऽस्पृशद् (ऽपश्यन्) गच्छति, कुशाभावे केशराणि चूर्णानि वा गृह्णाति, येन प्राक् स्थण्डिलं दृष्टं स्यात् । परिष्ठाप्य यद्युड्डाहः स्यात्तदाचमनं कार्यं, कोऽर्थः ? चेत्सागारिकस्तदा यैर्व्यूढं ते करांह्रीन् धावित्वाऽऽचमन्ति । आचमनग्रहणेन यथा २ उड्डाहो न स्यात्तथा २ स्नानादि कार्यं, द्वार ६ ॥ ११० ॥ 'थंडि'

थंडिलवाघाएणं, अहवावि अणिच्छिए अणाभोगा । भमिऊण उवागच्छे, तेणेव पहेण न नियत्ते ॥ १११ ॥

स्थण्डिलस्य जनाकीर्णत्वादिव्याघातेनाऽथवाऽनाभोगात् स्थण्डिलेऽतिक्रान्ते भ्रान्त्वा स्थण्डिलमप्रदक्षिणय्य तस्मिन् स्थण्डिल उपागच्छेयुस्तेनैव पथा न निवर्तन्तेऽन्यथाऽसामाचार्युत्थानादिदोषाः, द्वार ७ ॥ १११ ॥ 'कुस'

कुसमुट्ठी एगाए, अव्वोच्छिण्णाइ एत्थ धाराए । संथारं संथरेज्जा, सव्वत्थ समो उ कायव्वो ॥ ११२ ॥

तत्र स्थण्डिले प्रमार्ज्य एकया कुशमुष्ट्याऽछिन्नधारयेत्यादि ॥ ११२ ॥ 'विस'

विसमा जइ होज्ज तणा, उवरि मज्झे व हेट्ठओ वावि । मरणं गेलण्णं वा, तिण्हंपि उ निद्दिसे तत्थ ॥ ११३ ॥

त्रयाणां वक्ष्यमाणानां ॥ ११३ ॥ 'उव'

उवरिं आयरियाणं, मज्झे वसहाण हेट्ठि भिक्खूणं । तिण्हंपि रक्खणट्ठा, सव्वत्थ समा उ कायव्वा ॥ ११४ ॥

समाः प्रस्तार्याः ॥ ११४ ॥ 'जत्थ'

जत्थ य नत्थि तणाइं, चुण्णेहिं तत्थ केसरेहिं वा । कायव्वोऽत्थ ककारो, हेट्ठ तकारं च बंधेज्जा ॥ ११५ ॥

तृणाभावे तत्र चूर्णैर्नागकेसरैर्वाऽछिन्नधारयाऽभावे वा लेपादिभिरपि ककारः कर्तव्योऽधस्तकारं बध्नीयात्, द्वार ८ ॥ ११५ ॥ 'जाए'

जाए दिसाए गामो, तत्तो सीसं तु होइ कायव्वम् । उट्ठंतरक्खणत्था, एस विही से समासेणं ॥ ११६ ॥

यस्यां दिशि ग्रामस्तस्यां दिशि परिष्ठापयद्भिः शीर्षं कार्यं, वसतेरपि निष्कासयद्भिः पूर्वं पादौ पश्चाच्छीर्षं निष्कास्यं, 'उट्ठिं' किमर्थमुत्तिष्ठतो रक्षणार्थं कोऽर्थश्चेदुत्तिष्ठेत्तदा तस्यामेव दिशि याति, द्वार ९ ॥ ११६ ॥ 'चिण्ह'

चिण्हट्ठा उवगरणं, दोसा उ भवे अचिंधकरणंमि । मिच्छत्त सो व राया, व कुणइ गामाण वहकरणं ॥ ११७ ॥

चिह्नार्थं यथास्थानमुपकरणं रजोहरणं मुखपोत्तिश्चोलरूपं तत्पार्श्वे स्थाप्यमचिह्नकरणे दोषा आज्ञाभङ्गादयः । स च देवो जातः साधुलिङ्गमदृष्ट्वा मिथ्यात्वं गच्छेत् । यथोज्जयिनीश्राद्धो बौद्धलिङ्गमृतो देवो जातः, स्वदेहे बौद्धलिङ्गं दृष्ट्वा मिथ्यात्वं गतः, राजा वाऽनुपलक्षितं मृतं वीक्ष्य केनाऽप्यसौ हत इति ग्रामाणां वधकारणं कुर्यात् ॥ १७ ॥ 'वस'

वसहि निवेसण साही, गाममज्झे य गामदारे य । अंतरउज्जाणंतर, निसीहिया उट्ठिए वोच्छं ॥ ११८ ॥

वसतिः स्पष्टा १ निवेशनमनेकगृहमेकद्वारं फलहिकं २ 'साही' शाखापाटकरूपा ३ ग्राममध्यं ४ ग्रामद्वारं ५ ग्रामोद्यानयोरन्तरं ६ उद्यानं ७ उद्यानस्थण्डिलयोरन्तरं ८ नैषेधिकी स्थण्डिलं ९ एषु स्थानेषु शव उत्थिते साधूनां विधिं वक्ष्ये ॥१८॥ 'वस

वसहि निवेसण साही, गामद्धं चेव गाम मोत्तव्वो । मंडलकंडुद्देसे, निसीहिया चेव रज्जं तु ॥ ११९ ॥

वसतौ निवेशने शाखायां वा शव नीयमान उत्तिष्ठति वसत्यादयस्त्याज्याः १ ग्राममध्य उत्तिष्ठति ग्रामार्धं ४ चकाराद् ग्रामद्वारे च ग्रामो मोक्तव्यः ५, एवं ग्रामोद्यानान्तरे मण्डलं देशभागः ६ उद्याने काण्डं देशखण्डं मण्डलादधिकतरं ७ उद्याननैषेधिक्योरन्तरे देशः ८ नैषेधिक्यां स्थण्डिले मोक्तव्यं राज्यं ९ । तथा परिष्ठाप्य गीतार्था मुहूर्त्तं पार्श्वे तिष्ठन्ति, कदाचि-दुत्तिष्ठेत्, तत्र स्थण्डिल एवोत्थाय पतति वसतिस्त्याज्या । स्थण्डिलोद्यानान्तरे निवेशनमित्यादि ॥ ११९ ॥ भाष्यं 'वच्चं

वच्चंते जो उ कमो कलेवर पवेसणंमि वोच्चत्थो । णवरं पुण णाणत्तं, गामद्दारंमि बोद्धव्वं ॥ २०७ ॥

व्रजति यः क्रमः कलेवरप्रवेशने स एव विपर्यस्तो ज्ञेयो नवरं ग्रामद्वारे नानात्वं न विपर्ययस्ततो ग्रामत्यागस्योभयत्र तुल्यत्वात् । निर्गूढश्च द्वितीयवारं द्वे राज्ये त्याज्ये, तृतीये वारे राज्यानि त्रीणि ततो बहुशोऽपि प्रविशति त्रीण्येव । 'वीयं वसहिमयंते तां चिय अन्नं च मुंचए रज्जं, तप्पभिइं तिन्नेव य रज्जाणि मुयंति पविसंते ' ॥ २०७ ॥ क्षेपकगाथार्थ उक्त एव । 'असि '

असिवाइकारणेहिं, तत्थ वसंताण जस्स जो उ तवो ॥ अभिगहियाणभिगहिओ, सा तस्स उ जोगपरिवुड्डी ॥ १२० ॥

अशिवादिभिः कारणैर्नमत्यादिस्थानात्यागात् तत्रैव वसतां यस्य यत्तपोऽभिगृहीतमभिग्रहबद्धमनभिगृहीतं च तस्य

योगवृद्धिः कार्या, यथा नमस्कारकर्त्तुः पौरुषी पौरुषीकर्तुः पुरिमार्धं इत्यादि, सति सामर्थ्ये आचाम्लां यावदशक्तावेकाशनमपि, द्वार ११ ॥ १२० ॥ 'गिह्न'

गिह्नइ णामं एगस्स, दोण्हमहवावि होज्ज सव्वेसिं । खिप्पं तु लोयकरणं, परिण्णगणभेयबारसमं ॥ १२१ ॥

एकस्य द्वयोरथवा सर्वेषां नाम गृह्णाति तेषां क्षिप्रं लोचकरणं, 'बारसमंति' द्वादशं 'परिण्ण'त्ति प्रत्याख्यानं देयमक्षमस्य दशमषष्ठचतुर्थादि । गणभेद इति ते गणात् कियत्कालं निष्कास्यन्ते, एवमकुर्वतोऽसामाचारी, द्वार ॥१२१॥ 'जो ज'

जो जहियं सो तत्तो, नियत्तइ पयाहिणं न कायव्वं । उट्ठाणाई दोसा, विराहणा बालवुड्ढाई ॥ १२२ ॥

यो यत्र ग्रामे दक्षिणे वा स्यात् स तत एव निवर्त्तेत, सर्वप्रदक्षिणं न कर्तव्यं, उत्थानादयो दोषा बालवृद्धादीनां विराधना च, द्वार १३ ॥ १२२ ॥ 'उट्ठा'

उट्ठाणाई दोसा उ, हौंति तत्थेव काउसग्गंमि । आगम्मुवस्सयं गुरुसगासे विहीए उस्सग्गो ॥ १२३ ॥

तत्रैव स्थण्डिले क्रियमाण उत्थानादयो दोषाः स्युः । ततो ग्राममागम्य, चैत्यं गत्वा, नत्वा शान्त्यै अजितशान्तिस्तवो गुण्यः । 'तिन्नि वा थुईओ परिहायन्ति उकड्ढिज्जंति', ततो गुरुपार्श्वमेत्याऽविधिपारिष्ठापनिकी उत्सर्गः कार्यः सप्तविंशत्युच्छ्वासः, एष वृद्धसम्प्रदायः । आचरणा पुनः—'उम्मत्थयरयहरणेणं किर गमणागमणं आलोइज्जइ ततो इरियावहिया पडिकमिज्जइ तओ चेइयाइ वंदित्तेत्यादि सिवे विही असिवे न कीरइ' । 'उम्मत्थये'ति दसिका अग्रतः क्रियन्ते, वसतिस्थैर्विण्मूत्रखेलमात्राणि त्याज्यानि स्थानं प्रमार्ज्यं, द्वार १४ ॥ १२३ ॥ 'खम'

खमणे य असज्झाए, राइणिय महाणिणाय नियगा वा । सेसेसु नत्थि खमणं, नेव असज्झाइयं होइ ॥ १२४ ॥

क्षपणमुपवासोऽस्वाध्यायश्च कार्यश्चेद्रत्नाधिकः सूरिर्महानिनाद इति महाजनज्ञातो वा मृतो निजकाः स्वजना वा तस्य मन्ति, शेषेषु साधुषु मृतेषु क्षपणानध्यायौ न भवतः, द्वार १६ ॥ १२४ ॥ ' अव '

अवरज्जुयस्स तत्तो, सुत्तत्थविसारएहिं थिरएहिं । अवलोयण कायव्वा, सुहासुहगइनिमित्तट्ठा ॥ १२५ ॥

' अवरज्जुयस्स 'अपरेद्यवि द्वितीयाहेऽवलोकनं कर्त्तव्यं शुभाशुभगतिज्ञानरूपनिमित्तार्थं, तच्च सूरेर्महर्द्धिकस्याऽनशनिनो महातपसो वा, ॥ १२५ ॥ ' जं दि '

जं दिसि विकड्ढियं खलु, सरीरयं अक्खुयं तु संविक्खे । तं दिसि सिवं वयंती, सुत्तत्थविसारया धीरा ॥ १२६ ॥

शरीरं यस्यां दिशि विनिष्काशितं खलु अक्षतं च तिष्ठेत्तस्यां दिशि शिवं सुभिक्षादि वदन्ति । यावद्दिनं चाऽक्षतं तिष्ठेत्तावद्वर्षाणि सुभिक्षं ॥ १२६ ॥ ' एत्थ '

एत्थ य थलकरणे, विमाणिओ जोइसिओ वाणमंतर समंमि । गड्डाए भवणवासी, एस गई से समासेण ॥ १२७ ॥

व्यवहाराद्गतेरवलोकनं, थल(शव)त्यागस्थण्डिले स्थूलकरण उन्नतभुवि दृष्टायां वैमानिकः, समभुवि ज्योतिर्व्यन्तरश्च । गर्त्तायां गर्त्तायां ॥ १२७ ॥ ' एसा '

एसा उ विही भव्वा, कायव्वा सिवंमि जो जहिं वसइ । असिवे खमण विवड्ढी, काउस्सग्गं च वज्जेज्जा ॥ १२८ ॥

एष द्वारगाथाद्वयोक्तो विधिर्यः साधुर्यत्र क्षेत्रे वसति तेन शिवे प्रान्तदेवतोपसर्गवर्जिते काले कर्तव्यः । अशिवे त्ववज्ञा-

हेतौ उक्तविधिषु क्षपणं कायोत्सर्गं वर्जयेत्, लिङ्गं च पार्श्वे न मोच्यं, किन्तु मुहूर्त्तं वसतौ स्थाप्यते यथा स्वर्गतो वसतिस्थं स्वाङ्गं वीक्ष्य सम्यग्दृक् स्यात् । येन संस्तारकेण नीतः स च खण्डित्वा त्याज्य एव, अपरं 'विवड्ढी'त्ति योगे वृद्धिः कार्या यथा शिवं स्यात् ॥ १२८ ॥ अथ निगमयन्नाह 'एसो'

एसो दिसाविभागो, नायव्वो दुविहदव्वहरणं च । वोसिरणं अवलोयण, सुहासुहगईविसेसो य ॥ १२९ ॥

एषोऽनन्तरगाथाद्विकस्य अर्थो दिग्विभागो दिङ्मात्ररूपो ज्ञातव्यो द्विविधं द्रव्यग्रहणं चेति । पूर्वकालगृहीतं वस्त्रादि पश्चात्कालगृहीतं कुशादि ज्ञातव्यं, तथा देहव्युत्सर्जनं द्वितीयेऽह्नि विलोकनं शुभाशुभगतिविशेषश्चेत्यादि संयतपारिष्ठापनिक्युक्ता । एषां द्वारोक्तविधीनां सर्वेषामकरण आज्ञाभङ्गादि, द्वार १७ ॥ १२९ ॥ गताऽचित्तसंयतपारिष्ठापनिका । 'अस्सं'

अस्संजयमणुएहिं, जा सा दुविहा य आणुपुव्वीए । सच्चित्तेहिं सुविहिया ! अच्चित्तेहिं च नायव्वा ॥ १३० ॥

सचित्तासंयतपारिष्ठापनिका अचित्तसंयतपारिष्ठापनिका च ॥ १३० ॥ तत्र सचित्तासंयतपारिष्ठापनिकामाह—'कप्प'

कप्पट्ठगरूयस्स उ, वोसिरणं संजयाण वसहीए । उदयपह बहुसमागम, विपज्जहालोयणं कुज्जा ॥ १३१ ॥

काऽपि स्त्री प्रतिकूलतया स्वायशोभिया वा दुष्कालादौ जीवनाय वा 'कप्पट्ठगरूयस्स' बालस्य संयतानां वसत्यां व्युत्सर्जनं कुर्यात्, तत्राऽयं विधिः—दिने दिने वृषभैः प्रातरपराह्ने सायं वाऽर्धरात्रे वसतिः शोध्यास्त्यजन्तीं दृष्ट्वा बोलः कार्यः—एषा 'बालं त्यक्त्वा याति' । ततो लोकः समेतो यद्वेत्ति तत्करोतु चेन्न दृष्टा तत 'उदगपहे'त्यादि, उदकहारिणीनां पथि चतुर्दिश्यां यत्र जनानां समागमः स्यात्तत्र प्रविहाय त्यक्त्वा पश्चान्मुखाः श्वकाकादिरक्षणायाऽवलोकनं कुर्युर्यथा जनो वेत्ति

'असौ कमपि प्रतीक्ष्यमाणोऽस्ति'। केनाऽपि वाले दृष्टे वलन्ति, गता सचित्तासंयतपारिष्ठापनिका ॥ १३१ ॥ 'पडि'

पडिणीयसरीरछुहणे, वणीमगाईसु होइ अचित्ता। तोवेक्खकालकरणं, विप्पजहविगिंचणं कुज्जा ॥ १३२ ॥

प्रत्यनीकेन मृतशरीरक्षेपणे कृते, वनीपके वाऽऽगते मृते, आदिशब्दात्केनाऽपि हत्वा तत्र त्यक्तेऽसंयतपारिष्ठापनिकाऽचित्ता स्यात्, तत्रोपेक्षा न कार्या तदैव वोलकरणं, चेत्कोऽपि नाऽऽयातस्तदा स्वयमसागारिकादौ स्थाने विप्रजह्यात्। तद्वस्त्रादेर्विवेकं त्यागं च कुर्यात्, गताऽचित्तासंयतपारिष्ठापनिका ॥ १३२ ॥ 'णोम'

णोमणुएहिं जा सा, तिरिएहिं सा य होइ दुविहा उ। सच्चित्तेहि सुविहिया! अच्चित्तेहिं च नायव्वा ॥ १३३ ॥

नोमनुजैस्तिर्यग्भिः पारिष्ठापनिका या सा द्विधा स्यात् सचित्ततिर्यक्पारिष्ठापनिकाऽचित्ततिर्यक्पारिष्ठापनिका च ॥ १३३ ॥ 'चाउ'

चाउलोयगमाईहिं, जलचरमाईण होइ सच्चित्ता। जलथलखहकालगए, अचित्ते विगिंचणं कुज्जा ॥ १३४ ॥

तन्दुलोदकादिभिर्जलचरादीनां पारिष्ठापनिका स्यात्, कोऽर्थः? तन्दुलाम्बुना सह मत्सो मण्डूकी वा समेतौ तौ चाल्याम्बुना सह सचित्ते जले नयेत्। मण्डूकी स्वयं जले याति मत्स्यस्तु क्षिप्यते। 'जले'त्यादि जलस्थलखगेषु कालगतेष्वचित्तनोमनुजपारिष्ठापनिका स्यात्कोऽर्थः? विहगादिना मृतमत्स्योदरकाकादावानीते विवेकं त्यागं कुर्यात् ॥ १३४ ॥ गता त्रसप्राणपारिष्ठापनिकाऽथ नोत्रसपारिष्ठापनिका 'नोत' 'आहा'

नोतसपाणेहिं जा सा, दुविहा होइ आणुपुव्वीए। आहारंमि सुविहिया!, नायव्वा नोअआहारे ॥ १३५ ॥

आहारंमि उ जा सा, सा दुविहा होइ आणुपुव्वीए । जाया चेव सुविहिया !, नायव्वा तह अजाया य ॥ १३६ ॥

आहारे उपकरणादौ च, आहारविषया याऽसौ पारिष्ठापनिका सा द्विविधा, हे सुविहिताः ! ज्ञातव्या, दोषात्त्याज्याहारविषया पारिष्ठापनिका जाता १, शुद्धाधिकाहारविषया पारिष्ठापनिका अजाता २ ॥ १३५–१३६ ॥ 'आहा'

आहाकम्मे य तहा, लोहविसे आभिओगिए गहिए । एएण होइ जाया, वोच्छं से विहीए वोसिरणं ॥ १३७ ॥

आधाकर्मणि च तथा लोभात् सिंहकेसरिवदात्ते, विषकृते आत्ते, मक्षिकादिविपत्त्या ज्ञाते, आभियोगिकवश्यादिमन्त्रसंस्कृते आत्ते, चेतोऽन्यथात्वादिलिङ्गज्ञाते सति, एतेनाऽऽधाकर्मादिदोषेण जाता स्यात् । 'से' तस्य विधिना व्युत्सर्जनं वक्ष्ये ॥ १३७ ॥ 'एग'

एगंतमणावाए, अचित्ते थंडिल्ले गुरुवइट्ठे । छारेण अक्कमित्ता, तिट्ठाणं सावणं कुज्जा ॥ १३८ ॥

एकान्ते विजनेऽनापाते श्वकाकादिजन्तुदृक्पातरहितेऽचित्ते गुरूपदिष्टे स्थण्डिले क्षारेण भस्मनाऽऽक्रम्य संमिश्र्य त्रिधा त्रीन् वारान् श्रावणं कुर्यादमुकदोषादिदं त्यज्यत इति निरूप्यते । अविधिज्ञेन तु न त्याज्यं । विषकृताभियोगिकयोरयं विधिः सयतनं कार्यः । आधाकर्मिकलोभात्तयोरप्ययमेव विधिर्विशेषस्तु वक्ष्यते ॥ १३८ ॥ 'आय'

आयरिए य गिलाणे, पाहुणए दुल्लहे सहसलाहे । एसा खलु अज्जाया, वोच्छं से विहीए वोसिरणं ॥ १३९ ॥

आचार्याद्यर्थे तथा दुर्लभे विशिष्टे द्रव्ये सति सहसा च तल्लाभे जाते सतीत्यादिहेतोरधिकग्रहणं स्यादेषाऽजाता ॥ १३९ ॥ 'एगं'

एगंतमणावाए अचित्ते, थंडिले गुरुवइट्ठे । आलोए तिण्णि पुंजे, तिट्ठाणं सावणं कुज्जा ॥ १४० ॥

अनापाते लोकद्वयापातरहित आलोके प्रकाशे शुद्धाहारस्य त्रीन् पुञ्जान् कुर्यात् । आधाकर्मादिमूलगुणदुष्टे त्वेकमुत्तरगुणदुष्टे तु द्वाविति विशेषः, पूर्ववत् त्रिधा श्रावणं च कुर्यात्, गताऽऽहारपारिष्ठापनिका ॥ १४० ॥ ' नोआ '

नोआहारंमी जा सा, सा दुविहा होइ आणुपुव्वीए । उवगरणंमि सुविहिया !, नायव्वा नोयउवगरणे ॥ १४१ ॥

नोउपकरणं श्लेष्मादि ॥ १४१ ॥ ' उव '

उवगरणंमि उ जा सा, सा दुविहा होइ आणुपुव्वीए । जाया चेव सुविहिया !, नायव्वा तह अजाया य ॥ १४२ ॥

वस्त्राद्युपकरणविषया जाताऽजाता च प्राग्वत् ॥ १४२ ॥ अत्र परः प्राह–' जाया '

जाया य वत्थपाए, वंका पाए य चीवरं कुज्जा । अज्जायवत्थपाए, वोच्चत्थे तुच्छपाए य ॥ १४३ ॥

वस्त्रे पात्रे जातापारिष्ठापनिकैवं कार्या, 'वंके'ति मूलगुणदुष्टं वस्त्रमेकस्मिन् स्थाने वक्रं कृत्वोत्तरगुणदुष्टं तु स्थानद्वये वक्रं कृत्वा त्याज्यं। पात्रे तु मूलगुणदुष्ट एकं चीवरखण्डं कुर्यात् क्षिपेदित्यर्थः, उत्तरगुणदुष्टे तु द्वे। अजाता तु वस्त्रपात्रयोरेवं 'वोच्चत्थ' विपर्यस्तं ज्ञेयं, कोऽर्थः ? शुद्धं वस्त्रमृजु धार्यं, पात्रं तुच्छं रिक्तं स्थाप्यं, अन्यकृतेयं गाथा। अत्र गुरुराह–नैवं युक्तं, वस्त्रचीवरयोरस्थिरत्वेन सदोषस्याऽपि शुद्धापत्तेः, परमेवं कार्यं ॥ १४३ ॥ ' दुवि '

दुविहा जायमजाया, अभिओगविसे य सुद्धऽसुद्धा य । एगं च दोण्णि तिण्ण य, मूलुत्तरसुद्धजाणट्ठा ॥ १४४ ॥

जाताऽजाता चेति पारिष्ठापनिका द्विधा, तत्राऽऽभियोगिका विषकृता तथाऽऽधाकर्मादिनाऽशुद्धा च जाता, शुद्धा त्वजाता।

आभियोगिकविषकृतयोर्वस्त्रपात्रयोः खण्डित्वा त्यागः । मूलगुणाशुद्धे वस्त्र एको ग्रन्थिः पात्रेषु कर्णक एकरेखा कार्या । उत्तरगुणाशुद्धे वस्त्रे द्वौ ग्रन्थी पात्रे च द्वे रेखे, शुद्धे वस्त्रे त्रयो ग्रन्थयः पात्रे तिस्रो रेखाः । ततो बहिरेकान्तानापाते त्यागः । पात्रं तु पात्रबन्धरजस्त्राणाभ्यां, बन्धनाऽभावे तु दवरकेण बद्धोर्ध्वमुखं तथा स्थाप्यं यथा वायुप्रवेशाज्जीवोत्पत्तिर्न स्यात्, तद्वस्त्रादि चेद् गृही लाति तथापि व्युत्सृष्टाधिकरणाः साधवः शुद्धाः । अन्यसाधुभिस्तु कारणादात्तं चेच्छुद्धं तदा यावज्जीवं भुज्यते । अशुद्धं त्वन्याभ्यां त्याज्यं ॥ १४४ ॥ 'नोउ'

नोउवगरणे जा सा, चउव्विहा होइ आणुपुव्वीए । उच्चारे पासवणे, खेले सिंघाणए चेव ॥ १४५ ॥

नोउपकरणमुच्चारादि, तद्विषया या पारिष्ठापनिका, खेलो गलश्लेष्मा, सिंघाणो घ्राणजः श्लेष्मा ॥ १४५ ॥ 'उच्चा' 'पुढ'

उच्चारं कुव्वंतो छायं, तसपाणरक्खणट्ठाए । कायदुयदिसाभिग्गहे य, दो चेवऽभिगिण्हे ॥ १४६ ॥

पुढवि तसपाणसमुट्ठिएहिं, एत्थं तु होइ चउभंगो । पढमपयं पसत्थं, सेसाणि उ अप्पसत्थाणि ॥ १४७ ॥

इह कृम्यादिसंभवे लोकोपभोगार्हं मुक्त्वाऽन्यद्वृच्छायायामुच्चारः कार्यः, वृक्षाभावे तूच्चारं कुर्वन्नुच्चारस्य स्वदेहेन त्रसप्राणरक्षार्थं छायां कुर्यात्, यावत्ते जीवाः परिणमन्ति । 'दुये'ति स्थावरत्रसभेदकायद्विकेऽग्रे गाथायां चतुर्भङ्गी वक्ष्यते, दिगभिग्रहश्च कार्यस्तत्र द्वे दिशावभिग्रहीयाद्यथा 'उभे मूत्रपुरीषे तु दिवा कुर्याद् उदङ्मुखः रात्रौ दक्षिणतश्चैव तस्य चाऽऽयुर्न हीयते'। पृथ्व्यादिस्थावरत्रसप्राणसमुत्थितैर्भेदैरत्र चतुर्भङ्गी–प्रतिलिखति प्रमार्जति चैवं स्थावराश्च त्रसा रक्षिताः १ । प्रतिलिखति न प्रमार्जति स्थावरा रक्षिता न त्रसाः २ । न प्रतिलिखति प्रमार्जति त्रसा रक्षिता न च स्थावराः । न च

प्रतिलिखति न प्रमार्जति स्थावरास्त्रसाश्च न रक्षिताः, अत्र प्रथमभङ्गरूपं पदं स्थावरत्रसयोरेकत्वात्प्रशस्तं शेषाण्यप्रशस्तानि । एवं उगलकमपि सुप्रतिलिखितं सुप्रमार्जितं वा योग्यं, सूर्यग्रामयोः पृष्ठिं न देयात् ॥ १४६–१४७ ॥ ' गुरु'

गुरुमूलेवि वसंता, अनुकूला जे न होंति उ गुरूणं । एएसिं तु पयाणं, दूरंदूरेण ते होंति ॥ १४८ ॥

गुरुमूले गुर्वन्तिकेऽपि ॥ १४८ ॥ इति पारिष्ठापनिकी गता । अत्र निषिद्धाचरणादिना योऽतिचारस्तस्मात्प्रतिक्रमामि । एतदेवाऽऽह–' पडिसिद्धाणं करणे, किचाणमकरणे पडिकमणं । असद्दहणे य तहा, विवरीय परूवणाए य ' ॥ १ ॥ प्रतिषिद्धानां दुर्ध्यानादीनां करणे, कृत्यानां शुभध्यानादिकार्याणामकरणे, जिनोक्तानामश्रद्धाने, विपरीतप्ररूपणायां च कृतायां प्रतिक्रमणं स्यात् । एभिः कारणैर्यत्र योऽतिचारस्तस्मात् प्रतिक्रमामीति सर्वत्र सम्बन्धो ज्ञेयः । तत्र पञ्चभिः समितिभिः प्रतिक्रमामि, कोऽर्थः ? यत्पञ्च समितयः सम्यग् न पालितास्तस्य मिथ्यादुष्कृतं १५ ।

पडिक्कमामि छहिं जीवनिकाएहिं–पुढविकाएणं आउकाएणं तेउकाएणं वाउकाएणं वणस्सइकाएणं तसकाएणं । पडिक्कमामि छहिं लेसाहिं–किण्हलेसाए नीललेसाए काउलेसाए तेउलेसाए पम्हलेसाए सुक्कलेसाए। पडिक्कमामि सत्तहिं भयठाणेहिं। अट्ठहिं मयठाणेहिं। नवहिं बंभचेरगुत्तीहिं। दसविहे समणधम्मे । एक्कारसहिं उवासगपडिमाहिं । बारसहिं भिक्खुपडिमाहिं । तेरसहिं किरियाठाणेहिं ।

'पडि० छहिं जीवनिकायेहिं' जीवानां निकायाः समूहास्तैर्विराधितैर्योऽतिचारः १६ । 'पडि० छहिं लेसाहिं' लेश्यते श्लिष्यत आत्मा कर्मभिर्यया सा लेश्या । 'कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यात्, परिणामो य आत्मनः । स्फटिकस्येव तत्राऽयं, लेश्याशब्दः प्रयुज्यते' । १ । परिणामस्य बहुविधत्वेऽपि परिस्थूलत्वेन षड्भेदाः कृष्णलेश्याद्याः स्युस्तत्र सामान्यतो लेश्या द्विधा–द्रव्यलेश्या भावलेश्या च । तत्राद्या कृष्णादिद्रव्यमात्रमन्या तु कृष्णादिवर्णद्रव्यावष्टम्भजातः आत्मपरिणामस्तत्र कृष्णद्रव्यावष्टम्भादविशुद्धः परिणामो जायमानः कृष्णलेश्यैवं नीलाद्या अपि, किन्तु नीललोहितवर्णद्वययोगिद्रव्यावष्टम्भात् कापोतलेश्या, लोहितवर्णद्रव्येभ्यस्तेजोलेश्या, पीतद्रव्यैः पद्मलेश्या, यतः सूत्रे 'जल्लेसाइं दव्वाइं आदियइ तल्लेसे परिणामे भवति' । तथा मनःपर्याप्तिनामकर्मतो मनोयोग्यान्पुद्गलानादाय चिन्तयति, ते च मन्यमानाः पुद्गलाः सहकारिकारणान्मनोयोग उच्यन्ते, मनोयोगपरिणामश्च लेश्येति । तथाऽऽवश्यकवृत्तौ लेश्याद्रव्याणि सर्वकर्मप्रतिनिस्यन्दभूतानीत्युक्तं, अन्यत्र तु योगान्तर्गतानीत्युक्तं परं योगान्तर्गतानीति घटते बहुकर्मक्षयेऽप्ययोग्यवस्थायां च लेश्याऽभावात् । अत्र दृष्टान्तो 'जह'

जह जंबुतरुवरेगो, सुपक्कफलभरियनमियसालग्गो । दिट्ठो छहिं पुरिसेहिं, ते विंती जंबु भक्खेमो ॥ १ ॥

यथा–एको जम्बूपादपः, सुपक्कफलभृतान्यत एव नतानि शालाग्राणि शिखाग्राणि यस्य सः, षड्भिः पुरुषैर्दृष्टस्ते ब्रुवते जम्बूफलानि भक्ष्यामः ॥ १ ॥ 'किह'

किह पुण ? ते बेंतेक्को, आरुहमाणाण जीवसंदेहो । तो छिंदिऊण मूले पाडेमु ताहे भक्खेमो ॥ २ ॥

कथं पुनर्भक्ष्याणीति ? ते ब्रुवते, तत्रैक आह–वृक्षस्याऽऽरोहणे जीवसन्देहः स्यात्ततो वृक्षं मूलाच्छित्त्वा पातयित्वा च तदा

मध्यामः ॥ २ ॥ ' त्रिति '

त्रितिआह एरहेणं, किं छिण्णेणं तरूण अम्हंति ? । साहा महल्ल छिंदह, तइओ वेंती पसाहाओ ॥ ३ ॥

द्वितीय आहाऽस्माकमेतावन्मात्रेण महातरुणा छिन्नेन किं ? महती शाला छिन्द्या, तृतीयो ब्रूते प्रशाखां छिन्त ॥३॥ 'गोन्छे'

गोन्छे चउत्थओ उण, पंचमओ वेति गेण्हण फलाइं । छट्ठो वेंती पडिया, एएच्चिय खाह घेत्तुं जे ॥ ४ ॥

चतुर्थः पुनर्गुच्छान् स्तबकरूपाणि छिन्त, पञ्चमको ब्रूते वृक्षात्पातयित्वाऽऽरुह्य च फलानि गृह्णीत, षष्ठः पतितान्येवैतानि गृहीत्वा खादत ॥ ४ ॥ ' दिट्ठं '

दिट्ठंतस्सोवणओ, जो वेंति तरूवि छिन्न मूलाओ । सो वट्टइ किण्हाए, सालमहल्ला उ नीलाए ॥ ५ ॥

दृष्टान्तस्योपनयो युक्तिः, मूलाच्छिन्तैतद्यो वक्ति स कृष्णायां लेश्यायां वर्तते, महतीं शालां छिन्तेति वक्ता नीलायां ॥ ५ ॥ ' हव '

हवइ पमाहा काऊ, गोन्छा तेऊ फला य पम्हाए । पडियाए सुक्कलेसा, अहवा अण्णं उदाहरणम् ॥ ६ ॥

प्रशाखां च्छिन्तेति वक्ता कापोतलेश्यः स्यात्, गुच्छान् छिन्तेति वक्ता तेजोलेश्यः, फलानि लातेति वक्ता पद्मायां, पतितानि फलानि भक्षतेति वक्तुः शुक्लेश्या । अथवाऽन्यदुदाहरणं स्याद्यथा ॥ ६ ॥ ' चोरा '

चोरा गामवहत्थ, विणिग्गया एगो वेंति घाएह । जं पेच्छह सव्वं, दुपयं च चउप्पयं वावि ॥ ७ ॥

ग्रामवधार्थं ग्रामलुण्टनार्थं षट् चौरा निर्गतास्तत्रैको ब्रूते यद्द्विपदं चतुष्पदं वाऽपि पश्यत तद्धत ॥ ७ ॥ ' बिइ '

विइओ माणुस पुरिसे य, तइओ साउहे चउत्थे य । पंचमओ जुज्झंते, छट्ठो पुण तत्थिमं भणइ ॥ ८ ॥

द्वितीयो मानुषान् हतेति वक्ति, तृतीयः पुरुषान्, चतुर्थः सायुधान्, पञ्चमो युध्यमानान् हत, षष्ठः पुनस्तत्रेदं भणति ॥ ८ ॥ 'एकं'

एकं ता हरह धणं, बीयं मारेह मा कुणह एवं । केवल हरह, धणंती, उवसंहारो इमो तेसिं ॥ ९ ॥

एकं तावद्धनं हरत, द्वितीयं मारयत, एवं मा कुरुत धनहरणमेव केवलं कुरुतेति, तथा तेषां षण्णामुपसंहारो निगमनं यथा ॥ ९ ॥ 'सवे'

सव्वे मारेहत्ती, वट्टइ सो किण्हलेसपरिणामो । एवं कमेण सेसा, जा चरमो सुक्कलेसाए ॥ १० ॥

यः सर्वं मारयतैवं भणति स कृष्णलेश्यायां वर्तते, एवं शेषाः क्रमेण नीलादिलेश्याः स्युर्यावच्चरमः शुक्ललेश्यायां ॥ १० ॥ 'आदि'

आदिल्लतिण्णि एत्थं, अपसत्था उवरिमा पसत्था उ । अपसत्थासुं वट्टिय, न वट्टियं जं पसत्थासुं ॥ ११ ॥

अत्राऽऽद्यास्त्रिलेश्या अप्रशस्ता उपरिमाः प्रशस्ताः । यदप्रशस्तासु वर्तितं परिणामः कृतः प्रशस्तासु न वर्तितं ॥११॥ 'एस'

एसऽइयारो एयासु, होइ तस्स य पडिक्कमामित्ति । पडिकूलं वट्टामी, जं भणियं पुणो न सेवेमि ॥ १२ ॥

एष पूर्वोक्तोऽतिचार एतासु लेश्यासु स्यात् तस्य प्रतिक्रमामीति यद्भणितं तत्राऽयं भावस्तस्याऽतिचारस्य प्रतिकूलं निन्दादिना वर्त्ते, न पुनस्तमतिचारं सेवे १७ ॥ १२ ॥

'पडि० सत्तहिं भय०' सप्तभयानां स्थानैर्भेदैः १८ । ' अट्ठहिं मय० ' मदस्थानैर्योऽतिचारस्तस्य 'मिच्छामि दुक्कडं' इति सूत्रान्त्यपदेनेहाग्रेऽपि च सम्बन्धो मील्यः । ' इहपर० ' गाथार्द्धम्

इहपरलोयादाणमकम्हाआजीवमरणमसिलोए 'त्ति

' इहे 'ति-इहलोकभयं तत्र मनुष्यादेः सजातीयलोकान्मनुष्यादितः १ । परलोकभयं मनुष्यादेः परस्मात् सिंहादितः २ । आदानभयं चौरादिभ्यो द्रव्यस्य ३ । अकस्माद्भयं बाह्यकारणाभावात्सहसाजातं ४ । ' आजीवे ' त्याजीविकाभयं कथमाजीविका भाविनीति ५ । मरणभयं स्पष्टं ६ । अश्लोकभयमयशोभयं ७ । ' जाई 'त्यादि

जाईकुलबलरूवे तवईसरिए सुए लाहे ॥ १ ॥

जाति १, कुल २, बल ३, रूप ४, तपः ५, ऐश्वर्य ६, श्रुत ७, लाभ ८ मदाः । मातृवंशो जातिः, पितृवंशः कुलं ॥१॥ १९ । ' नवबंभ ' ब्रह्म चर्यते पाल्यत इति ब्रह्मचर्यं तस्य रक्षाकृद्गुप्तिर्वृत्तिर्ब्रह्मचर्यगुप्तिः । ' वस '

वसहिकहनिसिज्जिंदिय, कुड्डंतरपुव्वकीलियपणीए । अइमायाहारविभूसणा य नव बंभगुत्तीओ ॥ १ ॥

वसत्यादीनां नवानां वर्जनं नव ब्रह्मगुप्तयः स्युस्तत्र वसतिः स्त्रीपशुक्लीबयुक्तं स्थानं १ । कथा स्त्रीणां स्त्रीभिः सह वा एकैकेन वार्ता कामकथा च २ । निषद्याऽऽसनं स्त्रीयुक्तं प्रागिनविष्टस्त्रीकं च ३ । इन्द्रियालोको नृणां स्त्रीणां वा ४ । कुड्यान्तरं दम्पतीस्मापयुक्तभित्त्यन्तरं ५ । पूर्वक्रीडितस्मृतिः ६ । प्रणीतं सुस्निग्धाहारः ७ । अतिमात्रोऽधिक आहारः ८ । विभूषणा देहशोभाकृतिः ९ ॥ १४ ॥ एताभिर्गुप्तिभिर्योऽतिचारस्तस्य मिथ्यादुष्कृतं २० । अत्र क्षेपकगाथाः—" वसही इहत्थीहिं

संजुत्ता दोण्हं पि दीवए मयणं । मयणेण दीवियाणं, नासइ धम्मस्स सन्नाहो " ॥ १ ॥ द्वयोः साधुस्त्रियोरपि मदनं दीपयेत् । " इत्थीकहा विरुद्धा, थणनयणनियंबवयणलडहत्तं । विब्भमकडक्खहसियं, सोउं मयणुदओ होइ " ॥ २ ॥ स्त्रीकथा विरुद्धा यतः स्तनौ नयनं नितम्बः कटी वदनमेतेषां लटभत्वं चारुत्वं, विभ्रमः सौभाग्यगर्वाद्वदनादीनामन्यथा निवेशस्तं, कटाक्षान् हसितं च वर्ण्यमानं श्रुत्वा मदनोदयः । " इत्थीमयलियसयणा–सणंमि तप्फंसफंसणे जयणा । दूसेइ मणं मयणो, कुट्ठं जह फंसदोसेण " ॥ ३ ॥ स्त्रीमलिनीकृतशयानासने स्त्रीभुक्त इत्यर्थस्तस्याः स्त्रियः स्पर्शस्य स्पर्शने यतना निषेधोद्यमः कार्यो यथा कुष्ठः स्पर्शदोषेण परान् दूषयति तथा मदनः स्त्रीस्पर्शेन मनो दूषयेत् । " इंदियनिरिक्खणेणं, कडक्खविक्खेवथणनियंवाणं । दिट्ठिं दिंतो खुब्भइ, अइबलिओ वम्महो चलइ " ॥ ४ ॥ इन्द्रियनिरीक्षणेन लिङ्गालोकनेन तथा कटाक्षविक्षेपस्तननितम्बानां विषये दृष्टिं ददत् क्षुभ्यत्यतिबली मन्मथश्चलति । " कुड्डंतरंमि मिहुणं, रमइ रईरंजियं विचित्तेणं । उरघायकरुणसद्देण तेण दीविज्जए मयणो " ॥ ५ ॥ मिथुनं रत्या रागेण रञ्जितं विचित्रेण प्रकारेण रमते, उरोघाते हृदयास्फालने सति करुणशब्देन तेन मदनो दीप्यते । " जं पुव्वकीलियं रमणिसरसयं हसियललियसहरसियं । संभरइ ताव मयणो, विद्धंसइ धम्मझाणाओ " ॥ ६ ॥ यद्रमण्या सह पूर्वक्रीडितं तथा हसितललिताभ्यां हास्यलीलाभ्यां सह रसितं सीत्कारादिना शब्दितं साधुः संस्मरति तावन्मदनो धर्मध्यानाद्विध्वंसयति । " भुञ्जंतस्स पणीयं, अइनेहं सुक्कसंचयं कुणइ । सुक्कं दीवइ मयणं, मयणेण जइत्तणं कुतो " ॥ ७ ॥ अतिस्नेहं प्रणीतं वस्तु भुञ्जानस्य पुंसः शुक्रसंचयं करोति, 'जइत्तणं' यतित्वं कुतः । " अइमत्तभोयणेणं, तत्तो वाहिज्जए अणंगेणं । ऊणोयरिया उववाससंट्ठिया जयइ पंचसरं " ॥ ८ ॥ अतिमात्रभोजनेन

तृप्तोऽनशनेन बाध्यते, ऊनोदरिका उपवाससंस्थिता उपवाससदृशाः पञ्चशरं जयन्ति । " कामी कुणइ विभूसं, विभूसिओ कामिणीउ पत्थेइ । कयलोयमलिणवत्थो, अह्नाय जयइ पंचसरं " ॥ ९ ॥ यः कामी स्यात्स एव देहविभूषां करोति, ' नाऽकामी मण्डनप्रिय ' इत्युक्तेर्विभूषितश्च सन् कामिनीः प्रार्थयते, वीक्षते । कृतलोचो मलिनवस्त्रश्चाऽह्नाय शीघ्रं पञ्चशरं जयति २० । ' दस० समण० ' ' खंती '

खंती य मद्दवज्जव, मुत्ती तव संजमे य बोद्धव्वे । सच्चं सोयं आकिंचणं च, बंभं च जइधम्मो ॥ १ ॥

क्षान्तिमार्दवार्जवमुक्तयः क्रोधादिकषायत्यागरूपाः, तपो द्वादशधाऽऽभ्यन्तरबाह्यभेदतः, संयमः षड्जीवरक्षा वक्ष्यमाण-सप्तदशभेदो वा । सत्यं हितं तथ्यं च, शौचं परद्रव्यानाकाङ्क्षया चोक्षत्वमप्रमादो वा, आकिञ्चन्यं निर्ममता, ब्रह्म विषयत्याग इति दशधा यतेर्धर्मो बोद्धव्यः ॥ अन्ये त्वेवमिच्छन्ति " खंती १, मुत्ती, २ अज्जव ३—मद्दव ४ तह लाघवे ५ तवे चेव ६ । संजम ७ चियाग ८ ऽकिंचण ९—बोधव्वे बंभचेरे य " ॥ १ ॥ लाघवं मृषाऽदत्तत्यागेन कर्मलघुता, त्यागो यतिभ्यो वस्त्रादिदानमाकिञ्चन्यमुक्तोपधावप्रतिबन्धः ॥ इह गुप्तिकषायादीनां सामायिकानन्तरदण्डकोक्तानामप्यत्र कथनं संख्यानुरो-धाददुष्टं २१ । 'एक्का० उवासग०' उपासते यतीनित्युपासकाः श्रावकास्तेषां प्रतिमा प्रतिज्ञाविशेषास्ताभिः ' दंस '

दंसणवयमामाइय, पोसहपडिमा अबंभ सच्चित्ते । आरंभपेसउद्दिट्ठ, वज्जए समणभूए य ॥ १ ॥

दर्शनं सम्यक्त्वं १ व्रतानि द्वादश २ सामायिकं द्विसन्ध्यं ३ पौषधः पर्वसु ४ प्रतिमा पर्वरात्रौ कायोत्सर्गः ५ । एषां पञ्चगुणानां धर्ता, तथाऽब्रह्म ६ सचित्त ७ आरम्भ ८ प्रेष्यप्रयोग ९ उद्दिष्टाहाराणां वर्जकः १० श्रमणभूतः साधुवेषश्च

११ । क्रमेण दर्शनप्रतिमा १ व्रतप्रतिमा २ धेकादशप्रतिमावानुपासकः स्यात्तत्र प्रेष्यप्रयोगोऽन्येनाऽऽरम्भस्य करणमुद्दिष्टस्तन्निमित्तकृत आहारः । भाष्यं–' सम्मदंसणसंकाइसल्लपामुकसंजुओ जो उ । सेसगुणविप्पमुक्को, एसा खलु होंति पडिमा उ' ॥ १ ॥ यः शङ्का जिनवचनसन्देहस्तदादिशल्यविप्रमुक्तः सम्यग्दर्शनसंयुतः प्राकृतत्वाच्छब्दव्यत्ययः, श्राद्धस्त्रिकालपूजापर इत्यनुक्तमपि सम्यक्त्वशुद्ध्यै ज्ञेयं । तु पुनः शेषगुणैर्व्रतसामायिकादिभिर्विप्रमुक्तः स्यादेषा खलु प्रथमा प्रतिमा १ । ' बिइया पुण वयधारी, सामाइयकडो य तइयया होइ । होइ चउत्थी चउद्दसि, अट्ठमिमाईसु दिवहेसु ' ॥ २ ॥ व्रतधारीति द्वितीया, यच्चूर्णौ " तस्स णं एगं वा अणेगाइं वा अणुवयाइ कयाइं भवंति ' २ । कृतसामायिकः श्राद्ध इति तृतीया ३, चतुर्थी चतुर्दश्यष्टम्यादिदिवसेपु । २ । 'पोसह चउविहंपी, पडिपुण्णं सम्म जो उ अणुपाले । पंचमि पोसहकाले, पडिमं कुणएगराईयं' ॥ ३ ॥ पौषधं चतुर्विधमपि पूर्णं सम्यग्योऽनुपालयति, यच्चूर्णौ "चाउद्दसिट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु, पडिपुण्णं पोसहं सम्मं, अणुपालित्ता भवति ' ४ । पञ्चम्यां पौषधकाल एकरात्रिकीं प्रतिमां कायोत्सर्गं कुर्यात् । प्रतिमास्थोऽर्हतो निजदोषांश्चप्रतीकारं च ध्यायेत् । ३ । 'असिणाणवियडभोई, पगासभोइत्ति जं भणिय होइ । दिवसओ न रत्ति, भुंजे मउलिकडो कच्छ ण विरोहे' ॥४॥ स चाऽस्नातो विकटभोजीति प्रकाशभोजी स्यादिति यद्भणितं, ततो दिवसे सर्वाहारान् भुक्ते न तु रात्रौ । कृतमुकुल इति कोऽर्थः कच्छस्य न विशेषेण रोधो बन्धो मुत्कलकच्छ इत्यर्थः। ब्रह्मव्रतेऽनियमः, प्रतिबन्धो नेत्यर्थः ।४। ' दिय बंभयारि राई, परिमाणकडे अपोसहीएसुं । पोसहिए रत्तिमि य, नियमेणं बंभयारी य ' ॥५॥ सा दिवा ब्रह्मचारी रात्रौ नियमान्मैथुनपरिमाणकृत्, पौषधिको रात्रावपीत्यादि देशपौषधनिवृत्त्यर्थं भणितं । ५ । ' इय जाव पंच मासा, विहरइ हु पंचमा भवे पडिमा ।

छट्ठीए बंभयारी, ता विहरे जाव छम्मासा' ॥ ६ ॥ इति पञ्च मासान् यावत्, हु पूरणे, विहरति, यावच्छन्देन जघन्यत एकाहं द्व्यहं त्र्यहमुत्कर्षतः पञ्च मासा ज्ञेयाः, एवमग्रेऽपि । षष्ठयां ब्रह्मचारी कामकथां त्यजन् नवविधब्रह्मगुप्तिं पालयन् विहरेत् । ६ । 'सत्तम सत्त उ मासे, णवि आहारे सचित्तमाहारम् । जं जं हेट्ठिल्लाणं, तं तं परिमाण सव्वंपि' ॥ ७ ॥ सप्तम्यां सप्त मासाः सचित्ताहारं नाऽऽहारयेत् । इह यद्यदधस्थानानां प्रतिमास्थानां पुण्यकृत्यं तत्तदुपरितनानां प्रतिमावतां सर्वमपि ज्ञेयं । ७ । 'आरंभ सयंकरणं, अट्ठमिया अट्ठमास वज्जेइ । नवमा णव मासे, पुण पेसारंभे विवज्जइ' ॥ ८ ॥ आरम्भस्य स्वयं करणमष्टमासान् वर्जयतीत्यष्टमी ८ । 'नवमे'त्यादि स्पष्टाः । प्रेष्यन्ते व्यापार्यन्त इति प्रेष्या अन्ये लोकास्तैरारम्भः प्रेष्यारम्भस्तं वर्जयति परैरारम्भं न कारयतीत्यर्थः ९ । ८ । इह पौषधिक आरम्भादिवर्जकश्च त्रिसन्ध्यं चैत्यान्वन्दने । 'दसमा पुण दस मासे, उद्दिट्ठकयंपि भत्त नवि भुंजे । सो होई छुरमुंडो, छिहलिं वा धारए जाहिं' ॥ ९ ॥ तमेवोद्दिश्य यत्कृतं तदुद्दिष्टकृतं भक्तं नैव भुङ्क्ते, स क्षुरमुण्डः शिखां वा धारयेत्, (?) हि निश्चये । ९ । 'जं निहियमत्थजायं, पुच्छंति नियाण नवरि सो आह । जइ जाणे तो साहे, अह नवि तो बेंति नवि जाणे' ॥ १० ॥ यदर्थजातं द्रव्यं भूम्यादौ निहितं, तत्पृच्छतां जनानां नवरं स वक्ति, द्वे भाषे कल्पेते, यदि जानाति ततो जानामीति 'साह' इति वक्ति । अथ न जानाति ततो न जानामीति ब्रूते । १० । 'खुरमुंडो लोओ वा, रयहरण पडिग्गहं च गेण्हित्ता । समणब्भूओ विहरे, णवरिं सण्णायगा उवरिं ॥ ११ ॥ ममिकारअवोच्छिन्ने, वच्चइ सण्णायपल्लि दट्ठुं जे । तत्थवि साहुव्व जहा, गिण्हइ फासुं तु आहारम्, ॥ १२ ॥ पूर्वं क्षुरमुण्डो लोचो वा, ततो रजोहरणं पतद्ग्रहणं पात्रं च गृहीत्वा समितिगुप्तिश्रमणभूतः 'सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं

जाव सव्वाओ राइभोयणाओ वेरमणं' एवं सम्यग्यतिधर्मवान् विहरेन्नवरं स्वज्ञातीनामुपरि ममकारे ममत्वेऽव्युच्छिन्ने स्वज्ञातियपल्लीं, द्रष्टुं याति तत्राऽपि साधुवत्स्यात्, यथा साधुः प्राक् सिद्धमाहारं लातीत्येवमेषोऽपीत्यर्थः। भिक्षायां 'समणोवासगस्स पडिमापडिवन्नस्स भिक्खं दलहे'ति वक्ति। ११-१२। 'एसा एक्कारसमा, इक्कारसमासिया एयासु। पण्णवणवितहअसद्दहाणभावाउ अइयारो'॥ १३॥ एषैकादशमासिकी एकादशी प्रतिमा। एतासु वितथं प्रज्ञापनं कथनमश्रद्धानं वा कुरुत इत्यतिचारो भवेत्तस्य मिथ्या दुष्कृतं। चूर्णौ पञ्चम्या आरभ्याऽन्त्यां यावत् 'जहण्णेणं एगाहं वा दुगाहं वा तियाहं वा उक्कोसेणं पंचमासे' इत्यादि, अन्त्यायां यावत् 'एक्कारसमासे विहरेज्जा'। आद्यप्रतिमायास्त्वेको द्वौ मासौ चेति ज्ञेयं। तृतीयाद्यासु जघन्यत एकं द्वौ दिनावित्याद्यपि, यत उपासकदशावृत्तौ तु—'वरदंसणवयजुत्तो, सामाइयं कुणइ जो संझासु। उक्कोसेण तिमासा, सा सामाइयपडिमा'॥ १॥ इत्यादि, 'एवं उक्कोसेणं, इक्कारसमास जाव विहरे य। एगाहा इयरेणं, सव्वं सव्वत्थ पाएणं'॥ १॥ इतरेण जघन्यपदेन एकाहादिमानं सर्वं सर्वप्रतिमासु प्रायेणैवं ज्ञेयं, चूर्णौ 'कहं वि अन्नोवि पाढो दीसइ दंसणसावगो १ कयवयकम्मे २ कयसामाइए ३ पोसहोववासनिरए ४ राइभत्तविरए ५ सचित्ताहारविरए ६ दियाबंभयारी राउपरिमाणकडे ७ दिया वि राओ वि बंभयारी असिणाणए भवइ, वोसिट्ठकेसकक्खमंसुरोमनहे'। अस्नानः केशकक्षाश्मश्रुरोमनखसंस्कारवर्जकः ८। 'सारंभपरिण्णाए'—आरम्भप्रत्याख्यानसहितः ९। 'पेसारंभपरिण्णाए' प्रेष्यारम्भवर्जकः १०। 'उद्दिट्ठभत्तविवज्जए समणब्भूए यावि भवइ इत्यादि लुत्तकेसए वा अचेलए वा एगसाडिए वा संतरुत्तरे वा' अत्र 'संतरुत्तरेति अंतरं रयहरणं पडिग्गहो वा उत्तरं पाओरणकप्पो कल्पचूर्णिः०' ११। २२। 'बारसहिं भिक्खु०'—शुद्धभिक्षाभोजी

भिक्षुस्तस्य प्रतिमाः प्रतिज्ञास्ताभिः ' मासा '

मासाई सत्तन्ता, पढमा बितिसत्त ( सत्त ) राइदिणा । अहराई एगराई, भिक्खुपडिमाण बारसगं ॥ १ ॥

मासिक्याद्याः सप्तमासिक्यन्ताः एवं सप्त प्राकृतत्वादिकण्प्रत्ययलुप्, ततः प्रथमा द्वितीया तृतीया सप्तरात्रिंदिवा एवं दश, ततोऽहोरात्रिकी एकरात्रिकी चेति भिक्षुप्रतिमानां द्वादशकं, भाष्यं–'पडिवज्जइ संपुण्णो, संघयणधिइजुओ महासत्तो । पडिमाउ जिणमयंमी, सम्मं गुरुणा अणुण्णाओ' ॥१॥ वज्रऋषभनाराचऋषभनाराचनाराचानामन्यतमसंहननी, धृत्या चित्तस्वास्थ्येन युतो महासत्त्वः सात्त्विक एताः प्रतिमा जिनमते सम्यग् गुरुणाऽनुज्ञातः प्रतिपद्यते ।१। 'गच्छेच्चिय निम्माओ, जा पुव्वा दस भवे असंपुण्णा । नवमस्स तइयवत्थुं, होइ जहन्नो सुयाभिगमो' ॥२॥ स च गच्छ एव वसन् निर्मातः प्रतिमाकल्पपरिकर्मणि परिनिष्ठितः, आचार्यस्तु प्रतिमां प्रतिपद्यमानोऽन्यं गणधरं स्थापयित्वा गच्छाद्बहिः परिकर्म कुर्यात्, स्थाप्यगणधराभावे गच्छान्तरेऽपि । तस्योत्कृष्टः श्रुताभिगमो यावद्दशपूर्वाण्यसंपूर्णानि, जघन्येन नवमस्य प्रत्याख्यानपूर्वस्य तृतीयमाचाराख्यं वस्तु यावत् । संपूर्णदशपूर्वादयो ह्यमोघवचनत्वात्, धर्मदेशनया तीर्थे वृद्धिकारित्वात् प्रतिमां न प्रतिपद्यते । इहाऽऽद्यानां सप्तप्रतिमानां परिकर्मणेति तुलना स्यात्, सा च जघन्यतः प्रतिमातुल्यकालमानैव ज्ञेया, उत्कृष्टतो यावता कालेनाऽऽत्मा भाव्यते । आद्ययोः प्रतिमयोः परिकर्मणा प्रतिपत्तिश्चैकस्मिन् वर्षे, यथा प्रथमं गच्छमध्ये एकं मासं परिकर्मणा, ततो गच्छान्निष्क्रम्यैकमासप्रतिमा १, पुनर्गच्छमेत्य द्वौ मासौ परिकर्मणा ततो गच्छान्निष्क्रम्य द्विमासप्रतिमा पुनर्गच्छमेति । एवं तृतीयस्याः परिकर्मणाप्रतिपत्तिः द्वितीये वर्षे । तुर्यायास्तु तृतीये वर्षे, शेषाणां परिकर्मणा प्रतिपत्तिश्चाऽन्यस्मिन् वर्षे, यथा तुर्ये वर्षे पञ्चम्याः परिकर्मणा, पञ्चमे

तु तस्याः प्रतिपत्तिरेवं यावन्नवमवर्षे सप्तम्याः प्रतिपत्तिः, यतो वर्षासु प्रतिमापरिकर्मणा प्रतिपत्तिश्च न स्यात्, सप्तम्या अनु गच्छमागत्य मासेन वर्षार्हं क्षेत्रं प्रतिलिखति, वर्षार्हमुपधिं च स्वयोग्यमुत्पादयति। प्रतिमाधरश्च गच्छप्रतिबद्ध एव स्यात्। आचार्योपाध्यायादयः पूर्वगृहीतमुपधिं निक्षिप्याऽन्ययोग्यमुपधिमुत्पाद्य प्रतिमां कुर्युः। 'तवेण १ सत्तेण २ एगत्तेण ३ सुत्तेण ४ चलेण ५। य तुलणा पंचहा वुत्ता, जिणकप्पं पडिवज्जओ' प्रतिमा प्रतिपद्यमानस्य पूर्वमेषा पञ्चधा तुलना उक्तास्तपसा १ सत्त्वेन २ सूत्रेण ३ एकत्वेन ४ बलेन ५ च। तत्र तपस्तुलना चतुर्थादौ षण्मासान्ते तपस्यनेकशोऽभ्यस्ते सति महातपसाऽपि मनाग्ग्लानेरभावे १। "पढमा उवस्सयंमि १, बीया बाहिं २ तइया चउक्कंमि ३। सुन्नहरंमि चउत्थी ४, तह पंचमिया मसाणंमि य ५" ।१। प्रथमा सत्त्वतुलनोपाश्रये, द्वितीयोपाश्रयाद्बहिश्छादितप्रदेशे, तृतीया चतुष्के रथ्याचतुष्करूपे, शेषं स्पष्टं। एषु स्थानेषु क्रमात् कायोत्सर्गे रात्रौ कृते परस्पर्शादौ रोमाञ्चमात्रस्याऽपि भयस्याऽनुत्पादे २। सूत्रतुलना स्वनामवत् सिद्धान्तेऽस्खलिते कृते, सूत्रगणनमानेनैवोच्छ्वासस्तोकलवमुहूर्त्तादिकालज्ञाने, पूर्वाणां च प्रत्यक्षरं पूर्वपश्चिमानानुपूर्व्या गुणने ३। एकत्वतुलना संघाटकसाधुना सह विचाराद्यभाषणे, पूर्वपरिचितस्त्रीदर्शने मुखवर्णभेददृष्टिरागाद्यकरणे, देहादौ निर्ममत्वेऽप्रमत्ते च ४। बलतुलना तु शरीराङ्गुष्ठमात्राद्याधारेण चिरस्थाने, मनसि तु महोपसर्गादिभिरप्यक्षोभतायां जातायां प्रतिमार्हः ५। एवं तुलनाः कृत्वा प्रतिमाः करोति। प्रतिमावतो जघन्य उपधिर्धर्मध्वजो मुखपोतिः सप्तधा पात्रनियोगश्चेति नवधा, स एवैकसूत्रकल्पेन दशधा, सूत्रकल्पद्वययुत एकादशधा, ऊर्णाकल्पयुतश्च द्वादशधोत्कृष्ट उपधिर्मात्रकचोलौ तु न स्तः। जघन्यतो जन्मपर्यायस्तस्यैकोनत्रिंशद्वर्षाणि यथा गर्भाष्टमस्य दीक्षा, एकवर्षेण योगोद्वहनं, ततः क्रमेण विंशतितमे वर्षे दृष्टिवादोद्देश एवं सर्वाण्येकोनत्रिंशद्वर्षाणि, जघन्यतो

व्रतपर्यायस्तु विंशतिवर्षाणि, तावत्पर्यायस्यैव दृष्टिवादोद्देशात्, प्रतिमाप्रपन्नो मनस्यालोचनापदप्राप्तोऽनुद्घातिमं तपः कुरुते ॥२॥ परिकर्मणाविधिमाह—"वोसट्ठचत्तदेहो, उवसग्गसहो जहेव जिणकप्पी। एसण अभिग्गहीया, भत्तं च अलेवयं तस्स" ॥३॥ व्युत्सृष्टः संस्काराकरणेन त्यक्तो निर्ममत्वेन देहो येन सः। यथैव जिनकल्पी तथैवोपसर्गसहः साधुः स्यात्। एषणा भक्तादिग्रहणरूपाऽभिगृहीताऽभिग्रहवती स्यात्, यथा सप्तसु भक्तपानैषणासु अन्त्याश्चतस्रः(पञ्च) एषणाः कल्पास्तत्राऽपि प्रतिदिनमेकैव पानस्याऽलेपाद्या स्यात्, वस्त्रस्य तु कार्पासिकाद्युद्दिष्टमेव वस्त्रं लास्यामि १ प्रेक्षितमेव २ परिभुक्तमेवोत्तरीयादितया ३ उज्झितधर्मकमेव लास्यामि ४ इति, चतसृष्वेषणास्वन्त्ये द्वे, कल्पे परं प्रायः स्वोचितमानयुतमेव वस्त्रं कल्प्यं तदभावे तु यथाकृतमप्युचितनग्नाप्ति यावत्, उचितप्राप्तौ तु प्राक्तनं त्याज्यं, भक्तं चाऽलेपकृतं वल्लचनकादि स्यात् ॥३॥ "गच्छा विणिक्खमित्ता पडिवज्जे मासियं महापडिमम्। दत्तेगभोयणस्सा पाणस्सवि एग जा मासम्" ॥४॥ आद्ये द्वितीये वा चारित्रे स्थितः सर्वसंघक्षामणापूर्वं गच्छाद्विनिष्क्रम्य निर्गत्य स्वक्रियानिरुपसर्गतार्थं कायोत्सर्गं कृत्वा मासिकीं प्रतिपद्यते, तस्यां भोजनस्यैका दत्तिरविच्छिन्नदानरूपा, पानस्याऽपि तत्रैकैव भवेत्। इह चैवं विधिः—प्रतिमाप्रतिपन्नस्य भिक्षायाश्चत्वारोऽभिग्रहा द्रव्यतो यथोक्तैषणास्वन्यतरैषणया एकस्य भुञ्जानस्य याचकस्य वाऽर्थे आनीतस्य तेन च निषिद्धस्य दत्तशेषस्य वा निर्लेपस्य ग्रहणं, तत्राऽप्यस्य साधोरियत्यो दत्तयः कल्प्या इति यत्र कोऽपि न वेत्ति तत्र भिक्षा ग्राह्येत्येवंरूपाऽज्ञातोञ्छता १। क्षेत्रत उद्यानिकायज्ञपाटकसेनादिस्थाने पुम्भरमात्रं पिण्डस्योत्क्षेपनिक्षेपं च यत्र स्थितः पश्येत्तत्र स्थितो द्वारशाखायामदृष्टस्यैकं पादमुदुम्बरस्य मध्य एकं बहिः कृत्वा ददत्या दात्र्या हस्तेन २। कालतस्तृतीयपौरुष्यामन्तरायादिदोषत्यागाय द्विपदचतुष्पदानां श्रमणादियाचकानां

चाऽऽहारग्रहणकालवर्जं ३ । भावतोऽन्तरायाप्रीत्यादिदोषवारणाय द्वयादीनां भुञ्जानानामर्थे आनीतस्य गुर्विणीबालवत्सास्तन्यपायिकादिभिर्दीयमानस्य च वर्जनं ४ । जिनकल्पिकाः प्रतिमास्थाश्च किल गर्भमात्रे सति दात्रीं त्यजन्ति, गच्छवासिनश्चाऽष्टमनवममासयोस्तथा जिनकल्पिकाः प्रतिमास्थाश्च बालकं भोजनसमर्थमपि निक्षिप्य ददतीं दात्रीं त्यजन्ति, गच्छवासिनस्तु क्षीरपानार्हमेव मुक्त्वा दात्रीं, मार्जारादिभिर्बालस्य विनाशहेतुत्वात् । प्रतिमावतो गोचरभूमयः षट् पेटाद्यास्तत्र पेटा मञ्जूषा तद्वत्संलग्नसर्वदिक्स्थगृहाटने १, अर्धपेटा तदर्धेन भ्रमेण २, गोमूत्रिका तदाकारेण वामदक्षिणतो भ्रमणे ३, पतङ्गविधिस्तिङ्गवद्बहुगृहाणि मुक्त्वा मुक्त्वा भ्रमेण ४, शम्बूकावर्त्ता शङ्खावर्त्तवद्गृहेष्वावर्त्ताकारेण भ्रान्त्वा मध्ये प्रदेशे मध्याद्वा बहिर्निर्गमे च ५, गत्वा प्रत्यागता अग्रतो गत्वा वलमानस्याऽटने ६, एतासामन्यतराभिग्रहः स्यादेता एव गोचरभूमयः । शम्बूकावर्त्तभेदद्वयगणनेन ऋजुकया च सहाऽष्टसंख्याः सामान्यतः साधूनां स्युः । तथा स यत्र प्रतिमाप्रतिपन्नतयाऽज्ञातस्तत्रैवैकरात्रं द्विरात्रं वा वसति यत्र तु ज्ञातस्तत्रैकरात्रमेव । तस्य चतस्रो भाषाः कल्पाः—याचनी संस्तारकोपाश्रयविषया १ प्रच्छनी उपाश्रयविषया सूत्रार्थसन्देहविषया च २ अनुज्ञापनी उपाश्रयपूर्वस्थितसाधुविषया ३ व्याकरणी प्रश्नोत्तरविषया दीक्षोपदेशे च ४ । त्रीणि स्थानानि दृष्ट्वा प्रतिलिखितुं ततोऽनुज्ञापयितुं ततः स्थातुं च कल्पानि, आगमनगृहं देश्यकुटीविकटगृहं १, भित्तिरहिताऽऽच्छादनरहिता वा ग्राममण्डपिका २ निर्दोषद्रुमूलं च ३, एवं संस्तारा अपि वाच्याः—पृथ्वीशिला उद( इट्ट )करूपा १ काष्टशिला तलपट्टः २ यथासंस्कृतं प्रागास्तीर्णं प्रासुकं निश्चलं पट्टादि ३ । तत्रस्थाने स्त्री सस्त्रीको वा नरोऽभ्येति न कल्प्यं तदपेक्षया साधोर्निर्गन्तुं प्रवेष्टुं वाऽग्न्यादावप्येवमेव स आकृष्टः परं नाऽऽलम्बते । अंह्रिदृष्यादीनां कण्टकाद्यं

नाऽपक्रमेत्, सर्वत्र पुनः सोपकरणश्चलेत्, विण्मुत्रे तु पूर्वप्रतिलेखितस्थण्डिले कृत्वा यथास्थानं तिष्ठेत्। यत्राऽर्कोऽस्तस्तत्रैव जले स्थले वा रात्रौ स्थित्वा अर्के दीप्तौ चलेत्। अक्षे सचित्तरजसि लग्ने मलत्वेऽपरिणतेऽन्नपानाद्यं नाऽऽदत्ते, उष्णाच्छीतं शीतादुष्णं नैति, दुष्टेभाद्यैः पथो न चलत्यदुष्टैस्तु युगमात्रं टलति। हस्तांह्रिदन्ताक्ष्यास्यादि लेपं विना न धावति, देहं न कण्डूयते, दीक्षां न दत्ते, एवं मासं पूरयति। "पच्छा गच्छमईए, एव दुमासि तिमासि जा सत्त। नवरं दत्तीवुड्ढी, जा सत्त उ सत्तमासीए" ॥ ५ ॥ पश्चान्मासादनु गच्छमुपैति विभूत्या, तथाहि सर्वप्रतिमानामन्ते स गच्छस्थानासन्नग्राममेत्य गुर्वादीनां स्वं ज्ञापयति, ते च नृपादीनामुक्त्वा सर्वर्द्ध्या प्रवेशयन्ति, राजाद्यभावे साधुसाध्व्यादिसंघोऽप्युल्लोचकरणतुर्यादिनादवासक्षेपादुत्सवैः प्रवेशयति। एवं द्विमासिकी त्रिमासिकी यावत्सप्तमासिकी, नवरं प्रतिमायां प्रतिमायां दत्तिवृद्धिर्वाच्या, द्वितीयस्यां द्वे दत्ती भक्तस्य पानस्य चैवं यावत्सप्तम्यां सप्त दत्तयः ॥ ५ ॥ "तत्तो य अट्ठमीया, हवइ हु पढमसत्तराइंदी। तीय चउत्थचउत्थेणऽपाणएणं अह विसेसो ॥६॥ उत्ताणगपासल्लीणिसज्जी वावि ठाणे ठाइत्ता। सह उवसग्गे घोरे, दिव्वाई तत्थ अविकंपो" ॥७॥ ततोऽष्टमी प्रथमा सप्तरात्रिन्दिवा भवति, इह प्रक्रमे तस्यां चतुर्थचतुर्थेनैकान्तरोपवासेनाऽपानकेन पारणे चाऽऽचाम्लयुक्तेन चरेत्। दत्तिनियमस्तु न, चतुर्भिश्चतुर्थैस्त्रिभिराचाम्लैश्चाऽष्टमी स्यादेवं नवमीदशम्यावपि। अथाऽयं विशेषः–स ग्रामाद्बहिरुत्तान ऊर्ध्वमुखः शयितः, 'पासल्ली'ति पार्श्वशयितो 'णिसज्जी'ति निषद्यावान् समपुततयोपविष्टो वाऽपीति विकल्पार्थः। स्थाने उक्तकायचेष्टारूपे स्थित्वाऽविकम्पो दिव्यादीन् घोरोपसर्गान् सहते ॥ ६–७ ॥ नवमीमाह–"दोच्चावि एरिसच्चिय, बहिया गामाइयाण णयरं तु। उक्कुडलगंडसाई, डंडाइतिउव्व ठाइत्ता" ॥ ८ ॥ द्वितीयाऽपि सप्तरात्रिन्दिवा इदृश्येव तपःपारणाभ्यां, नवरं

ग्रामादीनां बहिरुत्कटुको लगंड तद्वच्छायी, शिरःपार्ष्णिभिरेव पृष्ठप्रदेशेनैव वा स्पृष्टभूभागः, दण्डवदायतो दण्डायतः, स एव दण्डायतको वा स्थित्वोपसर्गान् सहते ॥ ८ ॥ दशमीमाह–"तच्चाएवि एवं, णवरं ठाणं तु तस्स गोदोही । वीरासणमहवावी, ठाइज्ज व अंबखुज्जो वा " ॥ ९ ॥ तृतीयाऽपीदृश्येव तपोग्रामाद्बहिर्वस्त्यादिसाधर्म्यानवरं स्थानं तस्य गोदोहिकाऽथवा वीरासनं, यथा वामांह्रिदक्षिणोरूर्ध्वं वामोरूपरि दक्षिणोऽथवाऽऽम्रफलवत् कुब्जाकारस्तिष्ठेत् ॥ ९ ॥ 'एमेव अहोराई, छट्ठं भत्तं अपाणयं णवरम् । गामणयराण बहिया, वग्घारियपाणिए ठाणं " ॥ १० ॥ एवमेवैकादश्यहोरात्रिकी, सा त्रिभिर्दिनैः स्यात्, तत्राऽऽद्यदिन आचाम्लं कृत्वाऽहोरात्रं ग्रामनगरादीनां बहिर्विस्तारितपाणिः प्रलम्बितभुजः स्थानं करोति, द्वितीय-तृतीयदिनयोस्तु षष्ठभक्तमुपवासद्वयं ॥१०॥ "एमेव एगराई, अट्ठमभत्तेण ठाणबाहिरओ । ईसीपब्भारगए, अणिमिसनयणे-गदिट्ठीए ॥ ११ ॥ साहट्टु दोवि पाए, वग्घारियपाणि ठयई ठाणं । वाघारि लंबियभुओ, सेस दसासु जहा भणियम् " ॥१२॥ एवमेव द्वादश्यहोरात्रिक्यादावाचाम्लं कृत्वा रात्रौ ग्रामादेर्बहिरीषत्प्राग्भारगत ईषन्नम्रकायोऽनिमिषनयन एकदृष्टिरचित्त-पुद्गलदत्तदृष्टिर्द्वावपि पदौ संहृत्य चतुरङ्गुलान्तरौ कृत्वा विस्तारितपाणिः स्थानं कायोत्सर्गरूपं तिष्ठति, सूत्र एवं 'वाघारिय-पाणिय'त्ति व्याख्याति, 'वाघारी'त्यादेरर्थो लम्बितभुजः, पश्चादष्टममपानकं कुर्यादित्येषा चतुर्भिर्दिनैः स्यात् । शेषप्रतिमानां विधिं यथा 'दसासु' दशाश्रुतस्कन्धमध्ये भणितं तथा जानीयात् । एकरात्रिक्यास्त्रिधा शुद्ध्याऽपालन उन्माददीर्घरोगधर्मभ्रंशाः, पालने त्ववधिमनःपर्यायकेवलज्ञानानि स्युः । सपरिकर्मणा सर्वाः प्रतिमा दशवर्षैः पूर्यन्ते, एवं सर्वासां प्रमाणं मासा ५६ दिना २८, प्रतिमाधरा एकस्मिन्नुपाश्रय उत्कृष्टतः (        )। प्रतिमाविचारो दशाव्यवहारप्रवचनसारोद्धारादिग्रन्थेभ्योऽलेखि।

एतासां वितथप्ररूपणादितो योऽतिचारः कृतः ॥११–२॥ 'तेरसहिं किरिया०'–क्रिया कर्मबन्धहेतुस्तस्याः स्थानैः 'अट्ठा'

अट्ठाणट्ठा हिंसा–ऽकम्हा दिट्ठी य मोसऽदिण्णे य । अज्झत्थमाण मेत्ते,[1] मायालोहे[2] रियावहिया ॥ ११ ॥

'अट्ठे'त्ति अर्थदण्डः १, एवमनर्थदण्डः २, हिंसादण्डः ३, अकस्माद्दण्डः ४, दृष्टिविपर्यासः ५, मृषाप्रत्ययदण्डः ६, अदत्तवृत्तिः ७, आध्यात्मिकी क्रिया ८, मानवृत्तिः ९, मित्रद्वेषवृत्तिः १०, मायावृत्तिः ११, लोभवृतिः १२, ऐर्यापथिकी क्रिया १३ ॥ अत्र क्षेपकगाथाः–"तसथावरभूएहिं, जो दंडं निसरइ हु कज्जंमि । आयपरस्स व अट्ठा, अट्ठादंडं तयं बिंति" ॥ १ ॥ त्रसस्थावरभूतेषु दण्ड्यते निःस्वः क्रियते आत्माऽनेनेति दण्ड आरम्भस्तं, 'कज्जंमी'त्येव व्याख्याति, कार्ये सति निसृजति करोति आत्मनः परस्य चाऽर्थाय १ । "जो पुण सरडाइयं थावरकायं च वणलयाईयं । मारेत्तुं च्छिदिऊण व छड्डे एसो अणट्ठाए ॥२॥ सरटः काकिण्डकस्तदाद्यं त्रसकायं वनलताद्यं स्थावरकायं मारित्वा छित्वा च छर्दयति दवान् ना दत्ते, एषोऽनर्थदण्डः २ । "अहिमाइवेरियस्स व हिंसीसु हिंसई व हिंसहिई । जो दंडं आरोहइ हिंसादंडो भवे एसो" ॥३॥ अग्यादेर्वैरिणो वैष मां अहिनत् हिनस्ति हिंसिष्यति चेति बुद्ध्या यो दण्डमारम्भमारोहति चटति ३ । "अन्नट्ठाए निसिरइ, कंडाइ अन्नमाहणे जो उ । जो व नियंतो सस्सं, छिंदिज्जा सालिमाई य" ॥ ४ ॥ यः काण्डं बाणमन्यार्थायाऽन्यस्मै कृते निसृजत्यन्यं स्वाहन्ति, वाऽथवा यः शाल्यादिकं शस्यं नयन् गृह्णन् तृणादि छिन्द्यात् ४ । "एस अकम्हादंडो, दिट्ठिविवज्जासओ इमो होइ । जो मित्तममित्तंती, काउं घाएज्ज अहवावि ॥ ५ ॥ गामाइघाएसु व अतेण तेणंति वावि घाएज्जा । दिट्ठीविवज्जासे सो, किरियाठाणं तु पंचमयं" ॥ ६ ॥ अयं दृष्टिविपर्यासो वक्ष्यमाणः स्यात्, यो मित्रं विपर्यस्तबुद्ध्याऽमित्रं वैरि-

णमिति कृत्वा घातयेत् । अथवाऽपि ग्रामादीनां घातेषु भङ्गेषु न्यायिनमप्यन्यायिनं कृत्वाऽस्तेनं स्तेनं वा कृत्वा घातयेद् ५ । 'आयट्ठा नायगाईण वावि अट्ठाय जो मुसं वयइ । सो मोसपच्चईओ, दंडो छट्ठो हवइ एसो" ॥७॥ आत्मार्थं ज्ञातकानां स्वजनानां वाऽर्थाय ६ । " एमेव आयनायगअट्ठा जो गिण्हइ अदिन्नं तु । एसो अदिन्नवत्ती अज्झत्थिओ इमो होइ " ॥ ८ ॥ एमेवाऽऽत्मज्ञातकयोरर्थाय २ आध्यात्मिको दण्डोऽयं वक्ष्यमाणः स्याद् ७ । "न य कोवि किंचि भणए, तहवि य हियएण दुम्मणो किंपि । तस्सज्झत्थी संसइ, चउरो ठाणा इमे हुंति " ॥९॥ कोऽपि किंचिन्न भणति तथापि हृदयेन स्वचित्तविकल्पादेव किमपि दुर्मनाः स्यात्, तस्याऽऽध्यात्मिकी क्रिया शिष्यते, तस्या इमानि चत्वारि स्थानानि वक्ष्यमाणानि स्युः " कोहो माणो माया, लोहो अज्झत्थिकिरिय एवेसा । जो पुण जाइमयाई, अट्ठविहेणं तु माणेणं " ॥ १० ॥ एषा क्रोधादिकाऽऽध्यात्मक्रियैव ८ । "मत्तो हीलेइ परं खिंसइ परिभवइ माणवत्तेसा । मायपिइनायगाइणं, जो पुण अण्णे वि अवराहे ॥११॥ तिव्वं दंडं करेइ डहणंकणबंधताडणाइयं । तं मित्तदोसवित्ती, किरियाठाणं हवइ दसमं ॥ १२ ॥ इक्कारसमं माया, अन्नं हिययम्मि अन्न वायाए । अन्नं आयरई इय, सकम्मणा गूढसामत्थो" ॥१३॥ यो जातिमदादिनाऽष्टविधेन परं हीलते इत्यादि, एषा मित्रद्वेषवृत्तिक्रिया, हीला मनसा तर्जना, खिंसा वचसा तर्जना, पराभवः क्रियया तर्जना, मानवृत्तिक्रियैषा ९ । मातृपित्रादीनां दहनाङ्कनबन्धताडनादि, आदिशब्दाद्धोलनादि करोति १० । एकादशं स्थानं माया स्यात्, स्वकर्मणाऽन्यदाचरति च, गूढसामर्थ्यो गूढपरिणामः, एषा मायावृत्तिरुक्ता ११ । ' मायावित्ती एसा इत्तो पुण लोभवित्तीया । इणमो सावज्जारंभपरिग्गहेसु सत्तो महंतेसु '॥ १४ ॥ 'इत्तो' इतः 'इणमो' इयं 'महंतेसु' महत्सु सावद्यमयारम्भपरिग्रहेषु सक्तस्तत्परः । " तह इत्थीकामेसुं, गिद्धो

अप्पाणयं च रक्खंतो । अन्नेसिं सत्ताणं, वहबंधणमारणं कुणइ ॥ १५ ॥ एसा उ लोभवित्ती, इरियावहियं इओ पवक्खामि । इह खलु अणगारस्स उ, ममिईगुत्तीसुगुत्तस्स ॥ १६ ॥ सययं तु अप्पमत्तस्स भगवओ जाव चक्खुपम्हंपि । निवयइ ता सुहमावि हु, इरियावहिया किरिय एसा" ॥ १७ ॥ तथा स्त्रीषु कामेषु गृद्धः सन्नात्मानं च रक्षन्नन्येषां वधादि करोति १२ । 'इओ' इत ईर्या चलनं तद्विशिष्टः पन्था ईर्यापथस्तत्र भवा ईर्यापथिकी, व्युत्पत्तिमात्रमिदं भावार्थस्त्वयं–समितिगुप्तिभ्यां सुगुप्तस्य सुसंवृतस्याऽनगारस्य सततमप्रमत्तस्य भगवतः पूज्यस्योपशान्तमोहादिगुणस्थानानुवर्तिनो वा यच्चक्षुःपक्ष्माऽपि निपतति स्पन्दते तावत्, हुरेवार्थे केवलयोगप्रत्यया सूक्ष्मा एकसामायिकबन्धत्वेनाऽल्पा सातबन्धरूपैषा क्रिया स्यात् तस्यां च कर्माऽऽद्यसमये बद्धं द्वितीये वेदितं तृतीये निर्जीर्यते २४ ।

**चउदसहिं भूयगामेहिं, पन्नरसहिं परमाहंमिएहिं, सोलसहिं गाहासोलसएहिं । सत्तरसविहे संजमे, अट्ठारसविहे अबंभे, एगूणवीसाए णायज्झयणेहिं, वीसाए असमाहिठाणेहिं ॥**

'चउद० भूय०' भूतानां जीवानां ग्रामाः समूहाः 'एगिं०'।

एगिंदियसुहुमियरा, सण्णियर पणिंदिया य सबितिचउ । पज्जत्तापज्जत्ता भेएणं चोद्दसगामा ॥ १ ॥

एकेन्द्रियाः सूक्ष्माः १, इतरे बादराः २, पञ्चेन्द्रियाः संज्ञिनो देवनारकगर्भजाः ३, असंज्ञिनः संमूर्च्छजाः ४, तथा द्वि ५, त्रि ६, चतुरिन्द्रिय ७ सहिता एते सप्त भेदाः पर्याप्तापर्याप्तभेदेन चतुर्दशजीवग्रामाः । अन्ने पुण इत्थ चउद्दस

गुणठाणाणि पन्नवंति, 'मिच्छ' 'तत्तो'

मिच्छद्दिट्ठी सासायणे य, तह सम्ममिच्छदिट्ठी य । अविरतसम्मद्दिट्ठी, विरयाविरए पमत्ते य ॥ १ ॥

तत्तो य अप्पमत्तो, नियट्टिअनियट्टिबायरे सुहुमे । उवसंतखीणमोहे, सजोगी अजोगी य ॥ २ ॥

व्याख्या—मिथ्यादृष्टिगुणस्थानं १, सास्वादनदृष्टिगुणस्थानं २, तथा सम्यङ्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानं ३, अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानं ४, विरताविरतगुणस्थानं ५, प्रमत्तगुणस्थानं ६, ततोऽप्रमतगुणस्थानं ७, 'नियट्टि'त्ति निवृत्तिबादरगुणस्थानं ८, अनिवृत्तिबादरगुणस्थानं ९, 'सुहुमे'त्ति सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानं १०, उपशान्तमोहगुणस्थानं ११, क्षीणमोहगुणस्थानं १२, सयोगिगुणस्थानं १३, अयोगिगुणस्थानं १४ । तत्र मिथ्या विपरीता दृष्टिर्जिनोक्तवस्तुप्रतिपत्तिर्यस्य स मिथ्यादृष्टिस्तस्य गुणस्थानं, गुणानां ज्ञानादीनां स्थानं, शुद्धितारतम्येन गुणानां स्वरूपभेद इत्यर्थः । तथा मिथ्यात्वेऽपि वर्तमानस्य जीवस्य ज्ञानमात्ररूपगुणवत्त्वाद्गुणस्थानत्वं, यत आर्षे 'सव्वजीवाणं पि य णं अक्खरस्स अणंतभागो निच्चुग्घाडिओ, जइ पुण सो आवरिज्जा तो जीवो अजीवत्तणं पाविज्जा, सुट्ठवि मेहसमुदए होइ पहा चंदसूराणं' इति । इहाऽनादिमिथ्यादृष्टिः कोपि गिरिसरिदुपलघोलनाकल्पेनाऽनाभोगनिवर्तनेनाऽध्यवसायविशेषरूपेण यथाप्रवृत्तकरणेनाऽऽयुर्वर्जसप्तकर्माणि पल्यासंख्येयभागहीनैकसागरकोटाकोटिस्थितिकानि कुर्यात्, तत्र च निबिडकाष्ठग्रन्थिवद्दुर्भेद्यः प्रबलरागद्वेषपरिणामोऽभिन्नपूर्वः कर्मग्रन्थिः स्यात् । उक्तं च "गंठित्ति सुदुब्भेओ, कक्खडघणरूढगूढगंठिव । जीवस्स कम्मजणिओ, घणरागद्दोसपरिणामो" ॥१॥ इमं च ग्रन्थिं यावदभव्या अपि यथाप्रवृत्तकरणेन कर्म क्षपयित्वाऽनन्तशः समायान्ति न तु ग्रन्थिं भिन्दन्ति, किन्तु भूयोऽपि व्यावृत्तः संक्लेशव-

मादृत्कृष्टस्थितीनि कर्माणि कुर्वन्ति। ग्रन्थिभेदं च विना न सम्यक्त्वादिलाभः, ग्रन्थिं च भित्त्वा जीवः पुनः कर्मणामुत्कृष्टस्थितीर्न बध्नातीत्यत एकवारमेव ग्रन्थिभेदः स्यादिति। इतश्च कश्चिन्महात्माऽऽसन्नमोक्षसुखः प्रचुरदुर्वारवीर्यप्रसरतीव्रपरशुनेव विशुद्ध-परिणामरूपेणाऽन्तर्मुहूर्त्तकालमानेनाऽपूर्वकरणेन ग्रन्थिभेदं विधाय विशिष्टतरविशुद्धिरूपमन्तर्मुहूर्त्तकालमानमनिवृत्तिकरणमनु-भवंस्तत्र शेषमिथ्यात्वमोहनीयस्थितेरुदयक्षणादूर्ध्वमन्तर्मुहूर्त्तं मुक्त्वा परतो वेद्यमिथ्यात्वदलिकाभावरूपमन्तर्मुहूर्त्तमानमन्तर-करणं करोति। उक्तं च-" करणं अहापवत्तं, नियट्टिमनियट्टि चेव भवाणं। इयरेसिं पढमं चिय, भण्णइ करणं तु परिणामो " ॥ १ ॥ करणं यथाप्रवृत्तं १, 'नियट्टि'त्ति निवृत्तिकरणमपूर्वकरणापरनामकं २ अनिवृत्तिकरणं ३ चैव। एतत्त्रयं भव्यानां स्यादितरेषामभव्यानां प्रथममेव करणं भवति। तु पुनः करणं परिणामो भण्यते। " जा गंठी ता पढमं, गंठिं समइच्छओ भवे बीअं। अनियट्टीकरणं पुण, सम्मत्तपुरक्खडे जीवे" ॥२॥ यावद्ग्रन्थिस्तावत्प्रथमं, ग्रन्थिं समतिक्रामतो ग्रन्थिं भिदानस्य द्वितीयं भवेत्, अनिवृत्तिकरणं पुनः सम्यक्त्वपुरस्कृते जीवे स्यात्, सम्यक्त्वं पुरस्कृतमासन्नीकृतं येन स तस्मिन् सम्यक्त्वाभिमुख इत्यर्थः। किं चाऽस्मिन्नन्तरकरणे कृते मिथ्यात्वमोहनीयकर्मणो द्वे स्थिती स्यातामेकाऽन्तरकरणात् प्राक्तन्यन्तर्मुहूर्त्तमात्रा, द्वितीया-न्तरकरणानन्तरभाविन्यन्तःसागरकोटाकोटिमानेति, स्थापना चेयं। तत्राऽनादिकालात्प्रथमस्थितिभागं यावन्मिथ्यात्वदलि कवेदनादसौ मिथ्यादृष्टिरेव। किं चाऽर्हत्प्रणीतमेकमप्यक्षरमरोचमानो मिथ्यादृष्टिः स्याद्यतः " पयमक्खरंपि इक्कं जो न रोयइ सुत्तनिद्दिट्ठं। सेसं रोयंतो वि हु, मिच्छद्दिट्ठी मुणेयव्वो " ॥ १ ॥ तथा सम्यग्दृष्टिरप्यनन्तानुबन्ध्युदयान्मिथ्यात्वी स्यात्, सर्वे मिथ्यात्विनो जघन्यत उत्कृष्टतोऽप्यनन्ता एव स्युरित्युक्तं मिथ्यादृष्टिगुणस्थानं १। ततोऽन्तरकरणं प्रविष्ट आद्यसमयादार-

बहुशोऽपि भवतीत्यत्र त्रिपुञ्जीकरणमाश्रित्य पश्चाच्च ग्रन्थिभेदमाश्रित्येति ज्ञेयं । अत्राऽपि मिश्रपुञ्जमादाय मिश्रं गुणस्थानमिति ३। ततोऽविरतश्चासौ सम्यग्दृष्टिश्चाऽविरतसम्यग्दृष्टिः, स च प्रथमौपशमिकसम्यग्दृष्टिः क्षायौपशमिकसम्यग्दृष्टिः क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्वा सम्यग्दृष्टित्वेन विरतेः फलं जानाति, परमप्रत्याख्यानकषायोदयविघ्नात् तां नाऽङ्गीकरोति न च पालयति, तस्य गुणस्थानमविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानम् । अत्र सावद्ययोगप्रत्याख्यानं न जानाति, नाऽङ्गीकरोति. न पालयतीति त्रिभिः पदैरष्टौ भङ्गाः स्युः, स्थापना । तत्राऽऽद्येषु चतुर्षु भङ्गेषु अज्ञानित्वान्मिथ्यादृष्टिः, शेषेषु त्रिषु ज्ञानवत्त्वात् सम्यग्दृष्टिः । चरमे तु विरतिमत्त्वाच्छ्राद्धो यतिर्वा स्यात् । एतद्गुणस्थानस्थाः सर्वदैवाऽसंख्येयाः स्युः ४ । ततो विरतश्चाऽसाववितरश्च विरताविरतः, सम्यक्त्वलाभादनु पूर्वोक्तसप्तकर्मस्थितिमध्यात् पल्यपृथक्कत्वे क्षीणे सर्वसावद्यप्रत्याख्यानमावृण्वन्तीति प्रत्याख्यानावरणाः कषायाः, तेषामुदये सति देशतः प्राणिहिंसादिविरतिं स्वीकुर्यात्, सर्वविरतिं च न गृह्णीयात्, तस्य गुणस्थानं विरताविरतगुणस्थानं, उक्तं च–" तिविहे वि हु सम्मत्ते, थोवा न विरइ उ जस्स कम्मवसा । सो अविरओत्ति भण्णइ, देसा पुण देसविरओत्ति " ॥ १ ॥ एते सर्वदैवाऽसंख्याताः स्युः ५ । ततो भूयः सप्तकर्मस्थितेर्मध्यात् संख्यातेषु सागरेषु क्षीणेषु चारित्रं लब्ध्वा संज्वलनोदये सति विषयादिप्रमादवतः प्रमत्तगुणस्थानं षष्ठं ६, अप्रमादवतो यतेरप्रमत्तगुणस्थानं सप्तमं ७, यदुक्तं–" विगहाकसायनिद्दा–सद्दाइरओ हवइ पमत्तत्ति । पंचसमिओ तिगुत्तो, अपमत्तजई मुणेयव्वो " ॥ १ ॥ एतद्गुणस्थानद्वयं जघन्यतः समयेनोत्कर्षतोऽन्तर्मुहूर्त्तेन परावृत्तितो देशोनपूर्वकोटिं यावत् स्यात् । एते चोत्कृष्टतः कोटिसहस्रपृथक्त्वमानाः स्युः ७ । ततः पुनः कर्मस्थितेः संख्यातसागरेषु क्षीणेषूपशमश्रेणिं क्षपकश्रेणिं वा कोऽप्यारभते,

तत्रोपशामक आदावनन्तानुबन्धिनो युगपदुपशमय्य ततो दर्शनत्रिकं युगपदुपशमयति, क्षपकस्त्वबद्धायुरनन्तानुबन्धिनो युगपत् क्षपयित्वा तच्छेषं च किंचिन्मिथ्यात्वे क्षिप्त्वा तेन सह मिथ्यात्वं क्षपयति। एवं मिथ्यात्वशेषं मिश्रे, मिश्रशेषं च सम्यक्त्वे क्षिप्त्वा सम्यक्त्वं क्षपयति, सम्यक्त्वशेषं च कषायाष्टके क्षिप्त्वा वक्ष्यमाणरीत्या क्षपणक्रमाच्छ्रेणिसमाप्तौ केवली स्यात्। बद्धायुष्कस्त्वनन्तानुबन्ध्यादिषट्कं प्राग्वत्क्षपयित्वा सम्यक्त्वं समस्तं क्षपयति, तदा च भोजनान्त्यकवलग्रासवत् सम्यक्त्वान्त्यदलिकक्षपणसमये सम्यक्त्वं तद्दलिकवेदनरूपं वेदकसम्यक्त्वं स्यात्। यद्यपि क्षायोपशमिके तद्वेदनमस्ति, परं तत्र सम्यक्त्वपुञ्जः सत्तायामस्ति, अत्र तु नाऽस्तीति विशेषः, सम्यक्त्वक्षयान्त्यसमयाभावाच्च तस्मादत्र विशुद्धिरप्यधिका घटत इति। ततः सप्तकक्षये कृते सति तिष्ठत्येव। तादृशपरिणामाभावादत्र च दर्शनसप्तकस्योपशमे क्षये वा श्रेणिस्थस्योपशमिकसम्यक्त्ववतः क्षायिकसम्यक्त्ववतो वाऽष्टमं निवृत्तिबादरगुणस्थानं। अत्र प्रविष्टानां प्राणिनां परिणामा मिथो निवर्त्तन्ते शुद्धितारतम्येन भिन्ना भवन्ति, कषायाश्चाऽग्रेतनगुणस्थानापेक्षया बादराः। अतो निवर्तनशीलो निवर्ती, बादरकषायत्वाद्बादरः, निवर्ती चाऽसौ बादरश्च निवर्त्तिबादरो जन्तुस्तस्य गुणस्थानं। अस्य चाऽपूर्वकरणं इत्यपरं नाम। अकृतपूर्वाणां स्थितिघात १, रसघात २, गुणश्रेणि ३, गुणसंक्रम ४, स्थितिबन्धानां ५, पञ्चानामर्थानां करणमस्येति मत्वर्थीयेऽच्चि अपूर्वकरणो जन्तुस्तस्य गुणस्थानं। तत्र प्रौढस्थितीनां कर्मणामपवर्त्तनाकरणेनाऽल्पस्थितीकरणं स्थितिघातः, एवं रसघातोऽपि। एतौ च द्वावपि पूर्वगुणस्थानेषु विशुद्धेरल्पत्वादल्पावेव कृतवान्, अत्र तु विशुद्धेः प्रकृष्टत्वात्प्रकृष्टौ कुर्यात्, अत एवाऽपूर्वौ। तथा विशुद्धिवशादपवर्त्तनाकरणेनोपरितनस्थितेरवतारितस्य दलिकस्याऽन्तर्मुहूर्त्तादग्रतः क्षिप्रतरक्षपणाय प्रतिक्षणमसंख्येयगुणवृद्ध्या

भ्य मिथ्यात्वपुद्गलवेदनाऽभावादन्तर्मुहूर्त्तकालमानमौपशमिकसम्यक्त्वं लभते, उक्तं च–"ऊसरदेसं दड्ढिल्लयं च, विज्झाइ वणदवो पप्प । इय मिच्छस्स अणुदए, उवसमसम्मं लहइ जीवो " ॥ १ ॥ यथा वनदव ऊषरदेशं दग्धं च क्षेत्रं प्राप्य विध्यायति, शेषं स्पष्टं । तत उपशमिकसम्यक्त्वस्य जघन्यतोऽन्त्ये समये, उत्कृष्टतः षडावलिकासु शेषास्वनन्तानुबन्धिकषायोदयात् सम्यक्त्वं वमन्नथवा कोऽप्युपशमश्रेणिप्रतिपतितोऽनन्तानुबन्ध्युदयात्सम्यक्त्वं वमन् सास्वादनसम्यग्दृष्टिः स्यात्, जघन्यतः समयादुत्कृष्टतः षडावलिकाभ्य ऊर्ध्वमवश्यं मिथ्यात्वोदयादसौ मिथ्यादृष्टिरेव भवति, तथा सह आ ईषत्तत्त्वरसास्वादनेन वर्तत इति सास्वादनः, स चाऽसौ सम्यग्दृष्टिश्च सास्वादनसम्यग्दृष्टिस्तस्य गुणस्थानं। उक्तं च–" उवसमसंमा पडमाणओ तु मिच्छत्तसंकमणकाले । सासायणो च्छावलि, भूमिमपतोव्व पवडंतो " ॥ ११ ॥ मिथ्यात्वसंक्रमणकाल उपशमसम्यक्त्वात् प्रपतन् जघन्यत एकसामायिक उत्कर्षतः षडावलिकः सास्वादनः स्यात्, यथा मालात्पतन् भूमिमप्राप्तोऽन्तरालवर्ती तथा सम्यक्त्वात् पतन्मिथ्यात्वमद्याप्यप्राप्तोऽन्तरालवर्ती । एते चैकसमये कदाचिदुत्कृष्टतोऽसंख्येयाः प्राप्यन्त इति २ । तथोक्तविधिना लब्धेनौषधकल्पेनौपशमिकसम्यक्त्वेन मदनकोद्रववदशुद्धं मिथ्यात्वमोहनीयं कर्म जीवस्त्रिधा करोति–शुद्धमर्धविशुद्धमशुद्धं चेति स्थापना । त्रयाणां चैषां पुञ्जानां मध्ये यदार्धशुद्धः पुञ्ज उदेति तदा तदुदयवशाज्जिनमतपरमतोभयास्थावान् जन्तुरन्तर्मुहूर्त्तं सम्यग्मिथ्यादृष्टिः स्यात् । सम्यक्त्वं मिथ्या च सम्यग्मिथ्ये, ईदृशे दृष्टी यस्य स सम्यग्मिथ्यादृष्टिस्तस्य गुणस्थानं, उक्तं च–" जह गुडदहीणि विसमाणि भावरहियाणि हुंति मिस्साणि । भुंजतस्स तहोभय–तद्दिट्ठी मीसदिट्ठी य " ॥ १ ॥ अत्र च जिनधर्मोपरि रागो द्वेषश्च न स्यादित्यस्य मिश्रदृष्ट्याख्यं तृतीयं नाम, यतः–" रागं नवि जिणधम्मे, नवि

सो मीसस्स विवागो, अंतमुहूत्तं हवइ कालं" ॥ १ ॥ तत ऊर्ध्वमवश्यं शुद्धपुञ्जोदयात् क्षायोपश-
दोसं जाइ जस्स उदएणं। मो मीसस्स विवागो, अंतमुहूत्तं हवइ कालं" ॥ १ ॥ तत ऊर्ध्वमवश्यं शुद्धपुञ्जोदयात् क्षायोपश-
मिकसम्यक्त्वं, मिथ्यात्वपुञ्जोदयान्मिथ्यात्वं च याति, यतः–"मिच्छाओ संकंती, अविरुद्धा होइ सम्ममीसेसु। मीसाओ वा दोसुं,
सम्मा मिच्छं न उण मीसं" ॥१॥ सम्यक्त्वान्मिथ्यात्वं याति न पुनर्मिश्रं, एतद्गुणस्थानस्थाश्चोत्कृष्टतोऽसंख्येयाः स्युरिति ३। उक्त
कार्मग्रन्थिकमतं, सैधान्तिकमतं त्विदं–कोऽप्यनादिमिथ्यादृष्टिजीवो यथाप्रवृत्तिकरणेन ग्रन्थिं प्राप्य गुर्वादिसामग्रीसद्भावेऽपूर्व-
करणेन ग्रन्थिभेदक्षण एव पुञ्जत्रयं कृत्वाऽनिवृत्तिकरणेन शुद्धपुञ्जपुद्गलान् वेदयन्नुदीर्णस्य मिथ्यात्वस्य क्षयादनुदीर्णस्य च शुद्ध-
पुञ्जीकृतत्वेन विपाकानुभवापेक्षया उपशमात्प्रदेशानुभवापेक्षया तूदयात्प्रथमत एव क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टिः स्यात्। तस्य पुञ्ज-
त्रयकरणं यावन्मिथ्यादृक्गुणस्थानं, उक्तं च–"अप्पुवेण तिपुंजं, मिच्छत्तं कुणइ कोद्दवोवमया। अनियट्टीकरणेणं, सो सम्मदंसणं
लहइ" ॥ १ ॥ सम्यग्दर्शनमिति क्षायोपशमिकसम्यक्त्वं, असौ च पुञ्जत्रये सत्यप्यनिवृत्तिकरणवशाच्छुद्धपुञ्जमेव याति नाऽन्त्यौ
द्वौ। इह सम्यक्त्वावारकरसं क्षपयित्वा ये मिथ्यात्वपुद्गला विशोधितास्तेषां पुञ्जो जिनवचनरुचेरनावारकत्वादुपचारतः सम्य-
क्त्वमुच्यते। पुनर्भेदान्तरमाह–कोऽपि जीवो यथाप्रवृत्तादिकरणैरौपशमिकसम्यक्त्वं प्राप्याऽकृतत्रिपुञ्ज एव सास्वादनदृष्टित्व-
मनुभूय मिथ्यात्वोदयान्मिथ्यात्वं याति। उक्तं च कल्पभाष्ये–"आलंवणमलहंती, सहसा ठाणं न मुंचई इलिया।
एवं अकयतिपुंजो, मिच्छं चिय उवसमाएइ" ॥ १ ॥ यथा गात्रे समुत्क्षिप्ते सतीलिकाऽग्रेतनस्थानरूपमालम्बनमलभ-
माना सहसा स्थानं न मुञ्चति, एवमुपशमसम्यग्दृष्टिरकृतत्रिपुञ्ज औपशमिकाच्च्युतो मिश्रशुद्धपुञ्जरूपं स्थानान्तरमलभमानो
मिथ्यात्वमेवैति। स च कालान्तरे पुनरपूर्वकरणेन पुञ्जत्रयं कृत्वाऽनिवृत्तिकरणेन क्षायोपशमिकसम्यक्त्वं लभते, अपूर्वकरणं तु

बहुशोऽपि भवतीत्यत्र त्रिपुञ्जीकरणमाश्रित्य पश्चाच्च ग्रन्थिभेदमाश्रित्येति ज्ञेयं । अत्राऽपि मिश्रपुञ्जमादाय मिश्रं गुणस्थानमिति ३ । ततोऽविरतश्चासौ सम्यग्दृष्टिश्चाऽविरतसम्यग्दृष्टिः, स च प्रथमौपशमिकसम्यग्दृष्टिः क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टिः क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्वा सम्यग्दृष्टित्वेन विरतेः फलं जानाति, परमप्रत्याख्यानकषायोदयविघ्नात् तां नाऽङ्गीकरोति न च पालयति, तस्य गुणस्थानमविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानम् । अत्र सावद्ययोगप्रत्याख्यानं न जानाति, नाऽङ्गीकरोति. न पालयतीति त्रिभिः पदैरष्टौ भङ्गाः स्युः, स्थापना । तत्राऽऽद्येषु चतुर्षु भङ्गेषु अज्ञानित्वान्मिथ्यादृष्टिः, शेषेषु त्रिषु ज्ञानवत्त्वात् सम्यग्दृष्टिः । चरमे तु विरतिमत्त्वाच्छ्राद्धो यतिर्वा स्यात् । एतद्गुणस्थानस्थाः सर्वदैवाऽसंख्येयाः स्युः ४ । ततो विरतश्चाऽसावविरतश्च विरताविरतः, सम्यक्त्वलाभादनु पूर्वोक्तसप्तकर्मस्थितिमध्यात् पल्यपृथक्त्वे क्षीणे सर्वसावद्यप्रत्याख्यानमावृण्वन्तीति प्रत्याख्यानावरणाः कषायाः, तेषामुदये सति देशतः प्राणिहिंसादिविरतिं स्वीकुर्यात्, सर्वविरतिं च न गृह्णीयात्, तस्य गुणस्थानं विरताविरतगुणस्थानं, उक्तं च–" तिविहे वि हु सम्मत्ते, थोवा न विरइ उ जस्स कम्मवसा । सो अविरओत्ति भण्णइ, देसा पुण देसविरओत्ति " ॥ १ ॥ एते सर्वदैवाऽसंख्याताः स्युः ५ । ततो भूयः सप्तकर्मस्थितेर्मध्यात् संख्यातेषु सागरेषु क्षीणेषु चारित्रं लब्ध्वा संज्वलनोदये सति विषयादिप्रमादवतः प्रमत्तगुणस्थानं षष्ठं ६, अप्रमादवतो यतेरप्रमत्तगुणस्थानं सप्तमं ७, यदुक्तं–" विगहाकसायनिद्दा–सद्दाइरओ हवइ पमत्तत्ति । पंचसमिओ तिगुत्तो, अपमत्तजई मुणेयव्वो " ॥ १ ॥ एतद्गुणस्थानद्वयं जघन्यतः समयेनोत्कर्षतोऽन्तर्मुहूर्त्तेन परावृत्तितो देशोनपूर्वकोटिं यावत् स्यात् । एते चोत्कृष्टतः कोटिसहस्रपृथक्त्वमानाः स्युः ७ । ततः पुनः कर्मस्थितेः संख्यातसागरेषु क्षीणेषूपशमश्रेणिं क्षपकश्रेणिं वा कोऽप्यारभते,

तत्रोपशामक आदावनन्तानुबन्धिनो युगपदुपशमय्य ततो दर्शनत्रिकं युगपदुपशमयति, क्षपकस्त्वबद्धायुरनन्तानुबन्धिनो युगपत् क्षपयित्वा तच्छेषं च किंचिन्मिथ्यात्वे क्षिप्त्वा तेन सह मिथ्यात्वं क्षपयति । एवं मिथ्यात्वशेषं मिश्रे, मिश्रशेषं च सम्यक्त्वे क्षिप्त्वा सम्यक्त्वं क्षपयति, सम्यक्त्वशेषं च कषायाष्टके क्षिप्त्वा वक्ष्यमाणरीत्या क्षपणक्रमाच्छ्रेणिसमाप्तौ केवली स्यात् । बद्धायुकस्त्वनन्तानुबन्ध्यादिषट्कं प्राग्वत्क्षपयित्वा सम्यक्त्वं समस्तं क्षपयति, तदा च भोजनान्त्यकवलग्रासवत् सम्यक्त्वान्त्यदलिकक्षपणसमये सम्यक्त्वं तद्दलिकवेदनरूपं वेदकसम्यक्त्वं स्यात् । यद्यपि क्षायोपशमिके तद्वेदनमस्ति, परं तत्र सम्यक्त्वपुञ्जः सत्तायामस्ति, अत्र तु नाऽस्तीति विशेषः, सम्यक्त्वक्षयान्त्यसमयाभावाच्च तस्मादत्र विशुद्धिरप्यधिका घटत इति । ततः सप्तकक्षये कृते सति तिष्ठत्येव । तादृशपरिणामाभावादत्र च दर्शनसप्तकस्योपशमे क्षये वा श्रेणिस्थस्योपशमिकसम्यक्त्ववतः क्षायिकसम्यक्त्ववतो वाऽष्टमं निवृत्तिबादरगुणस्थानं । अत्र प्रविष्टानां प्राणिनां परिणामा मिथो निवर्त्तन्ते शुद्धितारतम्येन भिन्ना भवन्ति, कषायाश्चाऽग्रेतनगुणस्थानापेक्षया बादराः । अतो निवर्तनशीलो निवर्ती, बादरकषायत्वाद्बादरः, निवर्ती चाऽसौ बादरश्च निवर्त्तिबादरो जन्तुस्तस्य गुणस्थानं । अस्य चाऽपूर्वकरणं इत्यपरं नाम । अकृतपूर्वाणां स्थितिघात १, रसघात २, गुणश्रेणि ३, गुणसंक्रम ४, स्थितिबन्धानां ५, पञ्चानामर्थानां करणमस्येति मत्वर्थयेऽचि अपूर्वकरणो जन्तुस्तस्य गुणस्थानं । तत्र प्रौढस्थितीनां कर्मणामपवर्त्तनाकरणेनाऽल्पस्थितीकरणं स्थितिघातः, एवं रसघातोऽपि । एतौ च द्वावपि पूर्वगुणस्थानेषु विशुद्धेरल्पत्वादल्पावेव कृतवान्, अत्र तु विशुद्धेः प्रकृष्टत्वात्प्रकृष्टौ कुर्यात्, अत एवाऽपूर्वौ । तथा विशुद्धिवशादपवर्त्तनाकरणेनोपरितनस्थितेरवतारितस्य दलिकस्याऽन्तर्मुहूर्त्तादग्रतः क्षिप्रतरक्षपणाय प्रतिक्षणमसंख्येयगुणवृद्ध्या

विरचनं गुणश्रेणिः। एतां च पूर्वगुणस्थानेष्वविशुद्धत्वाद्बहुकालवेद्यामल्पदलिकापवर्त्तनादविस्तृतां च विरचितवान्। इह तु विशुद्धत्वादपूर्वामल्पकालवेद्यां बहुदलिकोपवर्त्तनाद्विस्तीर्णां च करोति। तथा बध्यमानशुभप्रकृतिष्वबध्यमानाशुभप्रकृतिदलिकस्य प्रतिक्षणमसंख्येयगुणवृद्ध्या विशुद्धिवशात् संक्रमणं गुणसंक्रमस्तमपीहापूर्वं करोति, स्थितिं च कर्मणामशुद्धत्वात् प्राग्दीर्घां बद्धवानिह तु तामपूर्वां विशुद्धत्वादेव ह्रस्वां बध्नातीति ८। तत उपशमश्रेणौ चेन्नरः प्रारब्धा तदाऽनुदीर्णमपि नपुंसकवेदं, ततः स्त्रीवेदं, ततो हास्यरत्यरतिभयशोकजुगुप्सारूपं षट्कं, ततो नृवेदं, चेत्स्त्री तदा क्लीवं, नृवेदषट्कान्ते स्त्रीवेदं, चेत्क्लीबः तदा स्त्रीनृवेदषट्कान्ते क्लीबवेदं। ततोऽप्रत्याख्यानक्रोधप्रत्याख्यानक्रोधौ युगपदुपशमय्य ततः संज्वलनक्रोधमेवं मानमायालोभानप्युपशमयति। तत्र संज्वलनलोभमुपशमयंस्तं त्रिभागीकृत्य द्वौ भागौ युगपदुपशमय्य तृतीयांशं च संख्येयांशान् कृत्वा पृथक्कालेनोपशमयति। क्षपकश्रेणौ त्वबद्धायुरेव श्रेणिं समापयतीति स क्षीणसम्यक्त्वांशशेषमप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानकषायाष्टकान्तः क्षिप्त्वा युगपत्कषायानां प्राक् क्षपणमारभते, तन्मध्यभागं च क्षपयन् नरकगतिनरकानुपूर्वीतिर्यग्गतितिर्यगानुपूर्वीएकेन्द्रियजातिद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियजातिः ८ आतपोद्योतस्थावरसूक्ष्मसाधारणापर्याप्तनामानि १४ निद्रानिद्राप्रचलाप्रचलास्त्यानर्द्धय एताः १७ प्रकृतीः क्षपयित्वा ततोऽष्टानां शेषं क्षपयति। सर्वमिदमन्तर्मुहूर्त्तकालेनेति। ततो नपुंसकवेदं, ततः स्त्रीवेदं, ततो हास्यादिषट्कं, ततः पुंवेदं त्रिधा कृत्वा द्वौ भागौ युगपत् क्षपयित्वा तृतीयभागं संज्वलनक्रोधे क्षिपति, नरि प्रारम्भकेऽयं क्रमः, स्त्र्यादौ प्रारम्भके तूपशमश्रेणिवत्तद्वेदक्षपणं षट्कान्ते वाच्यं। ततः संज्वलनक्रोधं त्रिधा कृत्वा द्वौ भागौ क्षपयित्वा

१ शुभशब्दोऽधिको भाति।

तृतीयं संज्वलनमाने क्षिप्त्वेत्यादि। संज्वलनलोभक्षपणं तूपशमश्रेणिवत्। तत्रोपशमश्रेणौ क्लीबवेदादारभ्य, क्षपकश्रेणौ तु कषायाष्टकादारभ्य संज्वलनलोभसंख्येयखण्डान्त्यखण्डं यावदनिवृत्तिबादरः। एकसमय इदं प्रविष्टानां जन्तूनां मिथः परिणामा निवर्तनात् सूक्ष्मसंपरायापेक्षया कषायबादरखण्डवत्त्वाच्चाऽनिवृत्तिबादरस्तस्य गुणस्थानं। सर्वेष्वप्युपशमनक्षपणकालः पृथक् पृथक् अन्तर्मुहूर्त्तं, श्रेणिसमाप्तिरप्यन्तर्मुहूर्त्तेनैव स्यात्। समयोनघटीद्वयमानोत्कृष्टान्तर्मुहूर्त्ते लघूनामसंख्यातांतर्मुहूर्त्तानां भावात् ९। ततश्चरमं लोभखण्डमसंख्येयखण्डानि कृत्वा पृथक् पृथक् समयेनोपशमयन् क्षपयन् वा सूक्ष्मसंपरायः, संपर्येति पर्यटति भवमनेनेति संपरायः कषायोऽस्येति तस्य गुणस्थानं १०। ततः सर्वकषायोपशमे सत्युपशान्तमोहस्तस्य गुणस्थानं ११। एवमत्राऽनन्तानुबन्ध्यादेः सप्तविधस्य दर्शनमोहस्य पुंवेदादेरेकविंशतिविधस्य चारित्रमोहस्य च कर्मणः क्रमेणोद्वर्त्तनोदयाद्ययोग्यत्वकरणेनोपशमो जातः, क्षपकस्य तु कषायक्षये क्षीणमोहगुणस्थानं। सर्वस्य मोहनीयस्योपशमे क्षये वा चतुर्दशाभ्यन्तरग्रन्थरहितत्वान्निर्ग्रन्थ उच्यते १२। इहोपशमश्रेणिरुपशान्तमोहं यावत्स्यात्, ततोऽन्तर्मुहूर्त्तं यथाख्यातचारित्री भूत्वा लोभोदयादवश्यं प्रतिपतत्येव, कोऽपि मिथ्यात्वमपि गच्छति, क्षपकस्तु नैव पतति, परं प्राय एकभव एकजीवमाश्रित्यैकैव श्रेणिः स्यात्। कर्मग्रन्थाशयेन त्वेकभवे श्रेणिद्वयमपि, सिद्धान्तमतेन त्वेकभव आद्याश्रेणिर्वारद्वयं स्यात्। संसारमध्ये त्वेकजीवस्य वारचतुष्कं भवति। उत्कृष्टत उपशामका एकवारं चतुःपञ्चाशल्लभ्यन्त उपशान्तमोहास्तु संख्याताः क्षपकास्त्वष्टोत्तर(शत)मानाः। भस्मछन्नाग्निसमः कर्मणामुपशमो विध्याताग्निसमस्तु क्षय इति। यदा क्षीणमोहो यथाख्यातचारित्री क्षपकनिर्ग्रन्थः सन्नन्तर्मुहूर्त्तं विश्रम्याऽन्त्यसमययोराद्ये

समये निद्रां प्रचलां च क्षपयित्वा, चरमे तु मत्यादिज्ञानावरणं पञ्चविधं, चक्षुरचक्षुरवधिकेवलावरणरूपं चतुर्विधं दर्शनावरणं, पञ्चधाऽन्तरायं च क्षपयित्वा केवली भवति, तदा स जीवस्य निर्मलत्वकरणात् स्नातक उच्यते । स च जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽष्टवर्षोनपूर्वकोटिं यावत् सयोगिकेवली स्यात् । योगा मनोवाक्कायव्यापाराः, सह योगैर्वर्त्तेत इति सयोगी, सयोगी चाऽसौ केवली च सयोगिकेवली तस्य गुणस्थानं १३ । एते च जघन्यत उत्कृष्टतः कोटिपृथक्त्वमानाः स्युस्तथा केवल्यनुत्तरसुरादिभिर्मनसा सन्देहं पृष्टो मनःपर्याप्तिसम्बद्धं स्वीयं द्रव्यमनः केवलित्वे सत्यप्युपयोगविषयेऽनागच्छदपि तत्संशयापनोदाय तदा प्रयुङ्क्ते इति मनोयोगं, देशनादौ तु वाग्योगं, कायव्यापारादौ काययोगं प्रयुङ्क्ते १३ । ततोऽन्तर्मुहूर्त्तशेषेष्वायुर्वेद्यनामगोत्रेषु मनोवाक्कायव्यापाररोधादयोगिगुणस्थानं । न विद्यन्ते योगा अस्याऽयोगी तस्य गुणस्थानं १४ । एते चोत्कृष्टतोऽष्टोत्तरशतमानाः स्युः । तत्र स सुषिरपूर्त्या देहतृतीयभागोनस्थः पञ्चह्रस्वाक्षरोच्चारं यावन्निश्चलः शैलेस्यवस्थां प्रपद्यैकसमयेन सिध्यति । तथा गुणस्थानानां कालप्रमाणमिदं--मिथ्यात्वं भव्यानामनादिसान्तमभव्यानां त्वनाद्यन्तं, तत्र वान्तसम्यक्त्वानां तु मिथ्यात्वं जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कृष्टतो देशोनं अर्धपुद्गलपरावर्त्तं स्यात् । द्वितीयं जघन्यतः समयमुत्कृष्टतः षडावलिकाः । तृतीयं द्वादशं चतुर्दशं चाऽन्तर्मुहूर्त्तमेव । तुर्यं जघन्यमन्तर्मुहूर्त्तमुत्कृष्टं साधिकांस्त्रयस्त्रिंशत्सागरान् । पञ्चमं त्रयोदशं च जघन्यमन्तर्मुहूर्त्तमुत्कृष्टं देशोनपूर्वकोटिमानं । षष्ठादीन्येकादशान्तानि जघन्यतः समयमुत्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्त्तं । येषु च म्रियन्ते तेष्वाद्यद्वितीयतुर्याणि परभवे सह यान्ति शेषाण्यष्ट न यान्ति । यतः—" मिच्छे सासाणे वा, अविरयसम्मंमि अहव गहियंमि । जंति जीया परलोए, सेसिकारसगुणे मोत्तुं " ॥ १ ॥ तथा मनुष्यगतौ सर्वाणि गुणस्थानान्याप्यन्ते, पञ्चेन्द्रियतिर्यक्षु

पञ्चाऽऽद्यानि, विकलेन्द्रियेषु चाऽऽद्ये द्वे, अपर्याप्तावस्थायां घण्टालोलान्यायेन सास्वादनस्याऽपि भावात् । यतः सास्वादना विकलेषूत्पद्यन्ते, तथैकेन्द्रियेष्वेकमाद्यं शेषगत्योश्चत्वारि । तथाऽऽयुर्बन्धाभावे सम्यग्दृष्ट्यादिष्वष्टसु मृता वैमानिकाः स्युः । बद्धायुरप्युपशमश्रेणिस्थ उपशान्तमोहो वा मृतोऽनुत्तरसुरेषूत्पद्यते, आद्यतुर्यपञ्चमषष्ठेषु मृतश्चतुर्गतिष्वपि, द्वितीये तु तिर्यङ्मनुष्येष्वेव । तथैकं जीवमाश्रित्य मिथ्यात्वस्योत्कृष्टान्तरं षट्षष्टिसागरान्, सास्वादनस्य पल्यासंख्यभागं, शेषाणां देशोनमर्धपुद्गलपरावर्त्तं । जघन्यान्तरं सर्वेषामन्तर्मुहूर्त्तं, सास्वादनस्य तु पल्यासंख्यभागः । अनेकजीवानाश्रित्य प्रतिपत्त्यपेक्षयाऽविरतादीनां त्रयाणां क्रमात्सप्तचतुर्दशपञ्चदशदिनान्, पूर्वप्रपन्नानां त्वन्तरं नाऽस्ति । उपशमश्रेणेर्वर्षपृथक्त्वं, क्षपकश्रेणेरयोगिनश्चोत्कृष्टान्तरं षण्मासान, सास्वादनमिश्रयोः पल्यासंख्येयभागमिति गुणस्थानविचारः । अत्र योऽश्रद्धानादिनाऽतिचारः २५ ।

" पन्नरसहिं परमा० " परमाश्च तेऽधार्मिकाश्च परमाधार्मिका भवनपतिविशेषाः । ' अंबे ' ' असि '

अंबे अंबरिसी चेव, सामे अ सबले इय । रुद्दोवरुद्दकाले य, महाकालेत्ति आवरे ॥ १ ॥

असिपत्ते धणुकुंभे, वालू वेयरणी इय । खरस्सरे महाघोसे, एए पन्नरसाहिया ॥ २ ॥

अंबाः १ अम्बर्षयः २ श्यामाः ३ सबलाः ४ रौद्राः ५ उपरौद्राः ६ कालाः ७ तथाऽपरे महाकालाः ८ असयः ९ पत्रधनुः १० कुम्भाः ११ वालुकाः १२ वैतरण्यः १३ खरस्वराः १४ महाघोषाः १५ एते पञ्चदश आख्याताः । अत्र चूर्णिगाथाः—" धाडिंति पहाडिंति य, हणंति विंधंति तह निसुंभंति । मुंचंति अंबरतले, अंबा खलु तत्थ नेरइये " ॥१॥ अम्बाख्याः स्वभवनाद् नरकावासं गत्वा घाटयन्ति—सारमेयानिव शूलादिभिस्तुदन्तः स्थानात्स्थानान्तरं नयन्ति, प्रघाटयन्तीतस्ततो भ्रम-

यन्ति, तथाऽम्बरतले उत्क्षिप्य पुनर्निपतन्तं मुद्गरादिना घ्नन्ति, शूलादिना विध्यन्ति, 'निसुम्भन्ती'ति ग्रीवायां गृहीत्वा भुव्यधोमुखं पातयन्त्यथोत्पाट्याऽम्बरतले मुञ्चन्ति, अम्बन्ति शब्दं कुर्वन्ति परपीडाकरण इत्यम्बाः । १ । "ओहयहए य तहियं, निस्सन्ने कप्पणीहिं कप्पंति । विदलगचडुलगछिण्णे, अंबरिसा तत्थ नेरइये" ॥ २ ॥ तत्र तेषु देवेषु मध्येऽम्बर्षिनामानस्तत्र तस्मिन्नरके नारकान्मुद्गरादिनोपसामीप्येन हतानपि पुनः खड्गादिना हतानुपहतहतान् निःसंज्ञान् मूर्च्छितान् कल्पन्या कल्पयन्ति छिन्दन्ति द्विदलानीव 'चडुलग'त्ति खण्डशः छिन्नान् कुर्युः । काऽप्यम्बरीषे भ्राष्ट्रे पवनादम्बरीषा इति । २ । "साडणपाडणतोडण–विन्धणरज्जूतलप्पहारेहिं । सामा नेरइयाणं, पवत्तयंती अपुन्नाणं" ॥ ३ ॥ श्यामाख्या अपुण्यानां नारकाणां शाटनमङ्गच्छेदं, पातनं निकुटादधो वज्रभूमौ, तोटनं शूलादिनाऽर्दनं, व्यधनं शूच्यादिना नासादिवेधं तथा रज्ज्वादिना बन्धं, तलप्रहारैर्हस्ततलाघातैः पीडां प्रवर्तयन्ति । ३ । "अंतजरफिप्फिसाणि य, हिययं कालिज्जपुप्फसे वज्झे । सबला नेरइयाणं, पवत्तयंती अपुण्णाणं" ॥ ४ ॥ अत्राऽऽन्तर्गतानि जराफिफिसानि मांसविशेषानाकृषन्ति, हृदयं पाटयन्ति, कालिज्जं हृदयान्तर्गतं मांसखण्डं तथा पुष्पसमुदरांगव्याश्रितमांसं वध्रानाकृषन्ति । एवं शबलाख्याः कर्बरवर्णा देवा नैरयिकाणां दुखं प्रवर्त्तयन्ति । ४ । "असिसत्तिकुंततोमर–सूलतिसूलेसु सूइयग्गे(इयाइ)सु । पोयंति रुद्दकम्मा, नरये पाला तहिं रुद्दा" ॥ ५ ॥ असिशक्त्यादिषु प्रहरणेषु तथा सूचिकादिषु प्रोतयन्ति । ५ । "भंजंति अंगमंगाणि उरू बाहू शिरांसि करचरणे । कप्पंति कप्पणीहिं, उवरुद्दा पावकम्मरए" ॥६॥ उपरौद्राख्याः पापकर्मरताः सन्त उरू बाहू शिरांसि करचरणानङ्गोपाङ्गानि भञ्जन्ति

१ भ्राष्ट्रपाकयोग्यान् करोतीत्यसौ अम्बरीष इति समवायांगवृत्तौ प्रवचनसारोद्धारवृत्तौ च ।

मोटयन्ति कल्पनीभिः कल्पयन्ति । ६ । “ मीरासु सुंठएसुं, कंडूसु य पयणगेसु य पयंति । कुंभीसु य लोहीसु य, पयंति
काला उ नेरइये ” ॥ ७ ॥ कालाख्या नारकान् ‘मीरासु’ दीर्घचुल्लीषु, सुण्ठकेषु दीर्घवंशादिकाष्ठाग्रेषु, कण्ड्वादिषु च पचन्ति,
‘ कण्डू ’ पचनकुम्भी, लोहीनामानो लोहपात्रभेदाः । ७ । “ कप्पंति कप्पणी मंसगाणि छिंदंति सीहपुच्छाणि । खायंति य
नेरइया, महकाला पावकम्मरए ” ॥ ८ ॥ कल्पन्या मांसानि कल्पयन्ति । ‘ कागीणीमंसगाणी ’ति पाठे श्लक्ष्णमांसखण्डानि
यथा स्युस्तथा कल्पयन्ति, सिंहपुच्छानि पृष्ठप्रदेशवर्ध्रास्तान् छिन्दन्ति, प्राग्भवे मांसाशिनो नारकान् स्वाङ्गमांसानि खादयन्ति
। ८ । “ हत्थे पाए ऊरू, बाहुशिरा नहय अंगमंगाइं । छिंदंति पगामं तु, असिनेरइया उ नेरइये ” ॥ ९ ॥ असिनामानो नैरयिका
नरकपाला नैरयिकानेवं तुदन्ति यथा हस्तादीन् शिरा नसाः प्रकामं छिन्दन्ति, तुशब्दो दुःखविशेषज्ञस्यर्थः । ९ । “ कन्नोट्ठ-
नासकरचर-णदसणतहथणयुतोरुबाहूणं । छेदणभेदणसाडण–असिपत्तधणूहि पाडिंति ” ॥ १० ॥ असिशस्त्रप्रधानाः पत्रधनुर्ना-
मानोऽसिपत्रवनं विकुर्व्य छायार्थिनस्तत्राऽऽगतान्नारकान् कर्णौष्ठादीनां तथा स्तनयुतोरुबाहूनां छेदनादि कृत्वाऽभिपाटयन्ति
निदारयन्ति, दशना दन्ताः । क्काऽपि असिपत्रा धनुषा इति नामोक्तं तत्राऽसिपत्रवनविकुर्वका असिपत्राः, धनुषा बाणान्मुक्त्वा
हन्तारो धनुषाः । १० । “ कुंभीसु य पयणेसु य, लोहीसु य कंदुलोहकुंभीसु । कुंभीयनरयपाला, हणंति पाविंति नरएसु ” ॥ ११ ॥
कुम्भिकनामानो नरकेष्वाद्येषु त्रिषु नारकान् घ्नन्ति पाचयन्ति च, क्व ? कुम्भीषु लोहिकासु, पचनकेषु तापकेषु, लोहीषु
लोहकनिछकेषु, तथा कन्दुलोहकुम्भीषु चतुःकाष्ठस्तम्भमानासु लोहकुम्भेषु लोहकोष्ठीष्वित्यर्थः । ११ । “ तडतडतडस्स
भज्जंति भज्जणे कलंबवालुया पट्ठे । वालुया नेरइया, लोलंती अंबरतलंमि ” ॥ १२ ॥ वालुकाख्या भर्जने भाजने

चनकानिव 'तडतडतडस्से'ति स्फुटतो भृज्जन्ति पचन्ति, क्व ? कदम्बाकारतप्तवालुकायाः पृष्ठे ऊर्ध्वं तथाऽम्बरतले लोलयन्ति । १२ । " वसपूयरुहिरकेस-ट्ठिवाहिणी कलकलंतजतुसोया । वेयरणिनरयवाला, णेरइए ऊ पवाहिंति " ॥ १३ ॥ वैतरण्याख्या वशापूयरुधिरकेशास्थ्नां वाहिनी नदी कलकलज्जतुश्रोताः कलकलल्लाक्षासदृशतटा याऽस्ति तस्यां क्षिप्त्वा तु पुनः प्रवाहयन्ति । १३ । " कप्पंति कक्खएहिं, कप्पंति परोप्परं परसुगेहिं । सिंबलियमारुहंती, खरस्सरा तत्थ नेरइये " ॥ १४ ॥ खरस्वराः क्रकचैः करपत्रैः कल्पयन्ति परस्परं पर्शुभिः कुठारैः कल्पयन्ति, वज्र-कण्टकयुक्तं शाल्मलीतरुमारोहयन्ति । १४ । " भीए य पलायंती, समंतओ तत्थ ते निरुंभंति । पसुणो जहा पसुवहे, महघोसा तत्थ नेरइये " ॥ १५ ॥ तत्र नरके तान् नारकान् भीतान् पलायमानान् तत्र तेषु परमाधार्मिकेषु महा-घोषाः समन्ततो निरुन्धन्ति यथा पशुवधे पशवो रुध्यन्ते । १५ । " परमाधार्मिका नामानुरूपान्वर्था ज्ञेयाः, श्यामकालमहा-कालवर्णानुरूपाऽभिधा । तथा लोष्टपीपणवज्रतुण्डरथवाहनवज्रमयाराव्यथनतप्तत्रपुपानाग्निवर्णपुत्रिकाश्लेषणादिदुःखकर्तारः सर्वेऽपि परमाधार्मिका घटन्ते । अत्र येषु परमाधार्मिकत्वं स्यात् तेषु स्थानेषु वर्तितमित्याद्यतिचारस्य मिथ्यादुष्कृतं २६ ।

'सोलसहिं०' षोडशभिर्गाथाख्यं षोडशमध्ययनं येषां तैर्गाथाषोडशकैस्सूत्रकृताद्यश्रुतस्कन्धाध्ययनैः 'सम'

समयो वेयालीयं, उवसग्गपरिण्णथीपरिण्णा य । निरयविभत्तीवीरत्थओ य, कुसीलाण परिहासा ॥ १ ॥

समयः १ वैतालीयं २ उपसर्गपरिज्ञा ३ स्त्रीपरिज्ञा ४ निरयविभक्तिः ५ वीरस्तवः ६ कुशीलपरिभाषा ७ । 'वीरि'

वीरियधम्मसमाही, मग्गसमोसरणं अहतहं गंथो । जमईयं तह गाहा—सोलसमं होइ अज्झयणं ॥ २ ॥

वीर्यं ८ धर्मः ९ समाधिः १० मार्गः ११ समवसरणं १२ महातपः १३ ग्रन्थः १४ यदतीतं १५ गाथा १६। अत्र क्रमेण
स्वान्यसमयप्ररूपणा १ वैतालीयछन्दसा श्रीऋषभोक्तनवनवतिसुतोपदेशः २ उपसर्गव्याख्या ३ स्त्रीदोषः ४ नरकप्ररूपणा ५
श्रीवीरस्तुतिः ६ कुशीलसाधुविचारः, बालपण्डितवीर्यद्वयं ८ यतिधर्माख्यानं ९ अप्रमत्तयतिसमाधिः १० यतिमार्गः ११
'असीइसयं किरियाणमि' त्यादित्रादिचतुष्कमतं १२ शिष्यगुणदोषकथनं १३ गुरुकुलवासः १४ कर्मादानाद्याख्यानं १५
चारित्रप्रतिष्ठाख्यानं १६, क्रमादर्थाः षोडशस्वपि ज्ञेयाः। एष्वश्रद्धानादिना योऽतिचारः २७। 'सत्तर०' सप्तदशविधेऽसंयमे
सति योऽतिचारस्तस्य मिथ्यादुष्कृतं, तत्र 'पुढ'

पुढविदगअगणिमारुयवणस्सइ-बितिचउपणिंदिअजीवो। पेहुप्पेहपमज्जणपरिट्ठवणमणोवईकाए ॥ १ ॥

पृथ्व्युदकाग्निमारुतवनस्पतिद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रियाणां जीवानां मनोवाक्कायैः संरम्भसमारम्भारम्भवर्जनमि-
ति नवधा जीवसंयमस्तत्र मनोवाक्कायैरारम्भसंकल्पः संरम्भः, तत्र वाचा संकल्पो वाचाऽऽरम्भभाषणं, कायेन संकल्पस्तथा चेष्टा-
करणेन। तथा मनोवाक्कायैः परितापकरणं समारम्भ उच्यते। तत्र मनसा परितापचिन्तनं परितापकरणं। तथा मनोवाक्कायैर्हिंसा
आरम्भ उच्यते। तथाऽजीवे संयमः, एवं दशधा संयमः। तथा प्रेक्षा ११ उपेक्षा १२ प्रमार्जना १३ परिष्ठापन १४ मनो १५ वचः
१६ कायेषु १७ संयमः, सप्तदशधा स्यात्। अथ क्षेपकगाथाः–'पुढवाइयाण जाव य पंचिंदिय संजमो भवे'। पृथ्व्यादीनां
पृथ्व्युदकाग्न्यादीनां, पञ्चेन्द्रियान् यावत्, संयमो भवेत्, कथं? 'तेसिं संघडणाई, न करे तिविहेण करणजोएणं'। १। त्रिवि-
धेन करणानां योगेन व्यापारेण तेषां संघट्टनादि न कुर्यात्, एष नवधा संयमः। 'अजीवेहिं जेहिं गहिएहिं असंयमो

भणिओ य ' यैरजीवैर्वस्तुभिरेजालवज्ञादिभिर्द्रव्येण वा गृहीतैरसंयमो भणितः । ' तह पुत्थदुस्सपणए तणपणए चम्मपणए य ' । २ । तथा पुस्तकपञ्चके दूष्यपञ्चके तृणपञ्चके चर्मपञ्चके च गृहीतेऽसंयमः स्यात् तद्वर्जने च संयमस्तत्र ' गंडी १ कच्छवि २ मुट्ठी ३, संपुडफलगे ४ तहा छिवाडी य ५ ' । गण्डीपुस्तकः १, कच्छपीपुस्तकः २ मुष्टिपुस्तकः ३ सम्पुटकफलकः ४ छेदपाटीपुस्तकः ५ । ' एयं पुत्थयपणगं, पन्नत्तं वीयरागेहिं ' । ३ । ' बाहल्लपुहत्तेहिं, गंडीपुत्थो य तुल्लओ दीहो ' गण्डीपुस्तको बाहल्यं पिण्डः पृथुत्वं विस्तारस्ताभ्यां तुल्यो दीर्घश्च स्यात् १ । ' कच्छवि अंते तणुओ, मज्झे पिहुलो मुणेयव्वो ' । ४ । कच्छपीपुस्तक उभयोः पार्श्वयोरन्ते तनुकः सूक्ष्मो मध्ये पृथुलोऽल्पबाहुल्यश्च । ' चतुरंगुलदीहो वा, वट्टागिइ मुट्ठिपुत्थओ अहवा । चउरंगुलदीहच्चिय, चउरंसो होइ विन्नेओ ' ॥५॥ मुष्टिपुस्तकश्चतुरङ्गुलमानो दीर्घो वा वृत्ताकृतिर्वृत्ताकारोऽथवा चतुरङ्गुलदीर्घ एव चतुरस्रश्चतुष्कोणो विज्ञेयो भवति ३ । ' संपुडगो दुगमाई फलगा ' द्व्यादयो द्वौ त्रय इत्यादयः फलका यत्र स्युः स सम्पुटपुस्तकः ४ । ' वुच्छं छिवाडि इत्ताहे । तणुपत्तूसियरूवो होइ छिवाडी बुहा बिंति ' ॥६॥ इदानीं छेदपाटीपुस्तकं वक्ष्यते, तनुपत्रैः कृशैः पत्रैः स्तोकैः पत्रैर्वा उच्छ्रितरूपच्छेदपाटी भवति । बुधाः सर्वज्ञा ब्रुवन्ति । अथवा ' दीहो वा हस्सो वा, जो पिहुलो होइ अप्पबाहुल्लो । तं मुणियसमयसारा छिवाडिपोत्थं भणंतीह ' । ७ । दीर्घो वा ह्रस्वो वा यः पृथुलो विस्तृतोऽल्पबाहुल्यो भवति तं ज्ञातसमयसारा ज्ञातसिद्धान्ततत्त्वा हु निश्चितं छिवाडिपुस्तकं भणन्ति ५ । अधुनादृश्यमानपुस्तका एष्वेव पुस्तकेष्वन्तर्भवन्ति । उत्सर्गेण यतीनां पुस्तका अकल्प्या यतः—' जइ तेसिं जीवाणं, तत्थ गयाणं तु सोणियं हुज्जा ' । यदि तेषां कुन्थ्वादीनां जीवानां तत्र पुस्तके गतानां स्थितानां देहे शोणितं स्यात् । ' पीलिज्जंते धणियं, गलिज्ज तं अक्खरे

फुसिउं ' । ८ । ' घणियम 'त्यर्थं पीड्यमानेषु तच्छोणितमक्षराणि ' फुसिउं ' मार्जित्वा गलेत । अपवादतो ग्रहणेऽपि संयमो यतः–' दुप्पडिलेहियदूसं, अद्धाणाई विवच गेण्हंति ' । दुःप्रतिलेखितदुष्यमध्वादिषु विविक्ताः कारणे गृह्णन्ति । ' घेप्पइ पुत्थयपणगं, कालियनिज्जुत्तिकोसट्ठा ' । ९ । पुस्तकपञ्चकं कालिकसूत्रनिर्युक्तिकोशार्थं गृह्यते । अतः पुस्तकादीनि चत्वार्यपि प्रज्ञादिहीनतामपेक्ष्य प्रतिलेखनादिपूर्वं यतनया धारयतोऽजीवसंयमः । ' दुविहं च दूसपणगं, समासओ तंपि होइ नायव्वं । अप्पडिलेहियपणगं, दुप्पडिलेहं च विन्नेयं ' । १० । सर्वथा प्रतिलखितुमशक्यान्यप्रतिलेख्यानि, न सम्यक् प्रतिलेखयितुं शक्यानि दुःप्रतिलेख्यानि वस्त्राणि, तेषां पञ्चकं, अप्रतिलेख्यं दुःप्रतिलेख्यं च वस्त्रपञ्चकं विज्ञेयं । ' अप्पडिलेहिय दूसे तूली उवहाणगं च नायव्वं । गंडुवहाणालिंगिणि मसूरए चेव पोत्तमए ' ॥ ११ ॥ अप्रतिलेख्यदुष्याणि यथा ' तूली '- रुताकतूलादिभृता तूलिका १, ' उवहाणगं ' हंसरोमादिभृतमुच्छीर्षकं २, ' गंडुवहाण ' गल्लप्रदेशे यद्दीयते तद्गण्डोपधानं ३ । ' आलिंगिणि ' या जानुकूर्परादिषु दीयते ४, ' मसूरए चेव पोत्तमए ' वस्त्रमयमासनं चाउरिनाकं मसूरकः ५ । ' पल्हवि १, कोयव २, पावार ३, नवतए ४, तह य दाढिगाली य ५ । दुप्पडिलेहियदूसे, एयं बीयं भवे पणगं ' । ११ । एतानि पञ्च दुःप्रतिलेख्यदूष्याणि । ' एयं बीयं भवे पणगं ' एतद् द्वितियं पञ्चकं भवेदेषां पञ्चानां व्याख्या–' पल्हवि हत्थुत्थरणं ' पल्हवि हस्त्यास्तरणं खरडको (?) ये चाऽन्य आस्तरकादयोऽल्पबहुरोमयुक्तास्ते सर्वेऽप्यत्राऽन्तर्भवन्ति १, ' कोयवओ रूगपूरिओ पडओ ' । ' कोयवो ' रूतपूरितः पटः स माणकीतिनामकः, नेपालकम्बलादयोऽत्राऽन्तर्भवन्ति २, ' दाढिगालि- धोयपोत्ती ' द्वितन्तुपोतिर्दोरीकजातिर्दाढिगालि कथ्यते ५, ' सेस पसिद्धा भवे भेया ' । १२ । शेषौ भेदौ प्रसिद्धौ, तत्र प्रावारा

दोटीप्रमुखाः कील्लकादि च परियत्थिर्वा ३, नवतकं जीणमुच्यते ४ । ' तणपणगं पुण भणियं, जिणेहिं जियरागदोसमोहेहिं । साली १, वीही २, कोद्दव ३, रालगरण्णे तणाइं च ' । १३ । तृणानि रालका कङ्गुः ४, ' रण्णे तणाइं च ' अरण्यतृणानि श्यामकादीनि ५ । चर्मपञ्चकं द्विभेदं स्यात्, द्वयमप्याह–' अयएडल्लगाविमहिसी मिगाणमजिणं च पंचमं भणियं । तलिगा खलग वद्धे, कोसग कत्तीय बीयं तु ' ।१४। 'अय' अजः १, 'एडल्ल' एडकः २, 'गावि' गौः ३, 'महिसी' महिषी ४, एषां चर्म, तथा 'मिगाणमजिणं च पंचमं भणियं' मृगाणां चर्माऽजिनमिति नामकं पञ्चमं भणितं, तथा 'तलिगा' तलीयकानि १, 'खल्लग' उपानह २, 'वद्धे' वध्रा ३, 'कोसग' कोशकं खोभलकं ४, 'कत्तीय' कत्तिश्चर्म मार्गे दवाग्निरक्षाद्यर्थं ५, 'बीयं तु' द्वितीयं पञ्चकमुत्सर्गेणैषां परिहारेऽपवादे तु ग्रहणे संयमः । ' तह वियडहिरण्णाई ताइं न गिण्हइ असंजमो माहू । ठाणाइ जत्थ चेए पेहपमज्जित्तु तत्थ करे ' ।१५। विकटं मुक्तादि हिरण्यादि च, 'ताइं न गेण्हइ असंजमो माहू' मा भवत्वसंयमः, उक्तोऽजीवसंयमः । 'ठाणाइ जत्थ चेए' स्थानं कायोत्सर्गादावूर्ध्वस्थानं यत्र स्थाने चेतयेद्वेदयेच्चिन्तयेद्वा 'पेहपमज्जित्तु तत्थ करे' तत्र चक्षुषा प्रेक्ष्य रजोहरणादिना प्रमार्ज्य कुर्यात्। 'एसा पेह उवेहा दुविहा पुण सा होइ नायव्वा। वावारावावारे वावारे जह उ गामस्स ।१६। एसो उवेक्खगो हू अव्वावारे जहा विणस्संतं । किं एयं उवेक्खसि दुविहाए एत्थ अहिगारो' ।१७। एष प्रेक्षासंयमः । अथोपेक्षासंयमो ' उवेहा दुविहा पुण सा वि होइ नायव्वा ' सोपेक्षाऽर्थतो द्विविधा ज्ञातव्या भवति । ' वावारावावारे ' व्यापारेऽव्यापारे चार्थे स्यात् । व्यापारेऽर्थे उपेक्षा यथा ग्रामस्यैष उपेक्षक इति लोको वक्ति कोऽर्थो ग्रामस्य व्यापारकर्त्तेत्यर्थः । ' अव्यापारेऽर्थे उपेक्षा यथैतद्विनश्यत् किमुपेक्षसेऽत्र व्यापारं न कुरुष इत्यर्थः। अत्रोपेक्षासंयमे द्विविधयाऽप्युपेक्षयाऽधिकारः ।

किं एयं तु उवेक्खसि ' अन्यापारेऽर्थे उपेक्षा यथैतद्विनश्यत् किमुपेक्ष्यसेऽत्र व्यापारं न कुरुष इत्यर्थः । ' दुविहाए एत्थ अहिगारो ' अत्रोपेक्षासंयमे द्विविधयाऽप्युपेक्षयाऽधिकारः । ' वावारोवेक्ख तहिं संभोइय सीयमाण चोएइ । चोएइ इयरंपि य पावणीयम्मि कज्जंमि ' । १८ । तत्र व्यापारोपेक्षा यथा ' संभोइय सीयमाण चोएइ ' साम्भोगिकं समानसामाचारीकं साधुं संयमे सीदन्तं नोदयति प्रेरयति न त्वसांभोगिकं भिन्नसामाचारीकं । ' चोएइ इयरंपि य पावयणीयम्मि कज्जंमि ' इतरमसाम्भोगिकमपि प्रावचनीये कार्ये संघकार्ये नोदयति । ' अव्वावार उवेक्खा, नवि चोएइ गिहत्थं सीयंतं । कम्मेसु बहुविहेसु य संजम एसो उवेक्खाओ ' । १९ । अन्यापारोपेक्षा त्वेवं ' न वि चोएइ गिहत्थं सीयंतं कम्मेसु बहुविहेसु य ' गृहस्थं बहुविधेष्वपि सावद्यकर्मसु सीदन्तं न नोदयति । ' संजमए सो उवेक्खाओ ५ एष द्विधोपेक्षासंयमः । ' पायाई सागरिए, अपमज्जित्तावि संजमो होइ ' । सागारिकेऽपरिणतधर्मे जने पश्यति पादादि क्रमादि स्थण्डिलादस्थण्डिलसंक्रमणे सचित्ताचित्तमिश्ररजोऽपनयनार्थं रजोहरणेनाऽप्रमार्ज्याऽपि संयमो भवति । ' ते चेव पमज्जंते, असागारिए संजमो होइ ' । २० । तौ चैव पादावेव प्रमार्जतोऽसागारिके सागारिकरहितस्थाने संयमः स्यादेष प्रमार्जनासंयमः । ' पाणेहिं संसत्तं, भत्तं पाणमहवावि अविसुद्धं । उवगरणभत्तमाई, जं वा अइरित्त हुज्जाहि ' । २१ । प्राणैस्त्रसैर्जीवैः संसक्तं भक्तं पानमधिकाराच्चलितं वा भक्तं पानमथवाऽविशुद्धं भक्तं पानमथवोपकरणं वस्त्रपात्ररूपं भक्तादि च यद्यदधिकं भवेत् । ' तं परिठवे विहीए अवहारसंजमो भवे एस ' तदुपकरणं भक्तादि सिद्धान्तोक्तविधिना परिष्ठापयेत्, अपहारः परिष्ठापनं तत्संयम एष भवेत् परिष्ठापन-

१ अपहृत्यसंयम इति हारि० वृत्तौ ।

1,

संयम इत्यर्थः । 'अकुसलमणवयरोहे, कुसलाण उदीरणं जं च' ।२२। अकुशलयोः सपापयोर्मनोवचसो रोधे कुशलयोः पुण्ययोरुदीरणं प्रवर्तनं । ' मणवयसंजम एसो, काए पुण जं अवस्स कज्जंमि । गमणागमणं हवइ, तं उवउत्तो कुणइ सम्मं ' । २३ । मनोवचसोः संयम एष मनःसंयमवाक्संयमावित्यर्थः । काये पुनस्तं संयमं वदन्ति यथाऽवश्यकार्ये गमनागमनं भवति, तद्द्वयं सम्यगुपयुक्तः करोति । ' तवज्जं कुम्मस्सव सुसमाहियपाणिपायकायस्सा ' हवइ काइयसंजमो, चिट्ठंतस्सेव साहुस्स ।२४। तद्वर्जं गमनागमनवर्जं कूर्मस्येव सुष्ठु समाहिताः, समाधिभाजो गुप्ता इत्यर्थः, पाणिपादकाया यस्य तस्य सुसमाहितपाणिपादकायस्य तिष्ठत एव साधोः कायिकसंयमो भवति । एवं सप्तदशधा संयमो व्याख्यातो विपरीतस्तु सप्तदशविधोऽसंयमस्तस्याऽऽचरणेनाऽतिचारस्तस्य मिथ्यादुष्कृतं २८। ' अट्ठारसविहे अंबंभे '–अष्टादशविधेऽब्रह्मणि कृतो योऽतिचारस्तत्र ' अउ '

अउरालियं च दिव्वं मणवइकाएण करणजोएणं । अणुमोयणकारवणे, करणेणऽट्ठारसाबंभं ॥ १ ॥

औदारिकमब्रह्म मैथुनं नृतिरश्चोः १ तथा दिव्यं देवसम्बन्धिमैथुनं २, प्रत्येकं मनोवाक्कायरूपकरणानां योगेन व्यापारेणैकैकशोऽनुमोदनया कारणेन करणेनेति त्रिभिर्भङ्गैस्त्रयाणां गुणने नवभेदा यथा मनसा न करोति १ न कारयति २ कुर्वन्तं नानुऽमन्यते ३, एवं वाचा न करोतीत्यादि ३, एवं कायेन न करोतीत्यादि ३, एवं नव भङ्गा औदारिकेऽब्रह्मणि नव च दिव्येऽब्रह्मणि, इत्यष्टादशधाऽब्रह्म २९ । ' एगूणवी० ' ज्ञाताधर्मकथाध्ययनैर्ज्ञातैरुदाहरणैर्धर्मकथा विद्यते यत्र तज्ज्ञातकथाङ्गं त्रिश्वामित्रसमासवदाकारस्तस्याद्यश्रुतस्कन्धाध्ययनैर्नामतुल्याभिधेयैः । ' उक्खि ' ' दाव '

उक्खित्तणाए संघाडे, अंडे कुम्मे य सेलए । तुंबे य रोहिणी मल्ली, मागंदी चंदिमा इय ॥ १ ॥

दावद्दवे उदगणाए, मंडुक्के तेयली इय । नंदिफले अवरकंका, ओयन्ने सुंसु पुंडरिया ॥ २ ॥

उत्क्षिप्तज्ञातं १ संघाटं २ अण्डं ३ कूर्मं च ४ शैलकं ५ च तुम्बं ६ रोहिणीनामकं ७ मल्लीनामकं ८ माकन्दीनामकं ९ चन्द्रमोनामकं १० 'दावद्दव' इति समुद्रतटवृक्षस्तन्नामकं ११ उदकज्ञातं १२ मण्डूकं १३ तैतलीयं १४ नन्दीफलं १५ अपरकङ्कानामकं १६ आकीर्णं १७ सुंसुमाख्यं १८ पुण्डरीकं १९, एतान्येकोनविंशत्यध्ययनानि, तत्र क्रमान्मेघकुमारप्राग्भवहस्तिस्वपदोत्क्षेपादिकथन १ धनावहश्रेष्ठिविजयचौरैकत्रबन्धनरूपं संघाट २ मयूर्यण्डक ३ कूर्मदृष्टान्त ४ शैलकसूरिकथा ५ तुम्बदृष्टान्त ६ रोहिणीदृष्टान्त ७ मल्लिचरित ८ माकन्दीवणिग्जिनरक्षितजिनपालितदृष्टान्त ९ चन्द्रदृष्टान्त १० अब्धितटद्रुमदृष्टान्त ११ उदकदृष्टान्त १२ दर्दुराङ्कसम्बध १३ तैतलिसुतकथा १४ नन्दीफलाख्यविषवृक्षदृष्टान्त १५ कृष्णापरकङ्कागति १६ अश्ववन्यार्थपञ्चविषयदृष्टान्त १७ सुंसुमाकन्यावधादि १८ पुण्डरीककण्डरीकदृष्टान्ता १९ ध्यनेष्वर्था ज्ञेयास्ते च श्रीवीरोक्ता अन्तरङ्गे प्रायः सर्वे योजिताः सन्ति २० । 'वीसाए असमाहिठाणेहिं' 'दव' 'संज' 'सस'

दवदववचारऽपमज्जिय, दुपमज्जियऽइरित्तसिज्जआसणिए । राइणियपरिभासिय, थेरव्भूओवघाई य ॥ १ ॥

संजलणकोहणो पिट्ठिमंसिएऽभिक्खऽभिक्खमोहारी । अहिकरणकरोईरण, अकालसज्झायकारी या ॥ २ ॥

ससरक्खपाणिपाए, सद्दकरो कलहझंझकारी य । सूरप्पमाणभोती, वीसइमे एसणासमिए ॥ ३ ॥

द्रुतद्रुतचारी शीघ्रं निरपेक्षो गच्छन् पतनादिना स्वमन्यजीवांश्चाऽसमाधौ योजयति परभवे चाऽधोगतिं गतोऽसमाधिं लभत, एवं 'दवदवभापी, दवदवभोई, दवदवपडिलेहे' इत्यादि, एवमग्रेऽपि ज्ञेयं १, अप्रमृज्य स्थानादि कुर्वन् वृश्चिकादिना

दृश्यते दुर्गतिं च यायात् २, एवं दुःप्रमृज्यादि कुर्वतः ३, अतिरिक्तशय्यासनः शय्यासनाभिग्रहरहितः ४, रात्निकानां पर्यायवृद्धानां परिभाषी दुष्टभाषकः ५, स्थविरोपघाती स्थविरान् गुरून् ज्ञानाद्यतिरेकेणोपहन्ति दूनयतीत्यर्थः ६, भूतोपघात्येकेन्द्रियविराधकः ७, संज्वलनः पदे पदे रुष्यन् ८, क्रोधनोऽत्यन्तं क्रुध्यात् ९, पृष्ठिमांसाशी पृष्ठमांसभक्षकः पृष्ठौ परदोषवक्ता १०, अभीक्ष्णमभीक्ष्णमवधारी अवधारिणीभाषावानिदमित्थमेवेति वदन् ११, अधिकरणकरो दुर्वचनभाषको यथा 'त्वं चौर' इत्यादि वक्ति, अधिकरणहेतुयन्त्रादिप्रवर्त्तको वा १२, उदीरणो निवृत्तस्य कलहस्य प्रवर्त्तकः १३, अकालस्वाध्यायकारी १४, सरजस्कपाणिपादः सचित्तरजोयुक्तपादौ स्थण्डिलादस्थण्डिलं संक्रामन्न प्रमार्ष्टि, सचित्तरजोयुक्तपाणिर्भिक्षां लाति १५, शब्दकरो निशीथे गाढशब्दकरः १६, कलहकरः कलहहेतुवाक्यवक्ता १७, द्वन्द्वकारी गच्छस्य विभेदहेतुवाक्यवक्ता १८। सूर्यप्रमाणभोजी सर्वदिनं भुङ्क्ते स्वाध्यायादि च न कुरुते १९, विंशतितम एषणाऽसमितः २०। एतेऽसमाधिस्थानवन्तः साधव एव उक्ताः, एषां करणीयानीहपरभवासमाधिहेतुत्वेनाऽसमाधिस्थानानि ज्ञेयानि २०, यथा द्रुतद्रुतचारी १ अप्रमार्जितस्थानादि २ दुःप्रमार्जितस्थानादि ३ इत्यादि । ३१ ।

एगवीसाए सबलेहिं, बावीसाए परीसहेहिं, तेवीसाए सूयगडज्झयणेहिं, चउवीसाए देवेहिं, पंचवीसाए भावणाहिं छव्वीसाए दसाकप्पववहाराणं उद्देसणकालेहिं, सत्तवीसविहे अणगारगुणेहिं, अट्ठावीसइविहे आयारप्पकप्पे, एगूणतीसाए पावसुयपसंगेहिं, तीसाए मोहणियठाणेहिं, एगतीसाए

सिद्धाइगुणेहिं, बत्तीसाए जोगसंगहेहिं ( सूत्रं )

'एगवीसाए सबलेहिं' चारित्रस्य शबलतायाः कर्बुरताया हेतुत्वात् क्रियाविशेषा अपि शबला उच्यन्ते, एकविंशत्या शबलैर्योऽतिचारस्तस्य मिथ्यादुष्कृतं, तद्यथा

मं जह उ हत्थकम्म, कुव्वंते मेहुणं च सेवंते । राइं च भुंजमाणे, आहाकम्मं च भुंजंते ॥ १ ॥ तत्तो य रायपिंडं, कीयं पामिच्च अभिहडं छेज्जं । भुंजंते सबले ऊ पच्चक्खियऽभिक्खभुंजइ य ॥ २ ॥ छम्मासब्भंतरओ गणागणं संकमं करेंते य । मासब्भंतर तिण्णि य, दगलेवा ऊ करेमाणो ॥ ३ ॥ मासब्भंतरओ वा माइ—ठाणाइं तिन्नि करेमाणे । पाणाइवायउट्टिं, कुव्वंते, मुसं वयंते य ॥ ४ ॥ गिण्हंते य अदिण्ण आउट्टि तह अणंतरहियाए । पुढवीय ठाणसेज्जं निसीहियं वावि चेतेइ ॥ ५ ॥ एवं ससणिद्धाए ससरक्खाचित्तमंतसिल्लेलु । कोलावासपइट्ठा, कोल घुणा तेसि आवासो ॥ ६ ॥ संडसपाणबीओ, जाव उ संताणए भवे तहियं । ठाणाइ चेयमाणो, सबले आउट्टिआए उ ॥ ७ ॥ आउट्टि मूलकंदे, पुफे य फले य बीयहरिए य । भुंजंते सबलेए, तहेव सवच्छरस्संतो ॥ ८ ॥ दस दगलेवे कुणं तह माइट्ठाण दस य वरिसन्तो । आउट्टिय सीउदगं, वग्घारियहत्थमत्ते य ॥ ९ ॥ दव्वीए भायणेण व, दीयंतं भत्तपाण घेत्तूणं । भुंजइ सबलो एसो, इगवीसो होइ नायव्वो ॥ १० ॥

तद्यथा—हस्तकर्म हस्तेन शिश्नचालनकर्म स्वयं कुर्वन् परेण वा कारयन् शबलः १, मैथुनमतिक्रम १ व्यतिक्रम २ अतिचारैः ३ मालम्बनो वा सेवमानः शबलः २, रात्रौ भुञ्जानः ३, आधाकर्म भुञ्जानः ४, ततो राजपिण्डं ५ क्रीतं ६ प्रामित्यमुद्धारेणात्तं ७ अभ्याहृतं स्वपरग्रामाद्यानीतं ८ आच्छेद्यमुद्दाल्य दत्तं भुञ्जानः

शबलः ९, प्रत्याख्याय नियमं गृहीत्वा भिक्षां भुञ्जीत यः साधुः स शबलः १०, षण्मासान्तर्गणात् स्पर्धकात् गणं स्पर्धकान्तरं संक्रमं कुर्वन् ११, मासान्तस्त्रीन् दकलेपान् कुर्वाणस्तत्र जङ्घाया अर्धे जले गाह्यमाने संघट्ट उच्यते, नाभिमात्रे जले लेपो, नाभेरुपरि जले गाह्यमाने लेपोपरिः कथ्यते, तथा मासान्तस्त्रीण्यपराधप्रच्छादनरूपाणि मायास्थानानि कुर्वन् १२, प्राणातिपातस्य सूक्ष्मप्राणातिपातस्य आकुट्टिं उपेत्य करणं कुर्वन् १३, मृषावदंश्च १४, अदत्तं गृह्णन्नाकुट्ट्योपेत्य १५, अनन्तरहितायां सचित्तायां पृथ्व्यां स्थानं कायोत्सर्गं शय्यां स्वापं नैषेधिकीं स्थितिं वा चेतयत्यनुभवति १६, एवं सस्निग्धायां जलस्निग्धायां सरजस्कायां 'चित्तमंते'ति सचित्तायां शिलायां सचित्तलेष्टौ स्थानं शय्यादि कुर्वन् १७ कोलावासप्रतिष्ठायां शबलः, एतदेव व्याख्याति–कोला घुणाख्यजीवास्तेषामेव वासः स्थानं काष्ठादि तत्र प्रतिष्ठां स्थानं कुर्वन्। साण्डे सप्राणे त्रसजीवसहिते सबीज एवं यावत्सन्तानकं भवेत्, कोऽर्थः 'बीयक्कमणेऽग्रतो यावत् संताणासंकमणे' पदमुक्तं तावदन्तरा यत्पदमस्ति 'हरियक्कमणे' इत्यादि, तैर्हरितावश्यायादिभिः मन्तानकान्तैः सहितः प्रदेशस्तत्र स्थानं शय्यां नैषेधिकीं वा चेतयेत् साधुः परमाकुट्ट्योपेत्यकरणेन, न तु प्रमादकल्पाभ्यां शबलः स्यात् १८ आकुट्ट्या सचित्तान् मूलकन्दपुष्पफलबीजहरितान् भुञ्जानः शबलः १९ तथैव संवत्सरस्याऽन्तोदकलेपान् दश कुर्वन् तथा वर्षान्तर्मायास्थानानि दश कुर्वन् २० आकुट्ट्या शीतोदकेन सचित्तोदकेन 'वग्घारिय'त्ति गलता हस्तमात्रेण हस्तेनेत्यर्थः, दर्व्या भाजनेन च दीयमानं भक्तं पानं गृहीत्वा भुङ्क्ते, एष शबलः कर्बुरचारित्र एकविंशो ज्ञातव्यो भवति २१। पाठान्तरं वा, 'वरि' 'निसि' 'सचि'

वरिसंतो दस मासस्स, तिन्नि दगलेवमाइठाणाइं। आउट्टिया करेंतो, वहालियादिण्णमेहुणे ॥ १ ॥

निसिभत्तकम्मनिवपिंड, कीयमाई अभिक्खसवरिए। कंदाई भुंजंते उदउल्लहत्थाइ गहणं च ॥ २ ॥

सचित्तसिलाकोले, परविणिवाई ससिणिद्ध ससरक्खो। छम्मासंतो गणसंकमं च, करकंममिइ सबले ॥ ३ ॥

वर्षान्तर्दश मासस्य मध्ये त्रीनुदकलेपान् तथा वर्षान्तर्दश मासान्तस्त्रीणि च मायास्थानानि कुर्वन्, एवं ४ शबलाः, वध ५ अलीक ६ अदत्त ७ मैथुनान् ८, निशाभक्त ९ आधाकर्म १० नृपपिण्ड ११ क्रीतादीन् कीतप्रामित्याभ्याहृताच्छेद्यदोषानत्ति अदन् १२–१३ 'संवरिए' संवृत्य प्रत्याख्यायाऽदन् १४, सचित्तकन्दादिकं कन्दपुष्पफलबीजादि भुञ्जानस्तत्संघट्टितवस्तु भुञ्जानोऽपि १५, सचित्तोदकार्द्रहस्तादिना ग्रहणं कुर्वन् १६, सचित्तशिलायां १७, कोलयुक्तकाष्ठे १८, अचिरायामचिरकालं खातायां सचित्तायामित्यर्थः अवन्यां पृथ्व्यां स्थानं कायोत्सर्गं निसीदनमुपवेशं त्वग्वर्त्तनं स्वापं कुर्वन् १९। षण्मासान्तगणसंक्रमं कुर्वन् २०, क्रूरकर्म कुर्वन्निति क्रूरकर्माणि कुर्वन्तः साधवः शबलचारित्राः स्युः। शबलत्वहेतुत्वेन तद्वंतवो दकलेपाद्या उपचाराच्छबला उच्यन्ते ३२। 'बावीसाए परिसहेहिं' द्वाविंशत्या परीषहैरसोढैर्योऽतिचारस्तत्र 'खुहा' 'अला'

खुहा पिवासासीउण्ह, दंसाचेलारइत्थिओ। चरियानिसीहिया सेज्जा अक्कोस वह जायणा ॥ १ ॥

अलाभरोगतणफासमलसक्कारपरीसहा। पण्णा अण्णाणसंमत्त इइ बावीस परीसहा ॥ २ ॥

सम्यग्दर्शनादिमार्गाच्यवनार्थं ज्ञानावरणीयादिकर्मनिर्जरार्थं च परि समन्तादापतन्तः क्षुत्पिपासादयो द्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षाः सह्यन्त इति परीषहास्ते च क्षुधा १, पिपासा २, शीतं ३, उष्णं ४, दंशाः ५, अचेलता ६, अरतिः ७, स्त्रियः ८, चर्या ९, नैषेधिकी १०, शय्या ११, आक्रोशः १२, वधः १३, याच्ञा १४, अलाभः १५, रोगः १६, तृणस्पर्शः १७,

मलः, १८, सत्कारः १९, प्रज्ञा २०, अज्ञानं २१, सम्यक्त्वं २२, परीषहाः। तत्रोदरांत्रदाहिनीं क्षुद्वेदनामुदितामागमविधिना शमयतोऽनेषणीयं च परिहरतः क्षुत्परीषहजयः स्यात् १। एवं पिपासा तृष्णा तत्परीषहोऽपि २, शीतेऽत्यर्थमपि पतति जीर्णवस्त्रपरित्राणवर्जितो नाऽकल्प्यवस्त्राण्यादत्ते परिभुङ्क्ते वाऽग्निसेवां न ध्यायतीति शीतपरीषहजयः ३, उष्णतप्तो न जलावगाहनछायास्नानव्यजनवातादि वाञ्छति, न चाऽऽतपत्राद्युष्णत्राणायाऽऽदत्त उष्णं सम्यक् सहेतेत्युष्णपरीषहजयः ४, दंशा इति दंशमशकयूकामत्कुणादिभिर्दश्यमानोऽपि न तत्स्थानं मुञ्चेत्तदपनयनार्थं न यतेत, न च व्यजनादिना निवारयेदिति दंशपरीषहजयः ५, अमहाधनमूल्यखण्डितजीर्णवासांसि धारयेन्न च दैन्यं कुर्यादित्यचेलकपरीषहजयः ६, विहरतस्तिष्ठतो वाऽरतावुत्पन्नायां सम्यग्धर्मारामरमणेनाऽरतिपरीषहजयः ७, स्त्रीणामङ्गोपाङ्गहसितादि न ध्यायेन्न च तासु चक्षुर्निवेशयेत् कामधियेति स्त्रीपरीषहजयः ८ वर्जितालस्यो ग्रामादिकुलादिष्वनियतवसतिर्निर्ममत्वः प्रतिमासं विहरेदिति चर्यापरीषहजयः ९, नैषेधिकी स्वाध्यायभूस्तत्र श्मशानवृक्षमूलादिषूपविष्टस्य पश्चाद्भाविन इष्टानिष्टोपसर्गान् सम्यक् सहतो निषद्यापरीषहजयः १०, शय्या वसतिस्तत्र स्त्र्यादिरहितवसतिं भव्यामशुभां वा तथा शय्यां संस्तारकं मृदुं खरं वोच्चावचां भूमिं वा पांशूत्करं शिशिरं बहुघर्मकं वा प्राप्य न रज्येत नोद्विजेच्चेति शय्यापरीषहजयः ११, आक्रोशं दुर्वाक्यं श्रुत्वा सत्येतरालोचनया शान्तिराक्रोशपरीषहजयः १२, पाष्ण्यादिप्रहारे देहावयवस्य विध्वंसिताऽचिन्तया कृतकर्मफलचिन्तया च सहने वधपरीषहजयः १३, प्रागल्भ्यभाजा साधुना कार्ये जाते स्वधर्मकायपालनाय परेभ्यो याचने याच्ञापरीषहजयः १४, याचितालाभेऽपि प्रसन्नचेतसैवाऽविकृतवक्त्रेण वा भवनमलाभपरीषहजयः १५ रोगे सत्यपि गच्छनिर्गताश्चिकित्सां न कारयेयुर्ग-

ध्वाधिनस्तु सम्यक् सहते सिद्धान्तोक्तविधिना वा प्रतिक्रियां कुर्युरिति रोगपरीषहजयः १६, अनुपानहा चलने कण्टकादेः सम्यक् सहनं तृणस्पर्शस्तथा कारणे शुषिरतृणस्य दर्भादेः परिभोगोऽनुज्ञातो गीतार्थानां गच्छवासिनां गच्छनिर्गतानां च, तत्र गच्छनिर्गतजिनकल्पिकादयः कारणे निर्वस्त्रे दर्भसंस्तारे शेरते, गच्छवासिनस्तु कारणेन ते दर्भान् भूमावास्तीर्य संस्तारकोत्तरपट्टकौ च दर्भाणामुपरि कृत्वा शेरते, मुषितोपकरणा वा, तत्रापि तृणस्पर्शसम्यक्सहनं तृणस्पर्शपरीषहजयः १७ स्वेदाल्लग्नं रजो मल उच्यते। स देहोत्थितो ग्रीष्मघर्माद्दुर्गन्धो जायते, तत्क्षालनाय न कदापि स्नानमिच्छेदिति मलपरीषहजयः १८, सत्कारोऽन्नपानवस्त्रपात्रादीनां दानं, पुरस्कारः सद्भूतगुणोत्कीर्त्तनवन्दनाभ्युत्थानासनदानादि, ताभ्यां कृताकृताभ्यां रागद्वेषाकरणेन सत्कारपुरस्कारपरीषहजयः १९ प्रज्ञा–बुद्ध्यतिशयस्तत्प्राप्तौ न गर्व इति प्रज्ञापरीषहजयः २०, कर्मविपाकजादज्ञानादनुद्वेगोऽज्ञानपरीषहजयः २१, शुद्धक्रियायां पाल्यमानायामपि देवादीन्नेक्षेऽतः किं क्रिययेत्याद्यचिन्तनेन सम्यक्त्वपरीषहजयः २२। इहलोकार्थं परवशतो वा सहतो द्रव्यपरीषहा निर्जरार्थं तु सहतो भावपरीषहास्तत्र प्रज्ञाज्ञानपरीषहौ ज्ञानावरणादलाभोऽन्तरायाद्, नाग्न्यारतिस्त्रीशय्याक्रोशसत्काराश्चारित्रमोहात्, सम्यक्त्वपरीषहो मिथ्यात्वमोहनीयाच्छेषा वेदनीयात् स्युः २३। 'तेवीसाए सूयगडज्झयणेहिं' त्रयोविंशत्या सूत्रकृताध्ययनैरश्रद्धितैर्योऽतिचारस्तानि चाऽमूनि 'पुंड०'

पुंडरीयकिरियट्ठाणं, आहारपरिण्णपच्चक्खाणकिरिया य। अणगारअद्दनालंद, सोलसाइं च तेवीस ॥ १ ॥

पुण्डरीकं १, क्रियास्थानं २, आहारपरिज्ञा ३, प्रत्याख्यानक्रिया च ४, अनगारः ५, आर्द्रकुमाराख्यं ६, नालन्दाख्यं

१ नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनासत्काराश्चारित्रमोहादिति तत्त्वार्थोत्तराध्ययनादौ।

७ सप्त, क्रमात्पद्मग्रहणदृष्टान्तः १ त्रयोदशक्रियास्थानं २ आहारव्याख्या ३ महाव्रतादिप्रत्याख्यानोक्तिः ४ अनाचारनिषेधः ५ आर्द्रकुमारसम्बन्धः ६ नालन्दाग्रामस्थेन्द्रभूतिपार्श्वगपेढालपुत्रश्रावकविध्यादिपृच्छा ७ अर्थाः ज्ञेयाः। तथा षोडश समयवैतालीयादीन्याद्यानि पूर्वोक्तानीति त्रयोविंशत्यध्ययनानि ३४। 'चउवीसाए देवेहिं' इति पाठे 'भवण'

भवणवणजोइवेमाणिया य, दसअट्ठपंचएगविहा। इइ चउवीसं देवा, केइ पुण बेंति अरिहंता॥ १॥

भवनव्यन्तरज्योतिर्वैमानिकाः क्रमाद्दशाष्टपञ्चैकविधाः, वैमानिका वैमानिकत्वेनाऽभिन्नत्वादेकविधा उक्तास्तैर्निन्दितैर्योऽतिचारः। 'केइ पुण बेंति अरिहंता' केचित्पुनः 'चउवीसाए अरिहंतेहिं' इति पाठं ब्रुवते तत्राऽर्हद्भिरनादृतैरन्यथाप्ररूपितैरतिचारः ३५। 'पंचवीसाए भावणाहिं' पञ्चानां व्रतानां पञ्च पञ्च भावनाः स्युरिति पञ्चविंशतिस्तत्राऽऽद्यव्रतभावना यथा 'इरि'

इरियासमिए सया जए, उवेह भुंजेज्ज व पाणभोयणं। आयाणनिक्खेवदुगुंछ, संजए, समाहिए संजमए मणोवई॥ १॥ अहस्ससच्चे अणुवीइ भासए, जे कोहलोहभयमेव वज्जए। स दीहरायं समुपेहिया, सिया मुणी हु मोसं परिवज्जए सया॥ २॥ सयमेव उ उग्गहजायणे, घडे मइमं निसम्म सइ भिक्खू उग्गहं। अणुण्णविय भुंजिज्ज, पाणभोयणं, जाइत्ता साहम्मियाण उग्गहं॥ ३॥ आहारगुत्ते अविभूसियप्पा, इत्थिं निज्झाइ न सथवेज्जा। बुद्धो मुणी खुड्डकहं न कुज्जा, धम्माणुपेही संधए बंभचेरं॥ ४॥ जे सद्दरूवरसगंधमागए, फासे य सपप्प मणुण्णपावए, गिहीपदोसं न करेज्ज पंडिए स होइ दंते विरए अकिंचणे॥ ५॥

ईर्यासमितः सदा यतेत १, उपेक्ष्य निरीक्ष्य पानभोजने भुञ्जीत, वा एवकारार्थे २, अविधिनाऽऽदाननिक्षेपौ जुगुप्सत इत्यादाननिक्षेपजुगुप्सकविधिनाऽऽदाननिक्षेपकारीत्यर्थस्तृतीया ३, समाहितः सन्मनः संयमयति ४, एवं समाहितो वाचं

संयमयन् पञ्चमी ५, भाव्यन्ते रक्ष्यन्ते व्रतान्यमूभिरिति भावनाः । अथ द्वितीयव्रतभावनाः—अहास्यसत्यो हास्यत्यागात्
सत्यवादी प्रथमा १, अनुचिन्त्य विमृश्य भाषको द्वितीया २, भाषाकाले क्रोधं ३ लोभं ४ भयं च ५ वर्जयतीति पञ्च भावनाः,
स दीर्घगत्रं-मोक्षं द्रष्टा( दृष्ट्वा )स्यान्मुनिर्हेरेवार्थं एवं मृषां परिवर्जयेत् । अथ तृतीयव्रतभावनाः—स्वयमात्मनैव प्रभुं प्रभुसंदिष्टं
वाऽनवग्रहयाच्ञायां प्रवर्ततेऽनुविचिन्त्य प्रथमा १ । 'घडे मइमं निसम्म'त्ति' तत्रैव तृणाद्यनुज्ञापनायां चेष्टेत, मतिमानाकर्ण्यो-
पाश्रयदातृणाचां द्वितीया २ । 'सइ भिक्खू उग्गहं' सदा भिक्षुऽवग्रहं स्पष्टमनुज्ञाप्य भजेत्तृतीया ३ । गुरुमन्यं वाऽनुज्ञाप्य
पानभोजने भुञ्जीत वा चतुर्थी ४ । साधर्मिकावग्रहं याचित्वा स्थानादि कुर्यात् ५, एता भावना अकुर्वतोऽदत्तादानव्रतभङ्गः ।
अथ तुर्यव्रतभावना—आहारगुप्तो नाऽतिमात्रं स्निग्धं वा भुञ्जीत आद्या १, अविभूषितात्मा द्वितीया २, स्त्रियं न निध्यायेन्निरीक्ष्येत
तृतीया, स्त्र्यादिसंसक्तां वसतिं न संस्तवीत न सेवेत चतुर्थी ४, बुद्धो निपुणो मुनिः क्षुद्रकथां स्त्रिया सह कथां स्त्रीणां च कथां
न कुर्यात् पञ्चमी ५, धर्मानुप्रेक्ष्यैवं ब्रह्मचर्यं संधत्ते एवमकृतभावनो ब्रह्मव्रतविराधकः स्यात् । अथ पञ्चमव्रतभावनाः—शब्दरूप-
रसगन्धान् स्पर्शान् मनोज्ञान् संप्राप्य गृद्धिं पापाननिष्टान् प्राप्य प्रद्वेषं न कुर्यात् पण्डित इति पञ्चाऽपि भावनाः
स दान्तो विरतोऽकिञ्चनः स्यादमूर्भावना अकुर्वतः पञ्चमव्रतभङ्गः ३६ । ' छव्वीसाए दसाकप्पववहाराणं उद्देसणकालेहिं '
षड्विंशत्या दशाकल्पव्यवहाराणामुद्देशनकालैः श्रुतोद्देशप्रस्तावैरकृतैर्योऽतिचारस्तत्र ' दस

दस उद्देसणकाला, दसाण कप्पस्स होंति छच्चे व । दस चेव ववहारस्स व होंति सव्वेवि छव्वीसं ॥ १ ॥

दश दशानामुद्देशनकालाः, कल्पस्य षड्, व्यहारस्य दशोद्देशनकालाः, सर्वेऽपि षड्विंशतिः शास्त्रभेदाः । अत्र वाचनायां

दशानामुद्देशानां च प्रकटत्वाच्छ्रुतस्कन्धाध्ययनोद्देशा न विवक्षिताः ३७। 'सत्तावीसाए अणगारगुणैः' 'वय' 'काया'

वयछक्कमिंदियाणं च, निग्गहो भावकरणसच्चं च। खमयाविरागयावि य, मणमाईणं निरोहो य ॥ १ ॥

कायाण छक्क जोगाण जुत्तया वेयणाऽहियासणया। तह मारणंतियऽहियासणा य, एएऽणगारगुणा ॥ २ ॥

व्रतषट्कं रात्रिभोजनविरतिसहितं ६, पञ्चानामिन्द्रियाणां निग्रहः ५, एवमेकादश गुणाः ११, भावसत्यं भावशुद्धिः १२, करणसत्यं बाह्यं प्रत्युपेक्षणादिकं १३, क्षमा १४, विरागता १५, मनआदीनां मनोवाक्कायानामकुशलानां निरोधः १८। एवमष्टादशगुणाः कायानां षट्कं तत्पालनात् षड्गुणाः, एवं चतुर्विंशतिः २४। यद्यपि कायषट्कमाद्यव्रतान्तर्भूतं तथापि सर्वव्रतेषु यतनायाः प्राधान्यख्यापनार्थं पृथगुक्तं, तथा संयमयोगयुक्तता समितिपालनेन रत्नत्रयाराधनेन च २५, शीतादिवेदनाऽधिसहना २६, तथा मारणान्तिकाधिसहना कल्याणमित्रधिया मारणान्तिकोपसर्गसहनं २७। ३८। 'अट्ठावीसइविहे आयारप्पकप्पे'—

सत्थपरिण्णा लोगो, विजओ य सीओसणिज्ज समत्तं। आवंति धुवविमोहो, उवहाणसुय महापरिण्णा य ॥ १ ॥

पिंडेसणसिज्जिरिया, भासज्जाया य वत्थपाएसा। उग्गहपडिमासत्तेक्कत्तयं भावणविमुत्तीओ ॥ २ ॥

उग्घायमणुग्घायं, आरूवणा तिविहमो णिसीहं तु। इय अट्ठावीसविहो, आयारपकप्पणामोऽयं ॥ ३ ॥

आचारप्रकल्पः समग्रमाचाराङ्गं, तत्र शस्त्रपरिज्ञा १, लोकविजयः २, शीतोष्णीयं ३, सम्यक्त्वं ४, आवन्ती ५, धूतं ६, विमोहः ७, उपधानश्रुतं ८, महापरिज्ञा ९, पिण्डैषणा १०, शय्या ११, ईर्या १२, भाषाजातं १३, वस्त्रैषणा १४, पात्रैषणा १५, अवग्रहप्रतिमा १६, आचाराङ्गाद्यचूला। लोकसारसप्तैकसप्तमहाध्ययनान्येषा द्वितीया चूला, एवं त्रयो-

विंशत्यध्ययनानि २३, भावना तृतीया चूला २४, विमुक्तिस्तुर्या चूला २५, एतान्याचाराङ्गाध्ययनानि । तथा उद्घातिकं २६ अनुद्घातिकं २७, आरोपणा २८ चेति त्रिविधं निशीथमध्ययनं स्यात् तदप्याचारप्रकल्पपञ्चमचूला। तत्र शस्त्रपरिज्ञादीनां क्रमेण व्याख्यानि षड्जीवयतना १, कषायलोकविजयः २, परीषहादिजयः ३, जिनाज्ञास्थापना ४, लोकसारस्थानं ५, कर्मधुननं ६, आहारदेहविमोक्षः ७, श्रीवीरतपः ८, परीषहोपसर्गादिव्याख्या ९, पिण्डैषणा १०, शय्याशुद्धिः ११, ईर्याशुद्धिः १२, भाषाशुद्धिः १३, वस्त्रैषणा १४, पात्रैषणा १५, सप्तावग्रहप्रतिमा १६ व्याख्यानि, एवं षोडश तथा सप्तैक-कानि सप्त, यथा-स्थान १, नैषेधिकी२, उच्चारप्रश्रवण ३, शब्द ४, रूप ५, परक्रिया ६, अन्योन्यक्रिया ७ ऽऽख्यानि । तत्र स्थानविधि १७, नैषेधिकीविधि १८, उच्चारप्रश्रवणविधि १९, शब्दशुभाशुभत्वाचिन्तन २०, रूपशुभाशुभत्वा-चिन्तन २१, परवैयावृत्यपरकृतविलेपनाद्यनास्वादन २२, अन्योऽन्यवैयावृत्त्यविलेपनादिकृत्यत्यागार्थानि २३ । तथा श्रीवीरजन्मादिमहाव्रतभावना २४ रागद्वेषविमुक्त्यर्थानि २५ उद्घातिकमुद्घातो मासिकादितपस्सु प्राप्तेषु भिन्नमासादि-दानात्तपसो हानिः समययुक्त्याऽनेनोद्घातिमं २६ अनुद्घातिमं यथोक्ततप एव २७ आरोपणा दर्पादिनोक्ततपोवृद्धिः २८, एतत्त्रिविधं प्रायश्चित्तं, तद्व्यापकत्वान्निशीथाध्ययनमपि त्रिधैवमष्टाविंशतिधाऽऽचारप्रकल्प आचाराङ्गं नाम, अत्राचारप्रकल्पेऽ-श्रद्धानवितथाख्यानादिनाऽतिचारः । ' एगूणतीसाए पावसुयपसंगेहिं ' एकोनत्रिंशता पापहेतुश्रुतप्रसङ्गैः, पापहेतूनां प्रसङ्गा मर्यादातिक्रमेण प्रवर्तनानि यथा ' अट्ठ ' ' सुत्तं '

अट्ठनिमित्तंगाइं दिव्वुप्पायंतलिक्खभोमं च । अंगसरलक्खणवंजण च, तिविहं पुणोक्केक्क ॥ १ ॥

सुत्तं वित्ती तह वत्तियं च, पावसुय अउणतीसविहं । गंधव्वनट्टवत्थुं, आउ धणुवेयसंजुत्तं ॥ २ ॥

अष्ट निमित्तांगानि निमित्तशास्त्राणि, दिव्यं व्यन्तरकृताट्टहासादि स्वप्नाश्च १, उत्पातमकालगर्जादि २, अन्तरिक्षं गन्धर्वपुरदिग्दाहादि ज्योतिश्चक्रविषयं च ३, भौमं भूकम्पशकुनादि ४, आङ्गं शिरःस्फुरणादि ५, स्वरः षड्जऋषभादि ६ लक्षणं सामुद्रिकं ७ व्यञ्जनं मषतिलकादि ८, एकैकं दिव्यादिशास्त्रं पुनस्त्रिविधं–सूत्रं १ वृत्ति २ वार्त्तिकं ३ च । तत्र सप्तानां सूत्रं सहस्रमेकं, वृत्तिर्लक्षं, वार्तिकं कोटिः, आङ्गं तु सूत्रं लक्षं, वृत्तिः कोटिर्वार्त्तिकमपरिमितमेवमष्टभेदास्त्रिगुणिताश्चतुर्विंशतिः शास्त्राणि २४, तथा गान्धर्वं २५ नाट्यं २६ वास्तुविद्या २७ आयुर्वेदो वैद्यकं २८ धनुर्वेदः शस्त्रविद्या २९ । एतैः शास्त्रैः साधुना ज्ञातैरपि सिद्धान्तविधिं विना प्रयोज्यमानैर्दोषः, तथा चूर्णौ निमित्तचतुर्विंशतिशास्त्रेभ्योऽनु गणितं १ ज्योतिष्कं २ व्याकरणं ३ शब्दशास्त्रं ४ धनर्वेदश्चे ५ति ४० । 'तीसाए मोहणियठाणेहिं' मोहनीयहेतुस्थानानि मोहनीयस्थानानि यदाचीर्णैर्महामोहनीयं बध्यते तानि, यथा 'वारि' इत्यादि–

वारिमज्झेवगाहित्ता, तसे पाणे विहिंसई । छाएउ मुहं हत्थेणं, अंतोनायं गलेरवं ॥ १ ॥ सीसावेढेण वेढित्ता, संकिलेसेण मारए । सीसंमि जे य आहंतुं, दुहमारेण हिंसइ ॥ २ ॥ बहुजणस्स नेयारं, दीवं ताणं च पाणिणं । साहारणे गिलाणंमि, पहू किच्चं न कुबइ ॥ ३ ॥ साहू अकम्म धम्माउ, जे भंसेइ उवट्ठिए । णेयाउयस्स मग्गस्स, अवगारंमि वट्टइ ॥ ४ ॥ जिणाणं णंतणाणीणं, अवण्णं जो उ भासइ । आयरियउवज्झाए, खिंसई मंदबुद्धीए ॥५॥ तेसिमेव य णाणीणं । संमं नो पडितप्पइ, पुणो पुणो अहिगरणं, उप्पाए तित्थभेयए ॥ ६ ॥ जाणं आहंमिए जोए, पउंजइ पुणो पुणो । कामे वमित्ता पत्थेइ, इहऽन्नभविए इय ॥ ७ ॥ भिक्खूणं बहुसुएऽहंति जो

जो तवस्सितिऽहं वए ॥ ८ ॥ जायतेएण बहुजणं, अंतोधूमेण हिंसइ । अकिच्चमप्पणा काउं,
भामइऽबहुस्सुए । तहा य अतवस्सी उ, जो तवस्सितिऽहं वए ॥ ८ ॥ वेई सव्वं मुस, वयसि अक्खीणझंझए सया ॥ १० ॥
कयमेएण भासइ ॥ ९ ॥ नियडुवहिपणिहीए, पलिउंचे माइजोगजुत्ते य । दारे तस्सेव लुब्भई ॥ १० ॥ अभिक्खमकुमारेहिं, कुमारेऽहति
अन्नाणंमि पवेसित्ता, जो धणं हरइ पाणिणं । वीसंभित्ता उवाएणं, दारे तस्सेव लुब्भई । तप्पभावुट्ठिए वावि, अंतरायं
भासइ । एवं अबंभयारीवि, बंभयारित्तिऽहं वए ॥ ११ ॥ जेणेविस्सरियं णीए, वित्ते तस्सेव लुब्भई । तप्पभावुट्ठिए वावि, अंतरायं
करेइ मे ॥ १३ ॥ सेणावइं पसत्थारं, भत्तारं वावि हिंसई । रट्ठस्स वावि निगमस्स, नायगं सेट्ठिमेव वा ॥ १४ ॥ अपस्समाणो
पस्सामि, अहं देवेत्ति वा वए । अवण्णेणं च देवाणं, महामोहं पकुव्वइ ॥ १५ ॥

वारिमध्ये तीव्रेण मनसाऽवगाह्याऽवलोक्य त्रसान् प्राणान् त्रसजीवान् विहिनस्ति स्त्र्यादीन् वा विहिनस्ति स तस्य महा-
मोहमुत्पादयन् संक्लिष्टपरिणामेन भवशतदुःखापनेयं महामोहं कर्म बध्नाति, एवं सर्वत्र क्रिया योज्या १, तथा हस्तेन मुखं
पिधायाऽन्तर्नादं हृदये सदुःखनादं गले कृतरवमारटन्तं पश्वादिकं हिनस्ति २, शीर्षावेष्टनेनेति–आर्द्रचर्मणा शिरो वेष्टयित्वा
संक्लेशेन तीव्राशुभपरिणामेन मारयति ३, यः शीर्षे मुद्गरादिनाऽऽहत्य दुर्मारेण हन्ति ४, बहुजनस्य नेतारं प्रभुं हन्ति
तथा संसारे दुःखसागरे आधारदानेन प्राणिनां द्वीपसमानमन्नादिदानेन त्राणकारिणं गृहिणं हन्ति ५, साधारणे सर्व-
सामान्ये ग्लाने, प्रभुः समर्थः, स्वयं कर्तुं परेण वा कारयितुं, परं घोरपरिणाम औषधादि न कारयति न च याचते 'सवसा-
मन्नो य गिलाणो भवइ', तथाजिनोपदेशादुक्तं च–'किं भंते ! जे गिलाणं पडियरइ से धन्ने उदाहु जे तुमं दंसणेणं पडिवज्जइ ?
गोयमा ! जे गिलाणं पडियरइ, से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ?, गोयमा ! जे गिलाणं पडियरइ से मं दंसणेणं पडिवज्जइ,

जे मं दंसणेणं पडिवज्जइ से गिलाणं पडियरइत्ति, आणाकरणसारं खु अरिहंताणं दंसणं, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ–जे गिलाणं पडियरइ से मं दंसणेणं पडिवज्जइ, जे मं पडिवज्जइ से गिलाणं पडियरइ' ६। साधुं ज्ञानादावुपस्थितं सज्जमाक्रम्य यो भ्रंशयति ७, नैयायिकस्य मुक्तिं नयनशीलस्य श्रीजिनोक्तमार्गस्य ज्ञानादिदूषणप्रकारेण स्वमन्यं च विपरिणमयन्नपकारे विनाशे वर्तते ८, जिनानामवर्णं निन्दां भाषते ९, मन्दबुद्धिराचार्योपाध्यायान् जात्यादिभिः खिंसति हीलति, तथैतेऽबहुश्रुता एषां पार्श्वे न मया किंचिद्भणितमिति वक्ति १०, तेषामाचार्यादीनां ज्ञानिनां ज्ञानधराणामाहारोपकरणादिना सम्यग् न प्रतितर्पत्युपकरोति ११, पुनः पुनरधिकरणं ज्योतिष्काद्युत्पादयते नृपयात्रादि कथयति, तीर्थभेदको ज्ञानादिविराधकः १२, जानन्नधार्मिकान् योगान् पुनः पुनः प्रयुङ्क्ते १३, कामानिच्छामदनरूपान् वमित्वा त्यक्त्वा प्रव्रज्य पुनः प्रार्थयति, इहभविकान् मानुषानन्यभविकान् दिव्यान् १४, योऽबहुश्रुतोऽभीक्ष्णं पुनः पुनर्बहुश्रुतोऽहमिति भाषतेऽन्येन वा पृष्टः स त्वं बहुश्रुतः ? तत एवमिति वक्ति तूर्ष्णीं वा तिष्ठेत्, साधव एव बहुश्रुता इति वक्ति १५, एवमतपस्व्यपि तपस्व्यहमिति वक्ति १६, जाततेजसाऽग्निना बहुजनं गृहादौ क्षिप्त्वाऽन्तर्धूमेन हन्ति १७, अकृत्यं प्राणातिपातत्वाद्यात्मना कृत्वैतेन कृतमिति भाषते १८, निकृतिरन्यथाकृतिरुपधिर्दोषच्छादनं, प्रणिधिर्मायावतां संग्रहः, 'पलिउंचे' परं वञ्चयति १९, सातियोगोऽशुभमनोव्यापारस्तेन युक्तः २०, सत्यं भाषमाणं नरं प्रति सभायां ब्रूते मृषा वदसि २१, अक्षीणद्वन्द्वः स्थिरकलहः सदा २२, अध्वनि प्राणिनः प्रवेश्य धनं हरति २३, उपायेन प्रीतिरूपेण विश्रम्भ्य विश्वास्य तस्यैव विश्वस्तस्य दारासु पत्न्यां लुभ्यति २४, अकुमारः परिणीतोऽप्यभीक्ष्णं नित्यं कुमारोऽहमिति वदेत् २५, एवमब्रह्मचार्यपि २६, येनैश्वर्यं नीतो वित्ते तस्यैव लुभ्यति २७, तस्य श्रेष्ठ्यादेः

प्रमादादुत्थितो वर्धितोऽपि ‘ से ’ तस्य महत्त्वादावन्तरायं विघ्नं करोति २८, सेनापतिं तथा प्रशास्तारं कलागुरुं राजानं स्वामिनं हन्ति भर्तारं हन्ति, राष्ट्रस्य वा निगमस्य वा नायकं श्रेष्ठिनं वा हन्ति २९, अपश्यन्नपि पश्यामीति वक्ति देवोऽहमिति वा वक्ति, देवानामवर्णवादेनैने कामगर्दभा धर्मालसा इत्यादिभाषणेन महामोहनीयं कर्म भवशतवेदनीयं करोति ३०, । ४१ । ‘एगतीसाए सिद्धाइगुणेहिं ’ एकत्रिंशता सिद्धस्याऽऽदावादेरारभ्य गुणैः सिद्धादिगुणैः, सहभाविनो हि गुणा उच्यन्ते क्रमभाविनः पर्याया उच्यन्ते । तत्र ‘ पडि ’

पडिसेहेण संठाण–वण्णगंधरसफासवेए य । पणपणदुपणट्ठतिहा, इगतीसमकायसंगरुहा ॥ १ ॥

संस्थाने वर्णगन्धरसस्पर्शवेदेषु च क्रमात्पञ्चपञ्चद्विपञ्चाष्टत्रिभेदेषु प्रतिषेधनमभावः, तेन सिद्धगुणा अष्टाविंशतिस्तथा सिद्धोऽकायोऽदेहः २९ असङ्गो निःकर्मा ३० अरुहोऽजन्मा ३१ । संस्थानं वृत्त १ त्र्यस्र २ चतुरस्र ४ दीर्घ ४ परिमण्डल ५ भेदं, तत्र सिद्धो न वृत्तः १ न त्र्यस्रः २ इत्यादि यावत्सिद्धो न क्लीवः । अथवा ‘ अह ’

अहवा कम्मे नव दरिसणंमि, चत्तारि आउए पच । आइम अंते सेसे, दोदो खीणभिलावेण इगतीसं ॥ १ ॥

कर्मणि कर्मविषये क्षीणाभिलापेन सिद्धस्यैकत्रिंशद्गुणा यथा नव दर्शनावरणीयभेदाः, सिद्धस्तु क्षीणनवदर्शनः स्यादेवं नव सिद्धगुणाः, एवमग्रेऽपि क्षीणाभिलापेन क्षीणशब्दयोजनेन, तत्र चत्वार आयुर्भेदाः, पञ्चाऽऽद्ये ज्ञानावरणेऽन्त्य इत्यन्तराये कर्मणि पञ्च, शेषे वेदनीयमोहनीयनामगोत्ररूपे कर्माणि द्वौ द्वौ भेदौ, यथा सातासातभेदं द्विधा वेद्यं, दर्शनमोहचारित्रमोहरूपं द्विधा मोहनीयं, शुभाशुभभेदाद् द्विधा नामोच्चनीचभेदं गोत्रं द्विधैवं सर्वे एकत्रिंशद्भेदाः क्षीणा यस्येत्येकत्रिंशद्गुणाः

सिद्धस्य । ४२ । 'बत्तीसाए जोगसंगेहिं' योगो रत्नत्रयं तस्य संग्रहहेतुत्वात् संग्रहा योगसंग्रहा आलोचनादयो द्वात्रिंशत्तैर्योऽतिचारः कृतस्तस्य मिथ्यादुष्कृतमत्र निर्युक्तिकृदाह–'आलो–अण्णा–धिई–पच्च–संगा'

आलोयणा निरवलावे, आवईसु दढधम्मया। अणिस्सिओवहाणे य, सिक्खा णिप्पडिकम्मया ॥१२६९॥
अण्णायया अलोहे य, तितिक्खा अज्जवे सुई। सम्मादिट्ठी समाही य, आयारे विणओवए ॥१२७०॥
धिई मई य संवेगे, पणिही सुविहि संवरे। अत्तदोसोवसंहारो, सव्वकामविरत्तिया ॥ १२७१ ॥
पच्चक्खाणा विउस्सग्गे, अप्पमाए लवालवे। झाणसंवरजोगे य, उदए मारणंतिए ॥ १२७२ ॥
संगाणं च परिण्णा, पायच्छित्तकरणे इय। आराहणा य मरणंते, बत्तीसं जोगसंगहा ॥ १२७३ ॥

रत्नत्रयसंग्रहाय शिष्येण गुरोरग्रे पापानां शुद्धाऽऽलोचना कार्या १, गुरुरालोचनाश्रवणादनु स्वरत्नत्रयाराधनाय निरपलापः स्यात्परस्मै न वदेत्, एष हेतुः सर्वत्राऽपि ज्ञेयः, प्राकृते प्रथमान्त एकारान्तः स्यात् २, द्रव्याद्यापत्सु साधुना दृढधर्मता कार्या, ३, अनिश्रितमिहपरभवानपेक्षमुपधानतपः कुर्यात् ४, शिक्षा द्विधा–ग्रहणशिक्षा श्रुतपाठः, आसेवनशिक्षा सामाचारी–शिक्षणं, ५, निःप्रतिकर्मता रोगादिषु प्रतिकाराकरणं ६ ॥१२६९॥ तपस्यज्ञातता कार्या यथाऽन्यो न वेत्ति तथा तपः कुर्यादलोभता स्पष्टा ७–८, तितिक्षा परीषहोपसर्गाणां सहनं ९, आर्जवं ऋजुता १०, शुचिर्निर्दोषसंयमवत्त्वं ११, सम्यग्दृष्टित्वं १२, समाधिर्मनःस्वास्थ्यं स कार्यः १३, 'आयारे' इत्यादि उपगशब्द उभयत्र योज्यः, आचारोपगोऽवक्रो भवतीत्यर्थः, १४,

विनयोपगोऽगर्वः स्यात् १५ ॥ १२७० ॥ धृतिः सन्तोषस्तत्प्रधाना मतिर्धृतिमतिः १६, संवेगः १७, प्रणधिर्माया न कार्या १८, सुविधिः १९, संवरः २०, आत्मनो दोषोपसंहारः २१, सर्वकामविरक्तता २२ ॥१२७१॥ मूलोत्तरगुणविषयं प्रत्याख्यानं कार्यमिति द्वारद्वयं प्रत्याख्यानं २३-२४, विविध उत्सर्गो द्रव्यभावभेदभिन्नो व्युत्सर्गः २५, अप्रमादः, २६, 'लवालवे' त्ति कालोपक्षणं क्षणे क्षणे सामाचार्यनुष्ठेया २७, ध्यानमेव संवरयोगः कार्यः, २८, मारणान्तिकोपसर्गस्योदयेऽक्षोभता २९, ॥ १२७२ ॥ सङ्गानां प्रत्याख्यानपरिज्ञा ३०, प्रायश्चित्तकरणं ३१, मरणान्ते मरणकाले वाऽऽराधना ३२ ॥ १२७३ ॥ सर्वे- ष्वपि दृष्टान्तानाह-' उज्जे '

**उज्जेणि अट्टणे खलु, सीहगिरिसोपारए य पुहइवई । मच्छियमल्ले दूरल्ल-कूविए फलिहमल्ले य ॥१२७४॥**

सर्वगाथानां क्रियादियोजना सुधिया स्वधिया कार्या, भावार्थस्तु कथातो ज्ञेयो विषमार्थस्तु वक्ष्यते-उज्जयिन्यां जितशत्रुराट्, तस्याऽट्टणो मल्लः सर्वराज्येष्वजेयः । इतः सोपारके सिंहगिरिपृथ्वीपतिस्तस्य ( स च मल्लानां यो जयति तस्मै ) बहु स्वं दत्तेऽट्टणस्तत्रैत्य वर्षे वर्षे जयध्वजं लाति, स राजा मेऽपभ्राजनेति प्रतिमल्लार्थी मात्सिकं वसापानात्सबलं ज्ञात्वा मल्लं संस्थाप्याऽपुष्णात्, तेनाऽट्टणो जितोऽट्टणोऽपि मात्सिकमल्लं जेतुं भृगुकच्छपार्श्वे दुरल्लकूपिकाग्रामे कर्षकमेकेन करेण हलं कृषन्तमेकेन च 'फलिह'त्ति झण्टान् त्रोटयन्तं दृष्ट्वा कूरघटमानैकवेलाहारमल्पं तस्य नीहारं च दृष्ट्वा तद्भार्याया निर्वाहार्हस्वदानात्तमादाय विरेचनादि दत्त्वा स पोष्य(पितः) शिक्षित्वा मात्सिकेन सहाऽयोधयत् अहर्द्वयं, समावेव जातावट्टणः फलिहमल्लं जगौ-'वद यत्र दुष्यति' तेनोक्तं, ततो म्रक्षित्वा सज्जितः । राज्ञा मात्सिकस्य मार्दनिकाः प्रेपिताः, स गर्वादोपस्थानं

नोचे । तृतीयेऽह्व्यट्टणोक्त्या सज्जः फलिहमल्लः पार्श्वायातस्य मात्सिकस्य फलिहवच्छिरोऽलाद्, राज्ञा पताकादिनाऽर्चितः, एवं गुरुरट्टणः शिष्यो मल्लः प्रहारा मन्तवः, यस्तान् गुरोर्वक्ति तस्याऽऽराधनापताका त्रैलोक्यरङ्गान्तः ॥ १२७४ ॥ उक्ताऽऽलोचना, अथ निरपलापः ' दन्त '

**दंतपुरदन्तचक्के, सच्चवदी दोहले य वणयरए। धणमित्त धणसिरी य पउमसिरी चेव दढमित्तो॥१२७५॥**

दन्तपुरे दन्तचक्रो राट्, सत्यवती भार्या, तस्या दोहदो दन्तप्रासादक्रीडायै, राज्ञा दन्तार्थं घोषणा दत्ता, दन्तानां यथार्हं मूल्यं दास्ये सतामदाने दण्डः। तत्र धनमित्रश्रेष्ठिनो धनश्रीपद्मश्रियौ भार्ये, लघ्वीष्टाऽन्यदा कलौ वृद्धया लघ्व्युक्ता कस्तव-गर्वः ? किं सत्यवतीवद्दन्तप्रासादस्ते भावी ? तयोक्तं चेन्न स्यात्तदाऽहं नेति द्वारं बध्ध्वाऽस्थात्, श्रेष्ठी तज्ज्ञात्वा मित्रेण दृढ-मित्राख्येन राजछन्नवनचरेभ्यः पुलिन्देभ्योऽलक्तकादि दत्त्वा दन्तान् तृणैः पिधायानाययत । गवाकृष्टेषु तृणेषु दन्तदर्शना-त्तलारक्षैर्मित्रे नृपोक्त्या वधाय नीयमाने श्रेष्ठी राजांह्र्योः पतित्वा यथार्थमूचे राज्ञाऽर्चित्वा मित्रं मुक्तं परेषां तु तन्मन्तु-नाऽज्ञापि । एवं गुरुणाऽपि निरपलापेन भाव्यं ॥ १२७५ ॥ अथाऽऽपत्सु दृढधर्मतेति द्रव्यापदि दृष्टान्तः ' उज्जे '

**उज्जेणीए धणवसु अणगारे धम्मघोस चंपाए। अडवीए सत्थविब्भम, वोसिरणं सिज्झणा चेव॥१२७६॥**

उज्जयिन्यां धनवसुः सार्थवाहश्चम्पां याति तत्सार्थे धर्मघोषोऽनगारश्च। चौरैः पतितैः सार्थस्य विभ्रमः पृथक् पृथग्गमनं जातं, कैश्चित्सममृषिरटवीं प्राप्तस्तैः कन्दादिभिर्निमन्त्रितोऽनिच्छन् शिलायां भक्तस्य व्युत्सर्जनं कृत्वा केवली भूत्वा सिद्धः । १२७६ ।

क्षेत्रापत्क्षेत्राभावे, कालापदुर्भिक्षादौ, भावापदि ' महु '

महुराए जउण राया, जउणावंकेण दंडमणगारे। वहणं च कालकरणं, सक्कागमणं च पव्वज्जा ॥१२७७॥

मथुरायां यवनो राजा, यमुनया वक्रीकृतत्वाद् यमुनावक्रमुद्यानं। तत्र दण्डोऽनगारो राज्ञा दृष्टोऽसिना हतः। अन्य आहुः फलेनाऽऽहत अन्यैरश्मराशिः कृतः। इह कोपोदयं प्रत्ययस्य भावापन्मृतः सिद्धो देवा आगुः पालकविमानेनेन्द्रश्च। राजा वज्रेण भाणितश्चेत्प्रव्रजसि तदा मुञ्चामीति दीक्षितो यावत् पापं स्मरामि तावन्नाऽश्नामीति स्थविरपार्श्वेऽभ्यग्रहीत्। एकाहमपि नाऽश्नादेवं तस्य द्रव्यापत् ॥ १२७७ ॥ अथाऽनिश्रितोपधानं, तत्र द्रव्यमुपधानमुच्छीर्षकं स्वापक्षणे तस्योपधायमानत्वाद्भावोपधानं तपः ' पाड० '

पाडलिपुत्त महागिरि, अज्जसुहत्थी य सेट्ठि वसुभूती। वइदिस उज्जेणीए, जियपडिमा एलकच्छं च १२७८

स्थूलभद्रस्य द्वौ शिष्यौ महागिरिसुहस्तिनौ, महागिरिः, सुहस्तिन उपाध्यायः, सुहस्तिनो गणं दत्त्वा व्युच्छिन्नो जिनकल्प इत्यप्रतिबद्धतायै गच्छप्रतिबद्धो जिनकल्पपरिकर्म कुरुते। द्वावपि पाटलिपुत्रं गतौ, तत्र सुहस्तिनो धर्मं श्रुत्वा वसुभूतिः श्रेष्ठी श्राद्धो जातः सुहस्तिनं वक्ति–'मम कुटुम्बप्रतिबोधाय गृहे गत्वोपदिशत' इति, तैर्गत्वा धर्मो वक्तुमारब्धस्तावन्महागिरिरागात् ते उत्थिताः। श्रेष्ठ्यूचे किं वोऽपि गुरुरस्ति? ततः सुहस्तिनो महागिरेर्गुणान् सामाचारीं चोक्त्वा श्रेष्ठिकुटुम्बस्याऽणुव्रतानि दत्त्वाऽगुः। श्रेष्ठी स्वीयानाख्यद्यदीदृक् साधुरायाति तदा भक्तान्युज्झितकरूपाणि कार्याण्येवं लाभः स्यादिति। द्विती-

येऽह्नि महागिरिर्भिक्षायै आयातस्तदपूर्वं दृष्ट्वा द्रव्यादिभिरुपयुक्तोऽज्ञासीद्यथा ज्ञातोऽहमित्यलात्वा निवृत्तः सुहस्तिनं जगौ- 'अहो ! अनेषणा कृता' तेनोक्तं कथं ? गुरुः कल्ये तवाऽभ्युत्थानादिति, द्वावपि वैदेश्यां पुरि गतौ । तत्र श्रीवीरस्य चन्दनमयीं सुरकृतां जीवत्प्रतिमां नत्वा महागिरिरेडकाक्षपुरं गतस्तस्योत्पत्तिरेवं—तत्प्राग् दशार्णपुरमासीत्तत्र श्राविका मिथ्यादृष्टे र्दत्ता, वैकालिकमावश्यकं कुर्वती प्रत्याख्याति, तद्भर्त्ता किं को निशि भुङ्क्ते ? एवं हसत्यन्यदोचेऽहं प्रत्याख्यास्यामि साऽवग् भनक्षि, स हसन् प्रत्याचख्यौ, जिनभक्तसुरी दध्यौ अहो ! अयं श्राविकां हसतीति, तत्रवासितस्वसृरूपेण लभनकं लात्वाऽगात् सोऽश्नाद्धार्यावारितोऽत्रकिं तवाऽऽलपालैर्ममेति । ततः सुर्या प्रहतो अक्षिण भुवि पतिते श्राविका तु मेऽयश इति कायोत्सर्गेऽस्थात् । निशीथे देव्यागता तत्क्षणहतैडकाक्षी सजीवप्रदेशे तस्य लगिते प्रातर्लोकस्तं दृष्ट्वोचेऽहो ! एडकाक्षोऽयं, स च श्राद्धो जातस्ततो लोकोक्त्या तदेडकाक्षपुरं जातं । अन्ये त्वाहुः स एव तत्रेशोऽभूत् । तत्र गजाग्रपदोऽद्रिः, तस्योत्पत्तिः-दशार्णभद्रो राट्, पञ्चशतानि प्रियाः, श्रीवीरागम इत्यादि यावद् गजगजाष्टदन्ता इत्यादि, पत्रेऽष्ट पत्राणीत्यादि । दशार्णाद्रिस्तूर्ध्वं देवानुभावादिन्द्रगजाग्रपदौ लग्नौ प्रादुर्भूतौ च, तदा राजेन्द्रार्द्धिं वीक्ष्य प्राव्राजीत्ततो गजाग्रपदाख्याऽभूत्तत्र महागिरिर्भक्तं प्रत्याख्याय देवोऽभूत् । सुहस्तिन उज्जयिन्यामजितबिम्बनत्यै गता भद्राश्रेष्ठिनीयानशालायां स्थिताः, नलिनीगुल्माध्ययनं गुणयतो भद्रासून्ववन्तीसुकुमालेन जातिं स्मृत्वा सप्तभौमसौधादुत्तीर्य वन्दिता इत्यादि, यावत्तत्पुत्रेण चैत्यं कारितं महाकालाख्यं तदधुना जने प्रसिद्धं द्विजैरात्तं । महागिरेरनिश्रितं तपः ॥ १२७८ ॥ अथ शिक्षा 'खिइ'

**खितिवणउसभकुसग्गं, रायगिहं चंपापाडलीपुत्तं । नंदे सगडाले थूल–भद्दसिरिए वररुची य ॥१२७९॥**

क्षितिप्रतिष्ठितं पुरं, जितशत्रुराट्, पुरवस्तुषु क्षीणेष्वन्यस्थानं वीक्ष्यमाणं चनकक्षेत्रं घनफलं दृष्ट्वा तत्र चनकपुरं चक्रे । तत्र वस्तुक्षये काऽप्येकं वृषमन्यवृषैरजेयं वीक्ष्य तत्र ऋषभपुरं कृतं, एवं कुशस्तम्बं महान्तं वीक्ष्य कुशाग्रपुरं कृतं। तत्र प्रसेनजिद्राजा, तत्राऽग्निदाहा घना भवन्ति, राजादेशोऽभूदग्न्युत्थानगृहेशः पुरान्निर्वास्यः । सूपकृत्प्रमादाद्राड्गृहेऽग्नौ लग्ने प्रतिज्ञावशाद्राड् वहिर्निर्गत्य क्रोशमात्रेऽस्थात्। तत्र राजगृहं जातमित्यादि। कुमारपरीक्षायां श्रेणिकेनाऽग्नितो भम्भाऽऽनीता शेषै रत्नेभादि। पायसस्थालमोदकभक्षणपरीक्षया राज्ञः शेषकुमारेभ्यः पुरादिदाने श्रेणिकायाऽदाने श्रेणिकोनिर्गत्य वेन्नातटं गत्वै(तः,ए)कस्य काश्यपगोत्रवणिजो लाभोऽभूद्वणिजा च निशिस्वप्ने रत्नाकरो दृष्टोऽभूदिति। स नन्दां कन्यामुद्वाहित इत्यादि श्रेणिकवृत्तं । श्रेणिके मृते तद्दुःखार्त्तस्य कोणिकस्याऽमात्यैः 'पितृणां पिण्डो देय इत्यादि' लिखित्वा पत्राणि जीर्णानि कृत्वा दर्शितानि तत्प्रभृति पिण्डादि प्रवृत्तं। ततोऽपि पितृशयनादि दृष्ट्वाऽधृतिं प्राप्नुवन् चम्पां स्थापितवान्। ततो कोणिकवृत्तं वाच्यं यावत्कोणिको वैशाल्यां खरैर्हलं वाहयामीति प्रतिज्ञातवान्। युद्धायातचेटकेन कोणिकयुद्धे प्रत्यहं सेनेशघाते दशभ्रातृषु हतेषु सौधर्मचमरेन्द्राराधनात् कोणिकेन रथमुशल(महाशिलाकण्टक)रणे प्रारब्धे आद्ये अह्नि(आहवे) षण्णवतिर्द्वितीये चतुरशीतिर्लक्षा नरा मृतास्तेष्वेकः कृतसर्वाराधनः सौधर्मसुरस्तन्मित्रं तत्सार्थकृतविधिर्विदेहे नरोऽभूत् । दशसहस्रा मात्स्याः पुत्राः शेषा नारकतिर्यक्षु जाताः । कोणिको वैशाल्या दुर्गे पातिते मात्रा चेटकस्तन्मातामहः श्राद्धश्चेत्यादिवाग्भिरुपालब्धश्चेटकं जगौ–किं कुर्वे ? सोऽवक्–यावत्पुष्करिण्या न निर्गमि तावत्तिष्ठ, तेन च प्रपन्ने लोहमयीं जिनप्रतिमां गले बध्वाऽनशनपूर्वं वाप्यां पतितो धरणेन्द्रेण स्वभवनं नीतो मृतोऽष्टमस्वर्गे सुरोऽभूत्। पुरीजनो महेश्वरेण नीलवति नीतः सुखी जातोऽत्र महेश्वरोत्पत्तिः–चेटकजा सुज्येष्ठा दीक्षितोपाश्रयान्तराता-

पयति, इतः पेढालः परिव्राड् विद्यासिद्धो विद्यां दातुं नरं दिदृक्षुश्चेद् ब्रह्मचारिण्याः सुतः स्यात्तदा तस्मै विद्यां दद इति तस्या धुमिकाव्यामोहेन विद्यया शीलविपर्यासः कृतस्तत ऋतुकालत्वाद्गर्भे जाते ज्ञानिभिरुक्तं नैतस्याः कोऽपि दोष इति छन्नं स्थापिता सुतो जातः श्राद्धगृहे वर्धते । ततः समवसृतिं गतः साध्वीभिः सह कालसन्दीपनो विद्याभृत्प्रभुमपृच्छत्—कुतो मे भीः ? प्रभुराहाऽस्मात्सत्यकेरिति। स पित्रा हृत्वा विद्याः शिक्षितो महारोहिणीं साधयत्ययं सप्तमो भवः। पञ्चसु विद्यया हतः, षष्ठे षण्मासशेषायुषा विद्या न स्वीकृता, इह साधयितुमारब्धा। अनाथमृतकचितां कृत्वाऽऽसन्ने आर्द्रचर्म विस्तार्य तदूर्ध्वं काष्ठज्वलनावधि वामाङ्गुष्ठेन चलति, अत्राऽन्तरे कालसन्दीपनः काष्ठान्यक्षिपत्। ततः सप्तरात्रे सुर्यूचेऽस्य मा विघ्नं कृथास्ततः सिद्धाङ्गे प्रवेशं याचन्ती भाले दत्तेऽतिगता, बिले जाते तृतीयं नेत्रमकृत। तेन पिता हतो मन्माता राजसु घर्षितेति ततो रुद्राख्या। तद्भयात्कालसन्दीपनो नश्यन् पुरत्रयं कृत्वाऽर्हदंह्र्योस्तस्थौ, रुद्रेण पुरेषु हतेषु सुर्यः आहुर्वयं विद्याः सोऽर्हत्पार्श्वेऽस्ति ततस्तेन तत्र गत्वा क्षामितः । अन्य आहुर्लवणे महापाताले हतस्ततः स विद्याचक्रचभृत्। त्रिसन्ध्यं सर्वविहरदर्हतो नत्वा नाट्यं कृत्वा ततो रमते । तस्येन्द्रो महेश्वराख्यां ददौ, स द्विष्टो द्विजकन्यानां शतं शतमन्यस्त्रीश्च रमयति, तस्य नन्दीश्वरो नन्दी च मित्रे पुष्पकं विमानं, सोऽन्यदोज्जयिन्यां प्रद्योतस्य शिवां मुक्त्वाऽन्यराज्ञीषु रमते, राड् दध्यौ मारणे क उपायः? उमा वेश्या सुरूपा तस्मिन्नागते धूपं दत्तेऽन्यदा सा मुकुलितं प्रबुद्धं च पुष्पं करे लात्वाऽस्थात् स प्रबुद्धं ललौ तयोक्तं मुकुलार्हस्त्वं नाऽस्य, यतोऽस्मासु न रमते। ततस्तस्यां रतस्त्वं कदाऽविद्यः स्याः? इत्युमापृष्टोऽवग् मैथुनक्षणे । राज्ञा तज्ज्ञात्वा स तदोमासहितो घातितस्ततो नन्दीश्वरः खे शिलां कृत्वा तत्रैतः, राजा सार्द्रपटो नत्वा क्षामितवान्, सोऽवगीदृग्रूपेण महेश्वरस्याऽर्चने पुरे पुरेऽस्य स्थापने च मुञ्चे, ततो

लोकैस्तया प्रासादाः कारिता इति रुद्रोत्पत्तिः। कोणिकः खरैर्हलं वाहित्वा चम्पामेत इत्यादि। कोणिके कृतमालहृते षष्ठीं क्ष्मां गते राजभिस्तत्सुत उदायी प्रतिष्ठितः, सोऽत्र मत्पिताऽऽसीदित्यधृत्याऽन्यत्पुरं तिष्ठापयिषुर्जनान् प्रैषीत्ते च पाटल्यूर्ध्वस्थचाषास्ये स्वयं कीटान् विशतोऽद्राक्षुः। पाटल्युत्पत्तिस्तूत्तरमथुरावणिग्दक्षिणमथुरायां वाणिज्येऽगात्तत्रैकेन श्रेष्ठिना सह मैत्र्यन्निकां तत्पुत्रीं (भगिनीमिति हारि० वृत्तौ) सोऽमार्गयत्, पितृभ्यां चैकार्भकं यावदत्र स्थेयमित्युक्त्वा दत्ता, परं स पितृगाढलेखागत्या श्वशुरानुमत्या सभार्योऽचलत्, पथि सुतजन्म, पितरौ नाम दास्यत इति नामाकृतौ तन्त्रेणाऽन्निकापुत्र इत्युक्तः। स्थानं समेतेषु पितृभ्यामपि सैवाऽऽह्वा कृता, स तारुण्ये दीक्षितः स्थविरत्वे विहरन् गङ्गातटे पुष्पभद्रपुरेऽगात्। तत्र पुष्पकेतुराट्, पुष्पवती राज्ञी, तस्याः पुत्रपुत्रीयुग्मजन्म, पुष्पचूलः पुष्पचूला चेत्याख्या, मिथः स्नेहः, राट् वियोगभिया युग्मिधर्ममेव कुर्वे इति ध्यात्वा पौरानाख्यद्रत्नस्य कः स्वामी ? तैरुक्तं राट्, राज्ञोक्तं तर्हि रत्नस्य यथेच्छं नियोजने दोषो नेति प्रत्याय्य राज्ञ्या वारितोऽपि तौ मिथो व्यवाहयद्राज्ञी निर्वेदात् प्रव्रज्य देवोऽभूत्, प्रबोधार्थं पुत्र्याः स्वप्ने नरका दर्शिताः, राजा तज्ज्ञात्वा पाखण्डिनो नरकानप्राक्षीत्, तैश्चाऽन्यादृशेषूक्तेष्वन्निकापुत्राः पृष्टाः सत्यानूचुरेवं देवलोकानपि स्वप्नदर्शितानूचुः, तेषु कथं गम्यते ? इति साधुधर्मे उक्ते दीक्षार्थे नृपमप्राक्षीत्। सोऽवक्–'प्रव्रज्य चेदत्रैव गृहे भिक्षां लासी'ति, सा च स्वीकृत्य प्राव्राजीत्। गुरुर्जङ्घादुर्बलः शिष्यान् विसृज्याऽस्थात्, सा शुद्धान्तादुभिक्षामानयति, श्लेष्मकाले येन श्लेष्मा हीयते, एवं शेषेष्वपि। गुरुराह- (कथं) यच्चिन्तितं तदेवाऽऽनीतं ? सोचे वेद्मि, कुतः ? केवलात्ततः क्षामिता। अन्ये तु वर्षत्यानीतं, गुरुणा कथं वर्षत्यानयसि ? यत्र यत्राऽध्वन्यचित्तोऽप्कायस्तत्रेत्यादि। अधृतौ वक्ति 'यूयमपि सेत्स्यथ गङ्गामुत्तरन्तः'। तदैवोत्तरितुं यत्र यत्र नावि लग्नस्तत्र तत्र

नौर्मग्ना नाविकैर्जले क्षिप्तो ज्ञानं, देवैर्महः कृतः, प्रयागतीर्थप्रवृत्तिः । तच्छिरःकरोटिर्मत्स्यादिभिः खाद्यमाना तीरे लग्ना, तस्यां पाटलिबीजं पेते, सव्यहनुकां भिन्दन्नङ्कुरो विशालो द्रुमो जातः, पाटलिमूलजीवो द्वितीयभवे मुक्तिगामी । तत्राऽमात्याश्चापं दृष्ट्वा दध्युरत्र नृपस्य स्वयं रत्नान्यायास्यन्तीति तत्र पुरं स्थापितं नाभावर्हच्चैत्यं कारितं । तत्रोदायी राज्यं भुङ्क्ते, नृपान् सर्वान् सदा सेवां कारयति, ते दध्युः कथं म्रियतेऽसौ ? । अन्यदा राज्ञा कस्याऽपि मन्तोः राज्यं हृतं, स नष्टस्तत्सुतोऽन्यत्र गतः कंचिद्भूपमुदायिनृपद्वेषिणं वीक्ष्योचेऽहं त्वत्साहाय्यादुदायिनं हन्मि, तेनाऽऽदृते स पाटलिपुरं गत्वा, बाह्यान्तःपर्षदौ सेवमानः साध्वागमाच्छिद्रं ज्ञात्वा गुरुपार्श्वे प्रव्रज्येत्यादियावदुदायी अपुत्रो मृतोऽधिवासितोऽश्वो नापितदासाय राज्यं ददौ । तेन च तस्यां निशि स्वप्ने स्वान्त्रैः पुरं वेष्टितं दृष्टं, स्वप्नज्ञेन तस्य सुता दत्ताऽभूत् । स नन्दो राजा जातस्तत्पुराद्बहिः कपिलविप्रोऽवात्सीत्तदग्निहोत्रशालायां साधव एयुस्तैर्धर्मे उक्ते श्राद्धोऽभूत्, केऽपि साधवस्तद्गृहे वर्षास्वस्थुः । तत्पुत्रो जातमात्रो रेवतीसुर्यात्तः, साधूनां पात्रं कल्पयतामधोऽस्थापि नष्टा सुरी । तस्याऽन्यान्यप्यपत्यानि जीवन्त्यभूवन् । तस्य कल्पकाह्वा दत्ता, स चतुर्दशविद्याज्ञः क्रमाद्राज्ञा मन्त्री कृतः, सर्वं राज्यं तदायत्तं कृतमेवं नन्दानां कल्पवंशामात्या जाताः । नवमे नन्दे कल्पवंश्यः शकटालो मन्त्री, तस्य स्थूलभद्रश्रीयकौ सुतौ, वररुचिपण्डितकपटाच्छकटाले मृते स्थूलभद्रः श्रीसम्भूतिविजयान्तिके प्रव्रज्य, तेषु स्वर्गतेषु श्रीभद्रबाहुपार्श्वे चतुर्दशपूर्वाण्यधीयानो यक्षाद्यासु सप्तस्वसृषु श्रीयके च प्रव्रजितेषु श्रीयकस्य पर्युषणोपवासादनु विपत्तौ भगिनीवन्दनागमे सिंहरूपं चक्रे । प्रातर्गुरौ वाचनामददति स्वप्रमादं स्मृत्वा पुनर्न कुर्व इत्युक्त्वाऽऽग्रहाद्दशमपूर्वान्त्यवस्तुद्वयं पूर्वचतुष्टयं च माऽन्यस्मै दद्या इति गदित्वाऽभाणि । स्थूलभद्रादग्रतस्तानि

ग्युच्छिमानि । एवं शिक्षायां स्थूलभद्रस्य योगसंग्रहः ॥ १२७९ ॥ निःप्रतिकर्मत्वे वैधर्मे दृष्टान्तः 'पइ'

**पइठाणे नागवसू, नागसिरी नागदत्त पव्वज्जा । एगविहा सट्ठाणे, देवय साहू य बिल्लगिरे ॥१२८०॥**

प्रतिष्ठानपुरे नागवसुश्रेष्ठी, नागश्रीभार्या, श्राद्धो नागदत्तसुतो दीक्षितो जिनकल्पिनां पूजां दृष्ट्वैकत्वविहारार्थमुत्थाने उपक्रमे जाते मति गुरुनिषिद्धोऽपि जिनकल्पं प्रपद्यैकाकी यक्षगृहप्रतिमास्थः शासनदेवता मा व्यनङ्क्षीदिति स्त्रीरूपेणोपहारमादाय यक्षमर्चित्वोचे लाहि भो ! उद्धृतं, स च तद्भुक्त्वा निशि प्रतिमास्थोऽस्वापत्वादतिसारवान् जातः । सुर्या गुरोस्तदुक्तं, गुरुभिः साधू प्रेषितावानीतः, सुर्युक्तं बिल्वगिरौषधं दत्त्वाऽरुक्कृतः शिक्षितश्च नैवं साधुना प्रतिकर्म कार्यमिति ॥ १२८० ॥ तपस्यज्ञानतायां 'कोसं'

**कोसंबिय जियसेणे, धम्मवसू धम्मघोस धम्मजसे । विगयभया विणयवई, इड्ढिविभूसा य परिकम्मे १२८१**

कौशाम्ब्यामजितसेनो राट्, धारिणी राज्ञी, धर्मवसुर्गुरुः, शिष्यौ धर्मघोषधर्मयशसौ । विगतभया महत्तरा विनयवती शिष्यिणी, तया भक्तं त्यक्तं संघेन महार्द्धिसत्कारविभूषया निर्यामिता मृता । ततः शिष्यौ संलेखनायै तपस्तुलनां परिकर्म कुर्वतः ॥ १२८१ ॥ इतः 'उज्जे'

**उज्जेणिवंतिवद्धण-पालगसुयरट्ठवद्धणे चेव । धारिय(णि) अवंति-सेणे मणिप्पभा वच्छगातीरे ॥ १२८२ ॥**

उज्जयिन्यां प्रद्योतसुतौ गोपालपालकौ, आद्यो दीक्षितः, पालको राजाऽभूत्तस्याऽवन्तिवर्धनराष्ट्रवर्धनौ सुतौ, पालकस्तौ

क्रमाद्राजयुवराजौ कृत्वा प्राव्राजीत्। युवराजभार्या धारिणी, सुतोऽवन्तिसेनोऽभूदन्यदोद्याने राजा धारिणीं वीक्ष्य दूतीं प्रैपीत्सा तं नैच्छत्, स्वभावादूचे भ्रातुरपि न लज्जसे ? राज्ञा बन्धौ हते सा भूषणान्यादाय वणिक्सार्थेनाऽगात्। अजितसेननृपयानशालास्थसाध्वीपार्श्वे गर्भमनाख्याय प्रव्रजिता, गर्भे ज्ञाते यथास्थं जगौ, साऽव्यन्तरल्पसागारिके स्थापिता निशि प्रसूता। साधूनामुड्डाहरक्षायै नाममुद्राद्यलङ्कृतं सुतं नृपाङ्गणेऽमुञ्चत्, राजोर्ध्वतलस्थो मणिभं वीक्ष्य तं लात्वाऽपुत्राग्रराज्यै अदात्, मणिप्रभेति नाम कृतं, राज्ञि मृते मणिप्रभो राड् जातः। अवन्तिवर्धनोऽपि पश्चात्तापादवन्तिसेनाय राज्यं दत्त्वा प्राव्राजीदवन्तिसेनो मणिप्रभं करं याचमानः कौशाम्बीं प्रत्यचलत्तावता धर्मघोषः शिष्यः परिकर्मान्ते विनयवतीसमामृद्धिमिच्छन् पुरान्तरन्नमौज्झताऽन्यस्तु निःस्पृहः कौशाम्ब्युज्जयिन्योरन्तरे वत्सगानदीतीरे गिरिगुहेऽन्नं जहौ। अवन्तिसेनेन कौशाम्ब्यां रुद्धायां धर्मघोषपार्श्वे जनश्चिन्तया न याति, स ऋद्धीच्छयैव मृतो रोहकभावाद् द्वारेण न निरकाशि, दुर्गोर्ध्वादधस्त्यक्तः, मात्रा साध्व्या स्वरूपमुक्त्वा तौ उद्वा(वा)रितौ। बन्धुत्वे(द्वौ) मिलिते(तौ), तत्र कियत्कालं स्थित्वोज्जयिन्यां चलितौ, माताऽपि समहत्तराऽचालि, मार्गे क्षपकं ज्ञात्वा नृपौ स्थित्वा दिने दिने महं चक्रतुः। स मृतः, एवं धर्मयशोवन्निरीहं तपः कार्यं ॥१२७२॥ अलोभतायां 'साए' 'जस' 'सुट्ठु'

साएए पुंडरीए, कंडरीए चेव देविजसभद्दा। सावत्थिअजियसेणे, कित्तिमई खुड्डगकुमारो ॥१२८३॥
जसभद्दे सिरिकंता, जयसंधी चेव कण्णपाले य। नट्टविही परिओसे, दाणं पुच्छा य पव्वज्जा ॥१२८४॥

सुट्ठु वाइयं सुट्ठु गाइयं सुट्ठु नाच्चियं साम सुंदरि। अणुपालिय दीहराइय ओ सुमिणंते मा पमायए॥१२८५॥

साकेते पुण्डरीको राट्, कण्डरीको युवराट्, तस्य देवी यशोभद्रा, तां पुण्डरीको दृष्ट्वा प्रार्थयन् युवराजं जघान, सा नंष्ट्वा श्रावस्त्यामजितसेनाचार्यकीर्तिमतीमहत्तरान्ते प्राव्राजीत्सगर्भाऽपि, पुत्रो जातः शय्यातरश्राविकाभिः पाल्यमानः क्षुल्लककुमारो नामाऽभूत्, दीक्षितश्च तारुण्ये चारित्रं त्यक्तुकामो मातृमहत्तराचार्योपाध्यायैः क्रमाद् द्वादशद्वादशवर्षाणि स्थापितोऽष्टचत्वारिंशद्वर्षाणि स्थित्वा मातृदत्तनाममुद्रारत्नकम्बलयुत् पुण्डरीकान्ते गतो रात्रौ नाट्ये( नर्त्तित्वा ) प्रभाते किञ्चिन्निद्रापरां नर्तकीं ज्ञात्वा नटो जनतोपकालेऽद्य रङ्गभङ्गो नाऽर्ह इति गीतिं जगौ-' सुट्ठु गाइयं० ' ' सामे 'ति श्यामेऽप्रसूते( श्यामायां ) सुन्दरि ! अनुपालितसर्वरात्रिः सती ' ओ सुमिणंते 'ओ इति सम्बोधने, स्वप्नान्ते निद्रान्तवेलायां मा प्रमादीः। गीतिं श्रुत्वा क्षुल्लकः कम्बलरत्नं ददौ, युवराजः कुण्डलं, श्रीकान्ता सार्थेशपत्नी हारं, जयसिंहमन्त्री कटकं, कर्णपालो मेंठोऽङ्कुशं च, लक्षमूल्यान्येतानि, प्राता राज्ञः पृच्छा, क्रमादुत्तरं-क्षुल्लककुमारस्य राज्येच्छेत्यादि। युवराजादीनां क्षुल्लककुमारसार्धं दीक्षा, गतेशामस्वलोभता ॥ १२८३-८५ ॥ अथ तितिक्षा ' इंद ' ' अग्गि '

इंदपुर इंददत्ते, बावीस सुया सुरिंददत्ते य। महुराए जियसत्तू, सयंवरो निव्वुईए उ ॥१२८६॥
अग्गियए पव्वयए, बहुली तह सागरे य बोद्धव्वे। एगदिवसेण जाया, तत्थेव सुरिंददत्ते य॥१२८७॥

इन्द्रपुर इन्द्रदत्तो राजा, तस्येष्टदेवीनां द्वाविंशतिपुत्राः, एकाऽमात्यसुता प्रिया सा द्विष्टा, तां स्नातां दृष्ट्वा प्रश्नेन प्रियां

ज्ञात्वा तया सहैकरात्रं रेमे गर्भाधानं, पितुरमात्यस्य पुत्र्या कथितं, तेन दिनवेलाराजोल्लापादि लिखितं । तस्याः सुरेन्द्रदत्तः सुतोऽभूत् । तद्दिनजाताश्चत्वारो दासा अग्निकः पर्वतो बहुलकः सागरश्च । पण्डितेन सुरेन्द्रो द्वाविंशतिराजसुतेषु विलगत्स्वपि द्वासप्ततिकलाः शिक्षितः । २२ कुमारास्त्वन्यायिनो मातृवाक्यादताडिता मूर्खा एवाऽस्थुः । इतश्च मथुरायां जितशत्रुराड्, निर्वृत्तिः सुता राज्यप्रदा स्वयंवरा सेन्द्रपुरे आगता, ततो राधावेधकाले राज्ञोक्ताः २२ सुताः श्रीमालीमुख्या बाणान् चिक्षिपुः, परमेकोऽपि विज्ञो न, तेन यत्र तत्रेषुः पपात । राज्ञि विषण्णेऽमात्यो जगौ–इहगभिज्ञानेन जातस्त्वत्सुतः सुरेन्द्रदत्ताख्योऽयं राधां भेत्स्यतीति । स तु चतुर्षु दासेषु २२ सुतेष्वालिं(बोलं) कुर्वत्सु, नरद्वयेऽसिभ्यां भयं कुर्वति, गुरुणाऽपि तर्ज्यमानोऽधोदृष्टिरूर्ध्वमुष्टिरष्टचक्रछिद्राणि ज्ञात्वेषुणा वामराधा विद्धा, महामहोऽभूदेषा द्रव्यतितिक्षा । यथा कुमारस्तथा साधुर्दासाश्चत्वारः कषायाः, कुमारा द्वाविंशतिः परीषहा, नरौ रागद्वेषौ, वेध्या राधाक्षितारका विशिष्टाऽऽराधना ज्ञेयाऽऽराधनापताका निर्वृतिः सिद्धिः ॥ १२८६–८७ ॥ अथाऽऽर्जवं 'चंपा'

**चंपाए कोसियज्जो, अंगरिसी रुद्दए य आणत्ते । पंथग जोइजसाविय, अब्भक्खाणे य संबोही ॥१२८८॥**

चम्पायां कौशिकार्योपाध्यायः, शिष्यावङ्गरुद्रौ, अङ्गस्यर्जुत्वादङ्गर्षीत्याख्या । तयोः पण्डितस्य दार्वर्थमाज्ञसिरादेशोऽङ्गोऽटव्याः काष्ठानि लात्वाऽऽयातः, रुद्रोऽह्नि रन्त्वा सायं बहिर्गतोऽङ्गमायान्तं दृष्ट्वा पण्डितभयाज्ज्योतिर्यशां वत्सपालीं पुत्रस्य पन्थकस्याऽन्नं दत्त्वा काष्ठान्यादायाऽऽयान्तीं हत्वा, गर्त्ते क्षिप्त्वाऽन्याऽध्वना पुरत एतः पण्डिताग्रे त्वदङ्गयशिष्येण दासी हतेत्यभ्याख्यानं जगौ । ततोऽङ्गः पण्डितेन निर्घाटितो वने गतः शुभाध्यवसायेन जातिं स्मृत्वा केवली जातः, देवैरुक्तं–

रुद्रेणालं दत्तं, रुद्रो लोकनिन्द्यमानः स्वकर्म गर्हन् प्रत्येकबुद्धोऽभूत्। ब्राह्मणो ब्राह्मणी च दीक्षिते सर्वे सिद्धाः, एवमृजुता कार्या ॥ १२८८ ॥ शुचिः सत्यं, सत्यं च संयमवत्त्वं, शुचिरेव शौचं, तत्र दृष्टान्तः–' सोरि '

**सोरिअ सुरंवरेवि य, सिट्ठी य धणंजए सुभद्दा य। वीरे अ धम्मघोसे, धम्मजसेऽसोगपुच्छा य ॥१२८९॥**

सूर्यपुरे सुरंवरो यक्षस्तत्र श्रेष्ठी धनञ्जयः, सुभद्रा भार्या, ताभ्यां सुरम्वरयक्षाय पुत्रार्थं महिषशतं मानितं, पुत्रोऽभूदत्रान्तरे श्रेष्ठिना श्रीवीरान्तिकेऽणुव्रतान्यादृतानि यक्षेण महिषान् याचितो निजाङ्गं शतधा विभज्य कतिपयखण्डान् ददौ, यक्षः प्रबुद्धः एष देशविरतत्वादेशशुचिः। अथ सर्वशुचिः सौर्यपुरे श्रीवीर आगाच्छिष्यौ धर्मघोषधर्मयशसौ, अशोकवृक्षाधो गुणयतश्छाया न चलति, ततः प्रभुपार्श्वे पृच्छा कृताऽर्हन्नाह ॥ १२८९ ॥ ' सोरि '

**सोरियसमुद्दविजए, जन्नजसे चेव जन्नदत्ते य। सोमित्ता सोमजसा, उंछविही नारदुप्पत्ती ॥१२९०॥**

सूर्यपुरे समुद्रविजयराज्ञः काले यज्ञयशास्तपस्वी, यज्ञमित्रा प्रिया, पुत्रो यज्ञदत्तस्तत्प्रिया सोमयशास्तयोर्नारदाख्यसुतस्योत्पत्तिर्जाता, पितरौ बालमशोकच्छायायां मुक्तोञ्छविधिं कुरुतः ॥ १२९० ॥ ' अणु '

**अणुकम्पा वेयड्ढो, मणिकंचण वासुदेव पुच्छा य। सीमंधरजुगबाहु, जुगंधरे चेव महबाहू ॥१२९१॥**

जृम्भकदेवैर्नारदं वृक्षाधो दृष्ट्वा स्वनिकायच्युतं ज्ञात्वाऽनुकम्पया वृक्षच्छायाऽस्तम्भि, वलमानैर्वैताढ्ये नीत्वा विद्याः शिक्षितः। स मणिपादुकाकाञ्चनकुण्डिकाभिर्नभसि चरत्यन्यदा द्वारिकां गतो वासुदेवस्य पृच्छा ' किं शौचमिति ? ' उत्तरं

दातुमक्षमः प्राग्विदेहे श्रीसीमन्धरान्ते गतो युगबाहुहरिं किं शौचमिति पृच्छन्तं प्रभुं च सत्यं शौचमित्युत्तरयन्तं श्रुत्वा तथाऽपरविदेहे श्रीयुगमन्धरं महाबाहुहरिपृष्टं सत्यं शौचमिति वदन्तं श्रुत्वाऽऽगम्य कृष्णं प्रति सत्यं शौचं जगौ। कृष्णेन किं सत्यमिति पृष्टस्तदजानानो यत्रैतत् पृष्टं तत्र सत्यमपि प्रष्टव्यमिति हसितो जगौ सत्यं प्रभुर्न पृष्ट इति ततो ध्यायन् जातजातिस्मृतिः प्रत्येकबुद्धोऽभूत्, प्रथमं सत्याख्यमध्ययनं जगादेति शौचाद्योगाः संगृहीताः ॥ १२९१ ॥

सम्यक्त्वे 'साए'

**साएयम्मि महाबल-विमलपहे चेव चित्तकम्मे य। निप्फत्ति छट्ठमासे, भुमीकम्मस्स करणं च ॥१२९२**

साकेते महाबलो राड्, विमलप्रभाकरौ चित्रकारौ। राज्ञा दूतः पृष्टोऽन्यनृपेभ्यो मे किमूनं? दूतेन चित्रसभेत्युक्ते तयोश्चित्रकृतोः सभा विभज्याऽर्पि, एकेन चित्रं परेण भित्तेः परिकर्म कृतं। षष्ठे मासे चित्रस्य निष्पत्तिर्भूमिकर्मणः करणं च जातं। द्वयोरन्तरे यवनिकाऽभूत्, सा राज्ञाऽपनीताऽन्यभित्तौ प्रतिबिम्बे दृष्टे तुष्टेन तथैवाऽस्थाप्येवं सम्यक्त्वं निर्मलं कार्यं ॥ १२९२ ॥

समाधौ 'णय'

**णयरं सुदंसणपुरं, सुसुणाए सुजस सुवए चेव। पव्वज्ज सिक्खमादी, एगविहारे य फासणया ॥१२९३॥**

सुदर्शनपुरं नगरं, तत्र सुसुनागश्रेष्ठी, सुयशाः प्रिया, सुतः सुव्रतो गुणी सभाग्यः। स यौवने प्रव्रज्य शिक्षादि–द्विविधां शिक्षामादितः सिद्धान्तरहस्यं ज्ञात्वैकत्वविहारप्रतिमां स्थितः। शक्रेण तत्प्रशंसा कृता, देवाभ्यां क्रमादहो! ब्रह्मचारीति

स्तुत्याऽधन्योऽयं कुलोच्छेदक इति निन्दया परीक्षितः सममना एवाऽभूदेवं पित्रोर्विपयसेवाकृत्यं तथा पित्रोः कदर्थनारूपं पाञ्दर्शि, तथा ऋतून् विकुर्व्य स्त्रीश्च कृत्वा तद्विलापान् ' फासणय ' त्ति तासामालिङ्गनादिना स्पर्शना दर्शिताः, परं सुप्र-तस्य मनः समाधिमदेवाऽभूत्ततः केवली जातः ॥ १२९३ ॥ अथाऽऽचारः सत्याचारः ' पाड '

**पाडलिपुत्त हुयासण, जलणसिहा चेव जलणडहणे य। सोहम्मपलियपणए, आमलकप्पाइ णट्टविही ॥**

पाटलिपुत्रे हुताशनो विप्रो ज्वलनशिखा प्रिया, श्राद्धे पुत्रौ ज्वलनो दहनश्च चत्वारि दीक्षितानि। तत्र ज्वलन ऋजुर्दहनो मायी, अन्यस्मिन्नुक्तेऽन्यदेव कुरुते, द्वावपि मृतौ सौधर्मे शक्रान्तरपर्षदि पञ्चपल्यायुषौ सुरौ जातौ। आमलकल्पायां अंबसालवने श्रीवीरसमवसृते द्वौ नाट्यविधिं कर्तुमायातौ। एको यादृशं चिन्तयति तादृशं कुरुतेऽन्यस्तु ऋजुनाट्यं करिष्य इति चिन्तयति परं वक्रमेव जायते, ततो गौतमपृष्टोऽर्हन् प्राग्भवमूचे, तत आचारोपगतेन भाव्यं ॥१२९४॥ अथ विनयः—'उज्जे'

**उज्जेणी अंबरिसी, मालुग तह निंबए य पव्वज्जा। संकमणं च परगणे, अविणय विणए य पडिवत्ती ॥**

उज्जयिन्यामम्बर्षिर्द्विजो मालुका प्रिया, निंबकः सुतः, श्राद्धाः, प्रियामृतौ पितृपुत्रयोः प्रव्रज्या, पुत्रोऽविनीतः, कायिकीभुवि कण्टकान् क्षिपति, स्वाध्याये क्षौति कालं हन्ति। सर्वसामाचारीविपर्यासं चक्रे। ततः साधुभिर्गुरूणामुक्तं, सोऽविनये सति निष्का-सितः। पिता पृष्ठौ (पृष्ठे) निर्गतः, परगणेऽन्याचार्यान्ते संक्रमणं कृतं, ततोऽपि दोषान्निक्षिप्तावेवमवन्त्यां पञ्चशतोपाश्रयेषु सर्वे-र्भिर्निक्षिप्तस्ततः पितरि संज्ञायां गते रुदति पुत्रोऽवक् किं रोदिषि ? इति, स आह तव निम्बकाह्वा नाम्नैव कृता न तु गुणैरथ

त्वदाचारैरहमपि स्थितिं न लभे न चोत्प्रव्रजितुं युक्तं, ततः क्षुल्लकस्याऽप्यधृतिर्जाता वक्ति क्षान्तः (?) एकशः काऽपि स्थानं लभे (लभस्व), पिताऽऽह नाऽऽप्यते। यदि न, तदा दीक्षकाणामेव पार्श्वे गम्यत इति । तत्र गतौ साधवः क्षुब्धा गुरवो जगुर्माऽऽर्या एवं भवन्तु । प्राघुर्णकावद्य श्वो वा यास्यत इति स्थितौ। क्षुल्लकः(त्रिः) ३ उचारकायिकीभूमिं प्रतिलिखति, सर्वां सामाचारीं कुरुते, तुष्टाः साधवः, विनये सति प्रतिपत्तिः कृता। स निम्ब आम्रक्षुल्लो जातस्तरतमयोगेन ५०० वसतिसाधव आराधिता यातुं न ददति। एवं पश्चात् स विनयोपगो विनयवानभूत् ॥ १२९५ ॥ अथ धृतौ मतिः 'नग'

**नगरी य पंडुमहुरा, पंडववंसे मई य सुमई य। वारीवसभारुहणे, उप्पाइय सुट्ठियविभासा ॥१२९६॥**

पाण्डुमथुरायां पाण्डवैर्दीक्षमाणैः पुत्रो राज्येऽस्थापि । ते श्रीनेमिं प्रति यान्तो हस्तिकल्पपुरे भिक्षां भ्राम्यन्तः श्रीनेमिनिर्वाणं श्रुत्वा, भक्तं पानं त्यक्त्वा, शत्रुञ्जयेऽनशनेन सिद्धास्तद्वंशे पाण्डुसेनो राट्, सुते मतिः सुमतिश्च, रैवतेऽर्हन्तं नन्तुं ताभ्यां वारिवृषभाख्यपोतारोहणे कृते उत्पातिकवाते जाते जनः स्कन्दरुद्रादिं नमति, ताभ्यां गाढतरमात्मा संयमे योजितः, भिन्नः पोतः, मृते सिद्धे, देहौ तीर्णौ, सुस्थितलवणेशा महः कृतो देवोद्योतश्च, ततः प्रभासं तीर्थं जातं । द्वयोरपि धृतिमत्या योगसंग्रहः ॥ १२९६ ॥ सम्यगुद्वेगः संवेगस्तत्र 'चंपा' 'चंद'

**चंपाए मित्तपभे, धणमित्ते धणसिरी सुजाते य। पियंगू धम्मघोसे य, अरक्खुरी चेव चंदघोसे य ।१२९७।**

**चंदजसा रायगिहे, वारत्तपुरे अभयसेण वारत्ते। सुसुमार धुंधुमारे, अंगारवई य पज्जोए ॥ १२९८॥**

चम्पायां मित्रप्रभो राट्, धारिणी प्रिया, धनमित्रः सार्थेड्, धनश्रीः प्रिया, तयोरुपायशतैः पुत्रो जातः, लोको वक्ति योऽत्र समृद्धकुले जातस्तस्य सुजातं, द्वादशाहे निवृत्ते सुजाताह्वाऽभूत् । स किल देवकुमारानुरूपस्तस्य ललितं भणितमन्येऽनुशिक्षन्ते । पितरौ सुतश्च श्राद्धास्तत्र धर्मघोषोऽमात्यः, प्रियङ्गुर्भार्या, सा शृणोति सुजात ईदृश इति । अन्यदा दासीर्वक्ति यदा सुजात इतो याति तदा मे वाच्यं यथेक्षे, अन्यदा स मित्रयुक्तेनाऽध्वनैति, दासीभिः प्रियङ्ग्वा उक्तं, सा निर्गताऽन्या अपि सपत्न्यः संपश्यन्ति वदन्ति च धन्या सा यस्या अयं पतिः । अन्यदा ता मिथो वदन्त्यहो ! सुजातस्य लीला, ततः प्रियङ्गुः सुजातस्य वेषं कृत्वाऽऽभरणवस्त्रादितुल्यतया रमते स्म । यथैवं यात्येवं हस्तक्षोभस्तस्येत्यादि । मन्त्र्यागतोऽन्तःपुरं निःशब्दमिति द्वारिच्छद्रेणेक्षते, दृष्टाः पत्न्यश्चेष्टाः कुर्वन्त्यस्ततो विनष्टं शुद्धान्तमिति ध्यात्वा छन्नं सुजातं हन्तुमीक्षते, तत्पिता तु राज्यमान्यस्तेन मा ततो मे मृतिरिति भयं च चिन्तयति । अन्यदा लब्धोपायो मित्रप्रभस्यारिस्तन्नाम्ना सुजातयोग्यान् 'यथा तव(त्वयि) विश्वासो राज्ञः, ततस्त्वया राजा घात्यो राज्यार्धं तवास्तु इति' कूटलेखान् कृत्वा कूटलेखधरान् राज्ञोऽमेलयत् । राट् क्रुद्धो दूता अवध्या इति ते मन्त्रिणा छन्नीकृताः । राजा तु लोकज्ञाते कृते पुरे क्षोभो भावी इति उपायेन सुजातहननाय स्वदेशान्तरे अरक्षुरीपुर्यां चन्द्रध्वजराज्ञे लेखं प्रेषीयथा सुजातं प्रेषयामि त्वया घात्य इति । ततः सुजातस्तत्र द्वितीयो भूत्वा राजकार्याणि प्रेक्षस्वेत्युक्त्वाऽरक्षुरीं प्रैषि । दृष्टश्चन्द्रध्वजेन, विश्वस्तोऽस्तु, ततो हनिष्यामीति कृत्वा दिने दिने द्वावेकत्र रमेते । स सुजातस्य रूपं दृष्ट्वा दध्यौ नूनं राज्ञ्या सह विनष्ट इति मार्यते राज्ञा । ततः कथमीदृग्रूपं हन्मीति सुजाताय लेखमदर्शयत् । सुजातेनोक्तं यद्वेत्सि तत्कुरु, स आह न त्वां हन्मि छन्नस्तिष्ठेति भूमिगृहे क्षिप्तः, स्वसा चन्द्रयशा दत्ता, सा कुष्ठिनी तद्योगेन सुजातोऽपीपत्कुष्ठी जातस्तेन सा

श्राद्धी कृता दध्यौ महोपेणैषोऽपि विनष्ट इति संवेगादनशनात्तेन निर्यामिता देवोऽभूदवधिना ज्ञात्वैत्य नत्वाऽऽह किं कुर्वे ? सोऽपि संवेगाज्जगौ 'यदि पितरौ मिलतस्ततो वीक्षे, ततः सुरश्चम्पाया ऊर्ध्वं शिलां विचक्रे, राजा पौराश्च धूपहस्ताः पादपतिता विज्ञपयन्ति । देवोऽवग् हा ! दासाः ! श्रावकोऽमात्येन मुधाऽधर्षि, अद्य वश्चूरये, ततो मुञ्चे यद्यानयत, राजाद्या आहुः क्व ? स देवोऽवगुद्यानेऽस्तीति । स सुरेण तत्राऽऽनीतः, सुरूपः कृतः, राज्ञा सपौरेण गत्वा क्षामितः, स प्रव्रजितः पितरौ च, त्रीणि सिद्धानि । राज्ञा धर्मघोषो निर्विषयीकृतो राजगृहे स्थविरान्ते दीक्षितो बहुश्रुतो जातो विहरन् वारत्रपुरेऽगात्तत्राऽभयसेनो राड्, वारत्तो मन्त्री, साधुर्भिक्षार्थी वारत्तगृहं गतस्तत्र खण्डघृतयुक्तपायसस्थालं निष्कासितं, ततो बिन्दुः पतितः । स च परिशाटित्वान्नैच्छद्, वारत्तो गवाक्षेणेक्षते । कुतः साधुर्नैच्छदिति तस्य ध्यातुर्यावत्तत्र मक्षिका लीनास्ता लातुं पल्ल्यस्ता लातुमोतुस्तमनु गृहप्रान्तश्वा तमनु वास्तव्यः श्वाऽऽयातः, स त्वन्यशुना भण्डते, तावत्स्वस्वामिनौ भण्डेते, मारामारौ, बहिर्निर्गतयोर्द्वयोः श्वेशोर्बलं मिलितं, महासंग्रामोऽभूत्ततो वारत्तको दध्यावेतेन हेतुना नाऽऽत्तं साधुनेति शुभाशयाज्जातिं स्मृत्वा बुद्धः, सुर्या भाण्डकं दत्तं वारत्तकर्षिर्विहरन् सुसुमारपुरं गतः । तत्र धुन्धुमारो राट्, तस्याऽङ्गारवती सुता रूपिणी श्राविका, तया परिव्राजिकैका वादे जिता, सा द्वेषादध्यौ कन्यां सपत्नीदुःखे पातयामीति चित्रे तस्या रूपं लिखित्वाऽवन्त्यां प्रद्योतस्य दर्शितं । प्रद्योतेन तस्याः कृते दूतः प्रैषि, स धुन्धुमारेणाऽसत्कृत एतः, प्रद्योतः क्रुद्धो निर्गत्य सुसुमारं रुरोध । धुन्धुरल्पबलोऽन्तस्तस्थौ । वारत्तकर्षिर्यक्षगृहे चत्वरान्ते स्थितोऽस्ति । धुन्धुर्भीतो नैमित्तिकं पृच्छति, स निमित्ताय यान् बालानि भीतानि वारत्तकान्ते गतानि रुदन्ति तेन मा भैष्टेत्युक्तानीति श्रुत्वा नृपमाह तव जयोऽस्ति । ततः स मध्याह्ने

प्रद्योतर्मन्ये पतितो बध्वा प्रद्योतः पुरे नीतो महाराडित्यवध्यो महर्द्ध्याऽङ्गारवतीमुदवाहयद्, द्वाराणि मुक्तानि, प्रद्योतस्तत्र स्थितः। अन्य आहुस्तेन सुर्यै उपचारः कृतः, सुर्या डिम्भानि कृतानि निमित्तं ग्राहितं। प्रद्योतः पुरं भ्राम्यन्नीक्षतेऽल्पबलं धुन्धुमङ्गारवतीं पप्रच्छ कथमहं बद्धः, तया साधुगीरुक्ता, ततः साधुमूचे वन्दे नैमित्तिकक्षपक! इति। स भगवानुपयुक्तो गाराद् बालरूपाणि स्मृतानि। चन्द्रयशःसुजातधर्मघोषचारत्तकैः संवेगाद्योगाः संगृहीताः ॥१२९७-९८॥ केऽपि सम्बन्धमङ्गारर्त्तादीक्षां गारद्वदन्ति। प्रणिधिर्माया सा भावतो द्रव्यतश्च, तत्र 'भरु'

भरुयच्छे जिणदेवो,भयंतमिच्छे(त्ते) कुणाल भिक्खू य। पइठाण सालवाहण,गुग्गुलभगवं च णहवाहणे।

भृगुकच्छे जिनदेवो गुरुस्तत्र भदन्तमित्रः कुणालश्च बन्धू बौद्धौ वादिनौ पटहं वादयतः, सूरिश्चैत्यवन्दनके गतः श्रुत्वा अवादयत्, गजकुले वादे जितौ चिन्त्यतोऽस्य सिद्धान्तं विनोत्तरदानं नेति दम्भाद्दीक्षितौ, पठतोः श्रुतं परिणतं भावतः प्रपद्य साधू जातौ। एषा भावे प्रणिधिः। भृगुपुरे नहवाहनं नृपं समृद्धं प्रतिष्ठानाच्छालिवाहनः सबल एत्याऽरुणत्। नहवाहनो यो वैरिशिरःशीर्षाण्यानयेत्तस्य लक्षं कोटिं दत्ते। एवं तत्परे रिपुनरा हतास्ततः क्षीणनरो रिपुर्व्वबले। एवं द्वितीयवर्षेऽप्येतो नष्टः, एवं काले यान्यमात्येनोक्तं मां दोषान्निर्विषयी कुरु, कुटुम्बं बधान। तेन तथैव कृते स प्रतिष्ठानान्निर्गत्य, गुग्गुलभारं लात्वा भृगुं गतश्चैत्येऽस्थात्। अन्यराजैर्ज्ञातं हालेन मन्त्री निःक्षिप्त इति। भृगुपुरे कैः कैः पृष्टः कोऽसीत्यजानतां वक्ति गुग्गुलभगवक्षामाऽहं, जाननां तु वक्ति राज्ञैवं कृतः, नहवाहनेन ज्ञात्वा स्वयमेत्य स्वमन्त्रित्वेऽस्थापि। मन्त्री नृपं विश्वास्योचे पुण्यै राज्यं लभ्यते ततोऽन्यभवस्य शम्बलं कार्यमिति। चैत्यकूपवाप्यादीन् विधाप्य स स्वहीनः कृतः, हाल एतो मन्त्रिणाऽचालि।

हालस्तं जगौ त्वं परावृत्तः, स आह नैवं, परं राजपत्नीभूपणान्यस्य सन्ति ततो गमयामि, गतो हालो भूषणव्यये पुनरप्येतो देयाभावान्नहवाहनो नष्टः, पुरं हालेनाऽऽत्तमेपा द्रव्यप्रणिधिर्द्वाभ्यां मुक्ताभ्यां योगसंग्रहः स्यात् ॥ १२९९ ॥ सुष्ठु विधिः सुविधिर्यथा दयया 'बार' 'सो वा'

**बारवई वेयरणी, धन्नंतरि भविय अभविए विज्जे। कहणा य पुच्छियंमि य, गइनिद्देसे य संबोही ॥१३००॥**
**सो वानरजूहवई, कंतारे सुविहियाणुकंपाए। भासुरवरबोंदिधरो, देवो वेमाणिओ जाओ ॥ १३०१ ॥**

द्वारवत्यां वैतरणीधन्वन्तरी वैद्यौ, भव्योऽभव्यश्चेति हरिपृष्टेऽर्हतः कथना, तयोर्गतिनिर्देशो गतिश्चाऽर्हतोक्ता, वैतरण्या भवान्तरे सम्बोधिर्भवितेत्युक्तं। तथा धन्वन्तरिः श्रीनेमिसाधूनां रोगे सत्यशुद्धागदान्यूचे, स निर्दयः सप्तमभुवं गतः, वैतरणीस्तु साधूनां शुद्धौषधान्यूचे सदयः स मृतो गङ्गाविन्ध्ययोर्मध्ये यूथेशः कपिर्जातः, साधुं कण्टकवेदनया गच्छमनुज्ञाप्य दुःस्थाया-(न)स्थं ददर्श, जातिस्मृत्या प्राग्भवसाधून् स्मृत्वा तत्कण्टकव्रणं चाऽपि शल्योद्धरणशल्यरौहिण्यौषधीभ्यां प्रस्फेट्य, भुवि वर्णान् लिखित्वा, स्वभवं ज्ञापयित्वा साधूक्तधर्मात्रिदिनानशनादष्टमस्वर्गतोऽवधिनाऽऽगतः साधवे स्वर्द्धिं प्रदर्श्य साधुं गच्छे मेलयत्, सा सुविहितानुकम्पया सुविहितसाधुभक्त्या, उक्तः सुविधिः ॥ १३००-१ ॥ संवरे विपक्षदृष्टान्तः 'वारा'

**वाराणसी य कोट्ठे, पासे गोवालभद्दसेणे य । नंदासिरी पउमसिरी, रायगिहे सेणिए वीरो ॥१३०२॥**

वाराणस्यां भद्रसेनो जीर्णश्रेष्ठी, नन्दा भार्या, श्रीः पुत्री, सा वराऽप्राप्त्या वृद्धाकुमारी जाता। तत्र कोष्ठकचैत्ये श्रीपार्श्व-

ममप्रसूतौ दीक्षिता गोपालीसाध्व्याः शिष्यिणी दत्ता, सा प्रागुग्रं विहृत्य ततोऽवसन्ना करांह्री धावति द्रौपदीप्राग्भववत् । श्राविता भिन्नवसतिस्थिता तदनालोच्य मृता पद्महृदे श्रीदेवीवेश्याऽभूत्, राजगृहे श्रीवीराग्रे नाट्यं कृत्वा गता । कैषेति प्रभुः श्रेणिकेन पृष्टो वृत्तान्तमूचे । तया संवरो न कृतः, संवरस्तु कार्यः । अन्ये त्वाहुर्हस्तिनीरूपेण वायति ( रावान् करोति ) तदा श्रेणिकेन पृष्टं ॥ १३०२ ॥ आत्मदोषोपसंहारः कार्यो यथा नैवं मया कार्यमिति ' बार '

रोगस्स य उप्पत्ती, पडिसेहो अत्तसंहारो ॥१३०३॥
बारवइ अरहमित्ते, अणुद्धरी चेव तह य जिणदेवो ।

द्वारवत्यामर्हन्मित्रः श्रेष्ठी, अनुद्धरी प्रिया, श्राद्धो सुतो जिनदेवस्तस्य रोगस्योत्पत्तिः । वैद्याश्चिकित्सितुमशक्ता आहुर्मांसं खाद, तेन प्रतिषेधः कृतः, पित्रादिभिर्गाढमुक्तं परं तेनाऽऽत्मदोषोपसंहारः कृतः, म्रिये जीवामि वा तदापि सर्वसावद्यत्यागो मे, इति प्रव्रज्या कृता । शुभाशयात् केवलज्ञानं ॥ १३०३ ॥ सर्वकामविरक्तत्वे ' उज्जे '

संगयओ मणुमइया, असियगिरी अद्धसंकासा ।१३०४।
उज्जेणिदेवलासुय, अणुरत्तलोयणा य पउमरहो ।

उज्जयिन्यां देवलासुतो राजाऽनुरक्तलोचना प्रिया, अन्यदा राज्या नृपवालेषु पलितं दृष्ट्वोक्तं नाथ! दूत एतः, राजा ससम्भ्रम उत्थितस्ततो देव्याह धर्मदूत इति शनैरङ्गुल्यां संवेष्ट्य पलितमुत्खाय स्वर्णस्थाले क्षौमयुग्मे मुक्त्वा पुरं भ्रामितं, राजा संवेगात् पद्मरथं सुतं राज्ये मुक्त्वाऽनुक्तगर्भदेवीसंगतकदासमनुमतिकादासीभिः सह तापसोऽभूत् । असितगिरौ तापसाश्रमे जग्मुर्दासमदास्यौ कालेनोत्प्रव्रजिते, देव्या गर्भे वृद्धे राज्ञोऽधृतिर्जाताऽयशोऽभूदिति छन्नं तां सारयति । देवी सुवन्ती मृता, सुता

जाताऽन्यतापसीस्तन्या वृद्धाऽर्धसंकाशेति तस्या नाम दत्तं, सा यूनी जाता, तातमटव्या एतं विश्रामयेत्। स च तां वीक्ष्य कामातुरः स्याद( अभूद )न्यदा तां धावन्नुटजकाष्ठास्फालितः पतितो ध्यायत्यहं विद्ध इतीह लोके फलितममुत्र तु किं भावि? इति सम्बुध्धो जातिं स्मृत्वा 'भवियव्वं खलु भो सव्वकामविरएणं' इत्यध्ययनमाख्यत्, सुता साध्वीभ्यो दत्ता, द्वावपि सिद्धौ जातौ ॥ १३०४ ॥ प्रत्याख्यानं मूलगुणेषूत्तरगुणेषु चेति द्विधा, क्रमाद्दृष्टान्तौ 'कोडी' 'वाणा'

**कोडीवरिसचिलाए, जिणदेवे रयणपुच्छ कहणा य। साएए सत्तुंजे, वीरकहणा य संबोही ॥१३०५॥**

**वाणारसी य णयरी अणगारे धम्मघोस धमजसे। मासस्स य पारणए गोउलगंगा व अणुकंपा ॥१३०६॥**

कोटीवर्षदेशे चिलातो म्लेच्छराट्, तत्र जिनदेवोऽगाद्राज्ञो रत्नानि क्व? इति पृच्छा, जिनदेवस्य कथना, ततः साकेते शत्रुञ्जयोराट्, तत्र श्रीवीर एतः, धर्मकथनायां चिलातस्य सम्बोधिर्जाता। कथेयं—साकेते शत्रुञ्जयो राड्, जिनदेवः श्राद्धः, स दिग्यात्रायां कोटीवर्षं गतस्तत्र म्लेच्छाः, किरातो(चिलातो) राट्, श्राद्धस्तस्मै रत्नमणिवस्त्राणि ददौ, तानि तत्र न स्युः, राजाऽप्राक्षीदहो! रत्नानि क्वैतानि? स आहाऽस्माकं राज्ये स्युरिति च दध्यौ चेत्सम्बुध्येत, राजाऽऽहाऽहमेत्य रत्नानीक्षे (परं) त्वद्राज्ञस्तु बिभेमि, श्राद्धोऽवग् मा भैस्ततः श्राद्धः शत्रुञ्जयमचीकथत् तेनोक्तमेत्विति चिलातः साकेतमानीतः, श्रीवीरः समवसृतः, शत्रुञ्जयं सतन्त्रं महर्द्ध्या सपौरं यान्तं वीक्ष्य चिलातः श्राद्धं जगौ क्व जनो याति? स आह रत्नवणिजोऽन्ते, ततश्चिलातः सवणिग् द्रष्टुं निर्गतः, प्रभोश्छत्राद्यैक्षन् प्रभुमूचे—कथं रत्नानि? स्वाम्याह द्रव्यरत्नानि भावरत्नानि वा? तेनोक्तं कीदृंशि द्रव्यभावरत्नानि?

ननोऽङ्गना द्वेधाऽपि वर्णितानि । सोऽवग् मह्यं भावरत्नानि देहि । स्वाम्याह रजोहरणादीनि, ततः प्रव्रज्य तान्यादात् । एते मूलगुणाः, उत्तरगुणप्रत्याख्याने वाणारस्यां नगर्यामनगारौ धर्मघोषधर्मयशसौ चतुर्मास्यां स्थितौ । मासे मासे पार-यनम्तुर्ये मासस्य पारणे मा नित्यवासोऽस्त्विति सूत्रार्थपौरुष्यौ कृत्वा तृतीयायां पात्राद्युद्ग्राह्य चलितौ, शरत्तापतसौ तृषितौ गङ्गामुत्तरन्तौ मनसाऽप्यम्बु नेच्छतामुत्तारे गङ्गासुरी गोकुलानि विकुर्व्य साधू आकार्य दध्यादि दत्ते तावुपयुज्य तस्या रूप-गन्धौ दृष्ट्वाऽज्ञात्वा चलितौ तयाऽनुकम्पया वार्दलं कृतं तौ शीतवाताद्धायितौ ग्रामं प्राप्तौ ॥ १३०५–६ ॥ उक्तमुत्तरगुणप्रत्या-ख्यानं, द्रव्यभावव्युत्सर्गो यथा–' कर ' ' वस '

करकंडु कलिंगेसु, पंचालेसु य दुम्मुहो । नमीराया विदेहेसु, गंधारेसु य णग्गती ॥ २०८ ॥
वसभे य इंदकेऊ, वलए अंबे य पुप्फिए बोही । करकंडुदुम्मुहस्सा, नमिस्स गंधाररन्नो य ॥२०९॥

करकंडुः १, द्विमुखः २, नमी ३, निग्गतयं(नग्गती) ४, प्रत्येकबुद्धाः ४। भाष्यं, क्रमाद्बोधहेतवो वृषभ इन्द्रकेतुरिन्द्रस्तम्भो वलयं कङ्कणमात्रः पुष्पितो बोधिः प्रतिबोधः ॥ २०८–९ ॥ कलिङ्गेषु काञ्चनपुरे दधिवाहनपद्मावतीसुतः करकण्डुराड् गोकुल-गिरम्नेकोनो गौः सुलक्षणो दुग्धैः पोषितो युद्धकुशलो दृष्टः, कालेन वार्द्धक्ये स एव पड्कैर्भृष्यमाणो दृष्टस्ततो विषण्णो धर्मागन् ज्ञातिस्मृत्या प्रत्येकबुद्धोऽभूत्तदाह ' सेयं '

सेयं सुजायं सुविभत्तसिंगं, जो पासिया वसभं गोट्ठमज्झे ।
रिद्धिं अरु(रि)द्धिं समुपेहिया णं, कलिंगरायावि समिक्ख धम्मं ॥ २१० ॥

श्वेतं सुजातमहीनाङ्गोपाङ्गं गर्भदोषत्यक्तं, सुष्ठु शोभने विभक्तेऽमिलिते शृङ्गे यस्य तं, यो वृषभं 'पासिया' दृष्ट्वा, गोष्ठं गोकुलं तन्मध्ये, तस्य वृषभस्य ऋद्धिमनृ(ऋ)द्धिं च समुत्प्रेक्ष्य ध्यात्वा कलिङ्गदेशराजोऽपि धर्मं यतिधर्मं समैक्षिष्ट सम्यगीक्षामास प्रपेदे ॥ २१० ॥ ऋद्ध्यऋद्धिचिन्तनं यथा 'गोट्ठं'

गोट्ठंगणस्स मज्झे, ढेक्कियसद्देण जस्स भज्जंति । दित्तावि दरियवसहा, सुतिक्खसिंगा सरीरेण ॥२११॥

'ढेक्किय'त्ति त्राट्कृतशब्देन प्राग्दीप्तादीप्तवृषभा मत्तगावो भज्यन्ते ॥ २११ ॥ 'पोरा'

पोराणयगयदप्पो, गलंतनयणो चलंतवसभोट्ठो । सो चेव इमो वसहो, पड्डयपरिघट्टणं सहइ ॥२१२॥

अधुना स एव दृप्तवृषभः पुराणो जीर्णो गतदर्पश्चलद्दशनौष्ठश्चलन्तो दशना दन्ता ओष्ठौ च यस्य सः ॥२१२॥ इतः पञ्चालेषु काम्पील्ये द्विमुख इन्द्रकेतुं लोकैरर्च्यमानं बहुध्वजसहस्रालङ्कृतं दृष्ट्वा, पुनः पतितं विलिप्तं विण्मुत्रविलिप्तं दृष्ट्वा सम्बुद्धः । 'जो इंद'

जो इंदकेउं समलंकियं तु, दुट्ठं पडंतं पविलुप्पमाणं ।
रिद्धिं अरिद्धिं समुपेहियाणं, पंचालराया व समिक्ख धम्मं ॥ २१३ ॥

मिथिलायां नमी दाहज्वरे जाते देवीषु चन्दनं घर्षन्तीषु वलयखलखलशब्दे ऊचे मे कर्णघातः स्यादिति, ताभिरेकैकोत्तार एकैकस्मिन् करयोः स्थिते राजा वक्ति वलयानि न शब्दयन्ति, देवीभिरूचेऽपनीतानि, ततः स दुःखाक्रान्तः परलोके मतिर्दध्यौ–अहो ! बहुषु दोषो नैकस्मिन्, ततः सम्बुद्धः ॥ २१३ ॥ 'बहु'

**बहुयाणं सद्दयं सोच्चा, एगस्स य असद्दयं । वलयाणं नमीराया, निक्खंतो मिहिलाहिवो ॥२१४॥**

गन्धारदेशे पुरुष( पुरिम )पुरे पुरे नग्गती राड्, राजपाट्यां यान् चूतं वरं दृष्ट्वा मञ्जरीं ललौ शेषैर्यावत्काष्ठं कृतः, राजा निवृत्तोऽपृच्छत् क स चूतः ? मन्त्र्यूचेऽयं, सः कथमेवं जातः ? मन्त्र्याह यथा भवद्भिर्मञ्जरी तथा सर्वैरपि आत्तं । स दध्यौ एवं राज्यश्रीरप्यस्थिरैवेति प्रबुद्धः ॥ २१४ ॥ 'जो चू'

**जो चूयरुक्खं तु मणाहिरामं, समंजरिपल्लवपुप्फचित्तं ।**
**रिद्धिं अरिद्धिं समुपेहिया णं, गंधाररायावि समिक्ख धम्मं ॥ २१५ ॥**

यश्चूतवृक्षं, मंजर्यः पल्लवाः पुष्पाणि च मंजरीपल्लवपुष्पाणि तैः सह चित्रं पूर्वं दृष्ट्वैवमृद्धिं, ततोऽनृ(ऋ)द्धिं समुत्प्रेक्ष्य ध्यात्वा गन्धारराजोऽपि धर्मं समैक्षिष्ट, प्रत्येकबुद्धानां दीक्षायां कार्त्तिकी राका, राकासमयेऽपि सदाफलाम्रत्वान्मञ्जर्यादि ॥ २१५ ॥

एते चत्वारोऽपि जातिं स्मृत्वा प्राग्भवैवाधीतैकादशाङ्गस्मर्तारः प्रव्रज्य विहरन्तः क्षितिप्रतिष्ठिते चतुर्द्वारे देवकुले यक्षचैत्ये क्रमात्पूर्वादिद्वारेषु विविशुर्व्यन्तरो भक्त्या क्रमाच्चतुर्मुखोऽभूत्तत्र करकण्डोर्बाल्यात् कण्डूरस्ति तेन कण्डूयनं लात्वा शनैः

शनैः कर्णं कण्डूयित्वा क्वापि गोपितं, तद्दृष्ट्विमुखो वीक्ष्योचे 'जया रज्जं च रट्ठं च पुरं अंतेउरं तहा। सव्वमेयं परिच्चज्ज संचयं किं करेसिमं ?' ॥ १ ॥ किं करिष्यसीमं संचयं ? यावत् 'करकण्डुर्न वक्ति तावन्नमी आह–' जया ते पेइए रज्जे कया किच्चकरा बहू। तेसिं किच्चं परिच्चज्ज अन्नकिच्चकरो भवं' ॥ २॥ यदा त्वया पैतृके( राज्ये ) बहवः कृत्यकराः कृतास्तेषां कार्यं त्यक्त्वाऽन्यकृत्यकरो भवानस्ति, यदस्य शिक्षां दत्से। २। ततो नग्गती 'जया सव्वं परिच्चज्ज मोक्खाय घडसी भवं। परं गरिहसी कीस ? अत्तनीसेसकारए' ॥ ३ ॥ सर्वं परित्यज्य भवान् मोक्षाय घटते चेष्टते परं केन हेतुना गर्हसि ? आत्मनो निःश्रेयसकारक ! । ३। ततः करकण्डुर्द्विमुखमाह—'मोक्खमग्गं पवण्णाणं साहूणं बंभयारिणं। अहियत्थं निवारन्ते न दोसं वत्तुमरिहसि' ॥ ४ ॥ अहितार्थं निवारयन् दोषं वक्तुं नार्हसि। ४। 'रूसउ वा परो मा वा, विसं वा परिअत्तउ। भासियव्वा हिया भासा सपक्खगुणकारिणी ॥ ५॥ परो रुष्यतु वा, मा वा रुष्यतु, विषं वा परिवर्त्ततां विषं वा भवतु, हिता भाषा भाषितव्या स्वपक्षे आत्मनो गुणकारिका। ५। 'जहा'

**जहा जलंताइ (त) कट्ठाइं, उवेहाइ न चिरं जले। घट्टिया घट्टिया झत्ति, तम्हा सहह घट्टणं ॥१३०७॥**

यथा ज्वलन्ति काष्ठान्युपेक्षयाऽनुद्यमेन न ज्वलन्ति, घटितानि घटितान्यग्रतोऽग्रतः कृतानि झटिति ज्वलन्ति, तस्माद्-घट्टनं परप्रेरणं सहत भो लोकाः ! ॥ १३०७ ॥ 'सुचि'

**सुचिरंपि वंकुडाइं, होहिंति अणुपमज्जमाणाइं। करमद्दिदारुयाइं, गयंकुसागारबेंटाइं ॥ १३०८ ॥**

गजाङ्कुशाकारसमानि वृत्तानि मूलानि येषामिदंशि करमन्ददारुणि सुचिरं वक्राण्यप्यनु पश्चात्स्नेहादिना ऋजुक्रियमाणानि ऋजूणि भविष्यन्ति ॥ १३०८ ॥ एषां चतुर्णां द्रव्योत्सर्गो राज्यादेस्त्यागः, भावोत्सर्गः क्रोधादेः । अप्रमादे 'राय'

**रायगिहमगहसुंदरि, मगहसिरी पउमसत्थपक्खेवो। परिहरियअप्पमत्ता, नट्टं गीयं नवि य चुक्का॥१३०९**

राजगृहे जरासन्धराजा, पात्रे मगधसुन्दरीमगधश्रियौ, मगधश्रीर्दध्यौ यद्येषा न स्यात्तदा मम एकस्या राजा वशे स्यादिति। अन्यस्याश्छिद्रं ध्यागन्त्यन्यदा नाट्याहे स्वर्णपद्मेषु कर्णिकाराभिधानेषु विषमिश्रस्वर्णशूचीरूपाणां शस्त्राणां प्रक्षेपः कृतस्त-त्त्वद्रुष्ट्रा दध्यौ—अलयः कर्णिकारेषु न लीयन्ते, चूतकुसुमेषु लीयन्ते, नूनं सदोषाणि पुष्पाणि, चेत्स्पष्टं वक्ष्यते ततो ग्राम्यत्वं भावि, ततो मङ्गलं गायन्त्याह–'पत्ते'

**पत्ते वसंतमासे, आमोअ पमोअए पवत्तंमि। मूत्तूण कण्णिआरए, भमरा सेवंति चूअकुसुमाइं॥ १३१०**

वसन्तमासे प्राप्ते सति प्रमोददे आमोदे सुगन्धपरिमले प्रवर्तिते सति, तच्छ्रुत्वा पात्रं दध्यौ—अपूर्वेयं गीतिर्ज्ञातं सदो-षकर्णिकाराणीति सा त्यक्त्वाऽप्रमत्ता नृत्यं गीतं च कुर्वन्ती 'न (वि य) चुक्का' न छलितैवं साधोरपि पञ्चप्रमादेभ्यः स्वं रक्षतो योगसंग्रहः ॥ १३०९ ॥ लवालवे–अर्धलवे प्रमत्ततायां 'भरु'

**भरुयच्छंमि य विजए, नडपिडए वासवासनागघरे। ठवणा आयरियस्स(उ), सामायारीपउंजणया॥**

भृगौ कोऽपि गुरुस्तेन विजयः शिष्योऽवन्त्यां कार्येऽप्रैषि, स च ग्लानकार्यव्याक्षेपेणाऽन्तरा वर्षाभी रुद्धोऽण्डगतृणं जातं।

नटपिटकग्रामे नागगृहे वर्षासु स्थितो दध्यौ गुरुकुलवासो नाऽभूदिहापि कुर्व इति स्थापनाचार्यं कृत्वा कालं लात्वाऽऽवश्यकं कायोत्सर्गं कृत्वा, वन्दित्वाऽऽलोचयन्मध्येऽपि वन्दित्वा प्रत्याख्यन् पश्चात्कालं निवेद्य स्वयं तथेत्यूचे, एवं चक्रवालसामाचार्यपि ज्ञेया। एवं किल क्षणे क्षण उपयुक्तः 'किं मे कयं किं च मे किच्चसेसं' इत्यादि चिन्तावांस्तस्थौ ॥ १३१० ॥ उक्तो लवालवः, ( अथ ) ध्यानं 'नग'

**नगरं च सिंबवद्धण, मुंडि(अ)म्बयअज्जपूसभूई य। आयाणपूसमित्ते, सुहुमे झाणे विवादो य ॥१३१२॥**

शाम्ब(शिम्बा)वर्धनं पुरं, तत्र मुंडेवगो (मुण्डिकाम्रको) राडार्यपुष्पभूतिसूरिभिर्बोधितः श्राद्धोऽभूत्तच्छिष्यः पुष्पमित्रोऽन्यत्राऽवसन्नोऽस्ति। अन्यदा गुरुर्दध्यौ सूक्ष्मे ध्याने विशामि तच्च महाप्राणसदृशं तत्प्रवेश एवं योगरोधः स्याद्यथा किमपि न वेद्यते, गुरुणा शिष्या अगीतार्था इति पुष्पमित्रानयनं कृतं, तस्योक्त्वोपवरके निर्व्याघाते ध्यायति, पुष्पः साधून् गुरुपार्श्वे गन्तुं न दत्ते, वक्त्यत्रस्था वन्दध्वं। अन्यदा शिष्यैरालोच्योक्तं किं भवेत्तावद्वीक्षामहे ? इत्येकोऽग्रे भूत्वेक्षते यावत्सूरिर्न चलति न स्पन्दते च, ततः सोऽन्यानूचे। तेऽपि वीक्ष्य रुष्टाः पुष्पं जगुः–आर्य ! त्वं गुरून् मृतानपि नाऽऽख्यासि। सोऽवग् न, ध्याने एव, मा व्याघातः, ततोऽन्यर्षयोऽवदन्नेष लिङ्गी वेतालं सिसाधयिषुः सल्लक्षणान् सूरीशान्मृतान् न वक्त्यद्य रात्रौ परीक्षध्वमेवं तेन सह विवादो लग्नस्तेन वारिता नृपमुत्थाप्यानिन्युः, सूरिर्मृतः परं लिङ्गी निष्कासितुं न दत्ते इत्याहुः, राजाऽपि गुरुं वीक्ष्य प्रत्येति मृत इत्यन्यं पुष्पोक्तं न मन्यते। शिबिका सज्जिता ततोऽग्नौ अन्यस्मिन्वाऽनर्थे मेऽङ्गुष्ठे छिन्द्या इति सूरिभिः प्रागुक्तः पुष्पश्छेदं चक्रे। गुरुः प्रबुद्धोऽवक् किमार्य ! व्याघातः कृतः ? पुष्प आह–पश्यन्तु शिष्यकृतं, गुरुणा

ते ताडिताः । साधुनेदृग्ध्यानं कार्यं ॥ १३११ ॥ अथ मारणान्तिके कर्मोदये ' रोही '

**रोहीडगं च नयरं, ललिआ गुट्ठी य रोहिणी गणिआ । धम्मरुइ कडुअदुद्धियदाणायणे अ कंमुदए ॥१३१२**

रोहितकपुरं ललिता गोष्ठ्यभूत्, तत्र रोहिणी जीर्णवेश्या, साऽन्यजीवनोपायाप्राप्तौ तस्या गोष्ठ्या भक्तं रन्ध । अन्यदा बहु दौग्धिकं राद्धं, चक्षितं कटु ज्ञात्वाऽन्यच्छाकं कृत्वा तद्धर्मरुचेर्मासस्य पारणे दत्तं, साधुर्गुरूनालोचयत्, तैः पात्रमात्तं क्षारगन्धाज्ज्ञातं एतद्भोक्ता म्रियत इति । साधोरुक्तं त्यज, स च लात्वाऽटवीं गतो दग्धोपरे पात्रं छोटनाय लिप्तं करं काष्ठेऽस्प्राक्षीत् । तद्गन्धेन कीट्य एताः स्वादन्त्यो मृता दृष्ट्वा मा जीवघातोऽस्त्वित्येकान्ते स्थण्डिल आलोच्य प्रतिक्रान्तो मुखपोतिं प्रतिलेख्याऽऽश्नात्, कर्मण उदये वेदनां तीव्रामधिसह्य अत्यर्थं निष्प्रकम्पः सिद्धः, एवं सोढव्यं ॥ १३१२ ॥ उक्तो मारणान्तिकोदयः, सङ्गानां प्रत्याख्यानपरिज्ञायां ' नग '

**नगरी य चंपनामा, जिणदेवो सत्थवाह अहिछत्ता । अडवी य तेण अगणी, सावयसंगाण वोसिरणा ॥१३१४**

चम्पानगर्यां जिनदेवः सार्थवाट् श्राद्धो यावदुद्घुष्याऽहिछत्रां यानन्तराऽटवीं प्राप्तः, सार्थः स्तेनैराप्तः, श्राद्धो नश्यन्नटवीं प्रविष्टो यावदग्रेऽग्निः, पश्चाद् व्याघ्रः, पार्श्वयोर्गर्त्ता, ततोऽशरणं ज्ञात्वा सङ्गानां संसारभावानां व्युत्सर्जनं कृत्वा स्वयं भावलिङ्गं स्वीकृत्य कृतसामायिकः प्रतिमास्थः श्वापदभक्षितः सिद्धः ॥ १३१३ ॥ ' पाय '

**पायच्छित्तपरूवण, आहरणं तत्थ होइ धणगुत्ता । आराहणाए मरुदेवा, ओसप्पिणीए पढमसिद्धो १३१५**

प्रायश्चित्तं कुर्वतो विधिना तत्प्ररूपणं च कुर्वतो योगसंग्रहस्तत्रोदाहरणं–काऽपि धनगुप्ताचार्याः प्रायश्चित्तमिङ्गितेन ज्ञातुं तपो दातुं च क्षमा जाताः, यश्च तत्पार्श्वे शोधिं चक्रे स सुखेनाऽतिचारशोध्या कर्म निर्जीर्णवान् । आराधना मरणान्ते–विनीतायां भरतो राजा, श्रीऋषभसमवसृतिप्राकारादिवर्णनं यथा बृहत्कल्पे, मरुदेवा भरतर्द्धिं दृष्ट्वाऽह त्वत्पिता श्रियं त्यक्त्वैकाकी भ्रमति । भरतोऽवक् कुतो मे सा ऋद्धिर्या पितुः ? आयाते यथेक्ष्यते, ससैन्यश्चक्री निर्गतः । स मरुदेवा चैकगजारूढौ, मरुदेवा छत्रातिछत्रादि सुरौघागतिं च प्रेक्ष्य भरतवस्त्रभूषा म्लायन्तीर्दृष्ट्वा (विस्मिता) चक्रिणोक्तं दृष्टा पुत्रश्रीः ? क्व ममेदृक् ? ततः स्वयं ध्यायन्त्यपूर्वकरणात्केवलेन सिद्धा, जातिस्मृतिर्नाऽभूदनादिवनस्पतिभ्य उद्धृतत्वात्, एवमाराधनया रत्नत्रययोगसंग्रहः ॥ १३१४ ॥ एषु द्वात्रिंशत्स्थानेषु निषिद्धकरणादिना योऽतिचारस्तस्य मिथ्यादुष्कृतमिति सम्बन्धो योगसंग्रहः ।

## तेत्तीसाए आसायणेहिं (सूत्रम्)

'तेत्तीसाए आसायणेहिं'—आशातना ज्ञानादीनां खण्डना 'पुर' 'तह' 'नो सि'

पुरओ पक्खासन्ने, गंता चिट्ठणनिसीयणायमणे । आलोयणपडिसुणणा, पुव्वालवणे य आलोए ॥ १ ॥
तह उवदंसनिमंतण, खद्धाईयाण तह अपडिसुणणे । खद्धंति य तत्थगए, किं तुम तज्जाइ णो सुमणे ॥ २ ॥
णो सरसि कहं छेत्ता, परिसं भित्ता अणुट्ठियाइ कहे । संथारपायघट्टण, चिट्ठे उच्चासणाईसु ॥ ३ ॥

शिष्यो गुरोः पुरतोऽग्रतो गन्ताऽऽशातनावान् १, पक्षाभ्यां पार्श्वाभ्यां गन्ता २, 'आसन्ने'ति पृष्ठतोऽप्यासन्ने गन्ता ३, एवं गुरोः पुरो गुरोः पक्षाभ्यां गुरोः पृष्ठत आसन्ने स्थाने कायोत्सर्गकरणे आशातनात्रयं ६, तथा प्राग्गुरोः पुरो निषीदने

गुरोः पश्चाभ्यां समलन्वे आसन्ने वा निषीदने, एवं तिस्रः, सर्वा नव ९, तथा गुरोः पूर्वं गुरुपरिभोग्यजलाचमनकरणेन १०, गमनागमनयोर्गुरोः पूर्वमालोचने ११, रात्रौ विकाले निशीथे वा रत्नाधिकस्य वचोऽप्रतिश्रवण उत्तरादाने १२, कस्याऽप्यालाप्यस्य श्राद्धादेर्गुरोः पूर्वमालापकरणे १३, अशनादिकं पूर्वं शिष्यस्याऽऽलोच्य पश्चाद्रत्नाधिकस्याऽऽलोचने १४ । १ । एवं शिष्यस्याऽशनादि दर्शयित्वा ततो रत्नाधिकस्योपदर्शने १५, एवं निमन्त्रणे १६, 'खद्ध'त्ति रत्नाधिकमनापृच्छ्य स्वेच्छयाऽन्यस्मै स्निग्धमधुरादिदानेऽथवा येन रत्नाधिकेन सहाऽऽहारं लाति स तमनापृच्छ्याऽन्यस्मै भव्यदाने १७, 'आईयाण'त्ति रत्नाधिकेन सार्धं भुञ्जानः स्निग्धादि खादति १८, सदा रत्नाधिकस्य व्याहरतोऽप्रतिश्रवणे १९, 'खद्धंति य'त्ति रत्नाधिकं प्रति खरकर्कशनिष्ठुरभणने २०, गुरुवादितस्य तत्रगतस्यैवोल्लापदाने २१, तथा गुरुवादितः किमिति वदति २२, गुरोस्त्वमिति वक्ति यतो गुरौ वदति मस्तकेन वन्द इति वाच्यं २३, तज्जातेन प्रतिहन्ता स्यात्, यथा गुरुणोक्तोऽमुकं कुरु वक्ति यूयं कुरुत २४, रत्नाधिकस्य कथां कथयतो नो सुमनाः स्यात् २५ । २ । गुरोः कथाकथने नो स्मरसीति वक्ति २६, एवं कथाया आच्छेत्ता स्वयं कथयिता स्यात् २७, पर्षदं भेत्ता–गुरोः कथयतः पृथक् सभां कृत्वा वक्ति २८, अनुत्थितायां पर्षदि स्वदाक्ष्यख्यापनाय तामेव कथां कथयति २९ । [ अत्र क्षेपकगाथा—'एवं एयं हेऊ, कहं कहंतस्स नो सुमणो होइ । तज्जाएण हीलइ य, पुणो पुणो निट्ठुरं भणइ' ॥ १ ॥ अस्मिन्नर्थ एवमेतद्धेतुर्निमित्तं वर्त्तते, परं गुरुः कथयन्नस्तीति विमृश्य गुरोः कथां कथयतः सुमना न स्यात् २, तथा तज्जातेन हीलते गुरुं किं स्वयं न कुरुतेति २५ पुनः पुनर्निष्ठुरं गुरोर्भणति चैषा विंशतितमाऽऽशातना ] तथा 'संथारपायघट्टणे'त्यादि गुरोः शय्यासंस्तारादि पादाभ्यां घट्टयति ३०, गुरुशय्यादौ स्थाता ३१, उच्चासने

स्थानादि करोति ३२, समासने च स्थानादि कुर्यात् ३३ । ३ । अथवा सूत्रोक्ताशातनासम्बन्धमाह—' अहवा अरि '

अहवा–अरिहंताणं आसायणादि, सज्झाए किंचिणाहीयं । जा कंठसमुद्दिट्ठा, तेत्तीसासायणा एया ॥ १ ॥

अरिहंताणं आसायणाए, सिद्धाणं आसायणाए, आयरियाणं आसायणाए, उवज्झायाणं आसायणाए, साहूणमासायणाए, साहुणीणं आसायणाए, सावगाणं आसायणाए, सावियाणं आसायणाए, देवाणं आसायणाए, देवीणं आसायणाए, इहलोगस्सासायणाए, परलोगस्स आसायणाए, केवलिपन्नत्तस्स धम्मस्स आसायणाए, सदेवमणुयासुरस्स लोगस्स आसायणाए, सव्वपाणभूयजीवसत्ताणं आसायणाए, कालस्स आसायणाए, सुयस्स आसायणाए, सुयदेवयाए आसायणाए, वायणारियस्स आसायणाए, जं वाइद्धं, वच्चामेलियं, हीणक्खरियं, अच्चक्खरियं, पयहीणं ( विणयहीणं घोसहीणं जोगहीणं ) सुट्ठुदिन्नं, दुट्ठु पडिच्छियं, अकाले कओ सज्झाओ, काले न कओ सज्झाओ, असज्झाइए सज्झाइयं, सज्झाइए न सज्झाइयं, तस्स मिच्छामि दुक्कडं ( सूत्रम् )

' अरिहंताणं आसायणाए यावत् सज्झाइए न सज्झाइयं ' एवं ३३ आशातनाः । तत्र स्वाध्यायिके वसतेः शुद्धौ किंचिन्नाऽधीतमिति यावत्कण्ठसमुद्दिष्टाः कण्ठ एव व्यक्ता उक्ताः तत्राऽर्हतामाशातना यथा नाऽऽसन् जिनाः, ज्ञानिनो वा

कथमुद्रुदाः ? केवले मति किं धूपपुष्पछत्रादिभोग आहारश्च ? निर्दया वोग्रव्रतोक्तेः, उत्तरम्—अभूवन् जिना अनन्यत्राव्याऽ-
गिसंनादिमार्गदेशनाऽन्यथाऽनुपपत्तेर्भोग्यफलकर्मण एवाऽर्हन् भोगान् भुङ्क्ते, तीर्थकृन्नामकर्मोदयाद्वृद्धिर्वेद्यकर्ममात्रभावादाहारं
न भुङ्क्ते, कर्मरोगनाशाय क्रियौषधं कृपयोच इत्यादि ज्ञेयं । सिद्धानां तु—न सन्ति सिद्धाः, निश्चेष्टानां वा तेषां कथं
सुखं ? शुभाऽशुभज्ञाने रागद्वेषौ स्तः, एकसमये ज्ञानदर्शने किं नेत्यादि ? उत्तरं—सन्ति सिद्धा आबालगोपालसिद्धकर्मक्षया-
न्यथाऽनुपपत्तेः, शेषे उत्तरे अकर्मत्वात्तज्जीवस्वाभाव्याच्च । आचार्याणां तु—परेभ्यो वैयावृत्त्याद्युपदिशन्ति, स्वयं तु सुख-
शीलाः, यद्वा ' डहरो अकुलीणोत्ति य, दुम्मेहो दमगमंदबुद्धित्ति । अवियप्पलाभलद्धी, सीसो परिभवइ आयरियं ' ॥ १ ॥
उत्तर–' डहरोवि नाणवुड्ढो अकुलीणोत्ति य गुणालओ किह णु ? । दुम्मेहाईणवि एवं, भणंतऽसंताइ दुम्मेहो ' ॥ २ ॥
' डहरो ' लघुरपि ज्ञानवृद्धः, यद्यकुलीनस्तदा कथं गुणालयः ? दुर्मेधादीनि गुरोर्दुर्मेधत्वादीन्यसन्ति दूषणानि भणन्ति ।
' जाणंति नवि य एवं, निद्धम्मा मोक्खकारणं नाणं । निच्चं पगासयंता, वेयावच्चाइं कुव्वंति ' ॥ ३ ॥ ज्ञानं प्रकाशयन्तः
परैर्वैयावृत्त्यादि कारयन्तो नृपवत्स्वयमेव कुर्वन्तः सन्ति, तथा ' छट्ठट्ठमदसमदुवालसेहिं अवहुस्सुयस्स जा सोही । इत्तो
य बहुतरीगा, सोही जमियस्स नाणिस्स ' ॥ ४ ॥ एवमुपाध्यायानामपि । साधूनां तु—अन्यप्रेरणया कर्मबन्धस्तथा
मिथो न महन्तो तत एव विहारं कुर्युरन्यथैकत्र तिष्ठेयुरत्वरितगतयः श्वान इव पृथग्भुञ्जते विरूपवेषाः । उत्तरं स्तोककषाय-
त्वादप्रमत्तत्वात् साधवः सर्वत्र रोपहीनाः, एवं साध्वीनामपि, साध्वीनां कलहो बहूपकरणता यद्वा साधूनां साध्व्य
उपद्रवाः, उत्तर–विधिना साधूनां निर्वाहयतां साध्व्यो नो उपद्रवस्तथा श्राद्धानां श्राद्धिकानां च सारम्भाणां कुतः सुगतिः ?

उत्तरं-तेऽप्याऽऽराधका देशविरत्यादिनाऽर्हद्भिर्मार्गद्वयस्योक्तेः। देवानां त्वविकुर्व्य किंचित्कर्तुमशक्ताः कामगर्दभा वाऽनिमेषा वाऽनुत्तरसुरा वा निश्चेष्टाः, सामर्थ्ये वा सति किं शासनोन्नतिं नित्यं न कुर्युः ? उत्तरं-देवगतिस्वाभाव्यात्तथा यद्यपि कालस्वाभाव्यादत्रोन्नतिं न कुर्युः, तदाऽन्यत्राऽधुनाऽपि कुर्युः। इहपरलोकाशातना लोकद्वयविरुद्धाचरणेन, धर्मस्य यथा-प्राकृतबद्धशास्त्रोक्तो धर्मः, को वेदः ? केनोक्तः ? किं क्रियया दानहीनया ? उत्तरं-'बालस्त्रीमूढ(मन्द)मूर्खाणां, नृणां चारित्रकाङ्क्षिणाम्। अनुग्रहार्थं तत्त्वज्ञैः, सिद्धान्तः प्राकृतः कृतः' ॥ १ ॥ संस्कृतज्ञमिथ्यादृग्बोधार्थं च, केवल्युक्तश्चाविसंवादिवचनान्यथाऽनुपपत्तेस्तथा दानेष्वभयदानान्नाऽन्यदधिकं, तच्चाऽऽर्हद्धर्मायतो 'दानमौरभ्रिकेणाऽपि चाण्डालेनाऽपि दीयते। येन वा तेन वा शीलं, न शक्यमभिरक्षितुं ॥ २ ॥ दानेन भोगानाप्नोति, यत्र यत्रोपपद्यते। शीलेन भोगान् स्वर्गं च, निर्वाणं चाऽधिगच्छति' ॥ ३ ॥ ततोऽर्हद्धर्मः शीलादिमयः। लोकस्य सप्तद्वीपमयसकर्तृत्वब्रह्मेश्वरादिकर्तृत्वमितजीवत्वादिभाषायामाशातना 'देवा-सत्त-जम'

देवादीयं लोयं विवरीयं भणइ सत्तदीवुदही। तह कइ पयावईणं, पयईपुरिसाण जोगो वा ॥२१६॥

उत्तरं-सत्तसु परिमियसत्ता, मोक्खो सुण्णत्तणं पयावइ य।
केण कउत्तऽणवत्था, पयडीए कहं पवित्तित्ति ? ॥ २१७ ॥

जमचेयणात्ति पुरिसत्थनिमित्तं किल पवत्तती सा य। तीसे च्चिय अपवित्ती, परोत्ति सव्वं च्चिय विरुद्धं॥२१८॥

प्राणास्तमा व्यक्तश्वासत्वाद्भूताः स्थावरा भवन्ति भूता भविष्यन्तीति च व्युत्पत्तेर्जीवाः सायुःकर्मणः सर्वे भवस्थाः, मत्त्वाः सिद्धा भवस्थाश्च । तत्राऽऽशातनाऽश्रद्धानवितथप्ररूपणपीडादिना, कालस्य कालाभावादिकालैकान्तस्थापनादिप्ररूपणया । ' सुयस्स '–अकाले पाठादिना, ' सुयदेवयाए जीए सुयमहिद्वियंतीए आसायणा ' णत्थि सा अकिञ्चित्करी वा ( उत्तरं–न ह्यनधिष्ठितो मौनीन्द्रः खल्वागमः, अतोऽसावस्ति, न चाकिञ्चित्करी ) तामालम्ब्य प्रशस्तमनसः कर्मक्षयदर्शनात् । वायणायरिओ नाम जो उवज्झायसंदिट्ठो उद्देसाइ करेइ तस्स, निदुक्खसुहो बहु वन्दनानि वा दापयेत्, उत्तरं–ाननानार्योऽप्यातयन्तिकसुखकृत्प्रवृत्तिरगर्वत्वेन निर्जराकारिबहुवन्दनाध्येयश्रुतोद्देश्यादिकारकत्वात् । अथ विशेषात् पठ्यमानस्य सूत्रस्य १४ आशातना आह–' जं वाइद्धं ' इत्यादि । यद् व्याविद्धं विपरीतमणिमालावद्विपरीतं भणितं, छत्रतोऽर्थतो वा व्यत्याम्रेडितं मौढ्याद्विस्त्रिरुक्तं, हीनाक्षरमत्यक्षरं, पदेन पदैर्वा हीनं पठितं, विनयहीनं घोषहीनं जोगहीनमिति सूत्रों पाठस्तत्र घोषः प्रयत्नपरः, योगस्तपः, सुष्ठ्वतिशयेन पाठकधारणाऽतिरेकेण मया दत्तं सुष्ठ्वभियोगाद्गुरुणा वा दत्तं, मया त्वविनयेन प्रतीच्छितं, अत्र यद्गुरोर्मा प्रति यत्नोऽभून्मया च न प्रत्ययितस्तेन गुरूणां दानमपि शिष्यस्य मुधाकरणदोषायेत्याऽऽशातना । अकाले कृतः स्वाध्यायो काले न कृतः, अस्वाध्यायिकेऽनध्याये स्वाध्यायितं, स्वाध्यायिके न स्वाध्यायितं स्वाध्यायो न कृतः, एवमाशातनाः ३३ । अत्राऽधिकारादस्वाध्यायिकनिर्युक्तिमाह–' अस '

अस्सज्झाइयनिज्जुत्ती, वुच्छामी धीरपुरिसपण्णत्तं । जं नाऊण सुविहिया, पवयणसारं उवलहंति ॥१३१५॥

सुष्ठ्वध्ययनं स्वाध्यायः, स एव स्वाध्यायिकं, न स्वाध्यायिकमस्वाध्यायिकमुपचारात्तद्धेतुरक्ताद्यप्यस्वाध्यायिकं

॥ १३१५ ॥ ‘ अस ’

**असज्झायं तु दुविहं, आयसमुत्थं च परसमुत्थं च। जं तत्थ परसमुत्थं, तं पंचविहं तु नायव्वं ॥१३१६॥**

आत्मसमुत्थं स्वव्रणोत्थं रक्तादि, परमुत्थं संयमघातकादि, तत्र बहुवक्तव्यत्वात्पूर्वं परसमुत्थमाह–‘ जं तत्थ ’ तद्यथा ॥ १३१६ ॥ ‘ संज ’

**संजमघाउवघाए, सादिव्वे वुग्गहे य सारीरे। घोसणयमिच्छरण्णो, कोई छलिओ पमाएणं ॥१३१७॥**

संयमघातकं महिकादि १, औत्पातिकं पांशुपातादि २, सह दिव्यैः सदिव्यं गन्धर्वपुरादि ३, व्युद्ग्राहकारणं युद्धादि ४, शारीरं नृतिर्यङ्मांसादि ५। अमूनि पञ्च द्वाराणि, एष्वेष्वस्वाध्यायेषु स्वाध्यायं कुर्वतो दृष्टान्तः–‘ घोस० ’ म्लेच्छागमे राज्ञो घोषणं, तत्र कोऽपि लोकः प्रमादेन स्थितश्छलितः ॥ १३१७ ॥ कथा त्वियं–‘ मिच्छ ’

**मिच्छभयघोसण, निवे हियसेसा ते उ दंडिया रण्णा। एवं दुहओ दंडो, सुरपच्छित्ते इह परे य ॥१३१८॥**

क्षितिप्रतिष्ठितपुरे म्लेच्छभयं जातं, जितशत्रुर्नृपो घोषणामकारयत् ‘लोकैरत्र दुर्ग एतव्यं’, य एयुस्ते न विनष्टाः, अन्येषां रत्नधनाद्या म्लेच्छैर्मुष्टास्ते च हृतशेषा राज्ञा दण्डिताः, एवमत्राऽप्युभयतो दण्डोऽस्वाध्याये स्वाध्यायं कुर्वतः। ‘इह’–इहलोके, ‘सुर’त्ति सुरी छलेत् प्रायश्चित्तं च, परभवे तु ज्ञानादि विफलं ॥ १३१८ ॥ तथा ‘ राया ’

**राया इह तित्थयरो, जाणवया साहू घोसणं सुत्तं। मेच्छो य असज्झाओ, रयणधणाइं च नाणाई ॥**

जानपदा लोकाः साधवः, घोषणासमं सूत्रमस्वाध्याये स्वाध्यायप्रतिषेधकं ॥ १३१९ ॥ ' थोवा '

**थोवावसेसपोरिसिमज्झयणं, वावि जो कुणइ सो उ । णाणाइसाररहियस्स, तस्स छलणा उ संसारो ॥**

स्तोका च शेषा पौरुषीति कालवेला वर्तते, एवं श्रुत्वाऽध्ययनमपिशब्दाद् व्याख्यां च यः करोति स जिनेन भवदण्डेन दण्ड्यते, तस्य संसारे छलना च स्याज्ज्ञानादिवैफल्यात् ॥ १३२० ॥ आद्यद्वारमाह–' महि '

**महिया य भिन्नवासे, सच्चित्तरए य संजमे तिविहं । दव्वे खित्ते काले, जहियं वा जच्चिरं सव्वं ॥१३२१॥**

महिका धूमरी १, भिन्नवर्षा बुद्बुदवर्षादि २, सचित्तरजोऽरण्यवातोद्भूतं पृथ्वीरजः ३, एतत् ' संजम 'त्ति संयमघाति त्रिधा, तथा त्रिभेदेऽपि चतुर्धा परिहारो 'दव्वे' द्रव्ये तदेव महिकादि द्रव्यं, क्षेत्रे यत्र, काले च यावच्चिरं पतति, तत्र 'सव्वं'ति भावतः सर्वं भाषादि त्याज्यं ॥ १३२१ ॥ पञ्चविधास्वाध्यायत्यागे दृष्टान्ताः–' दुग्गा '

**दुग्गाइतोसियनिवो, पंचण्हं देइ इच्छियपयारं । गहिए य देइ मुल्लं, जणस्स आहारवत्थाई ॥१३२२॥**

पञ्चानां नृणां कोऽपि नृपो वैरिदुर्गादानात्तुष्टः पुरे 'इच्छिय'त्ति–स्वेच्छाप्रचारं दत्ते, तैर्जनस्याऽऽहारवस्त्रादौ गृहीते मूल्यं दत्ते ॥ १३२२ ॥ ' इक्के '

**इक्केण तोसियतरो, गिहमागिहे तस्स सव्वहिं वियरे । रत्थाईसु चउण्हं, एवं पढमं तु सव्वत्थ ॥१३२३॥**

तेष्वप्येकेन तोषिततरस्तस्य सर्वत्र गृहागृहादौ प्रचारं दत्ते, चतुर्णां रथ्यादिष्वेव, तद्वालकान् दण्डयेदेवं पञ्चधास्वाध्याये

॥ १३१५ ॥ ' अस '

**असज्झायं तु दुविहं, आयसमुत्थं च परसमुत्थं च । जं तत्थ परसमुत्थं, तं पंचविहं तु नायव्वं ॥१३१६॥**

आत्मसमुत्थं स्वव्रणोत्थं रक्तादि, परसमुत्थं संयमघातकादि, तत्र बहुवक्तव्यत्वात्पूर्वं परसमुत्थमाह–' जं तत्थ ' तद्यथा ॥ १३१६ ॥ ' संज '

**संजमघाउवघाए, सादिव्वे वुग्गहे य सारीरे । घोसणयमिच्छरण्णो, कोई छलिओ पमाएणं ॥१३१७॥**

संयमघातकं महिकादि १, औत्पातिकं पांशुपातादि २, सह दिव्यैः सदिव्यं गन्धर्वपुरादि ३, व्युद्ग्राहकारणं युद्धादि ४, शारीरं नृतिर्यङ्मांसादि ५ । अमूनि पञ्च द्वाराणि, एष्वेष्वस्वाध्यायेषु स्वाध्यायं कुर्वतो दृष्टान्तः–' घोस० ' म्लेच्छागमे राज्ञो घोषणं, तत्र कोऽपि लोकः प्रमादेन स्थितश्छलितः ॥ १३१७ ॥ कथा त्वियं–' मिच्छ '

**मिच्छभयघोसण, निवे हियसेसा ते उ दंडिया रण्णा । एवं दुहओ दंडो, सुरपच्छित्ते इह परे य ॥१३१८॥**

क्षितिप्रतिष्ठितपुरे म्लेच्छभयं जातं, जितशत्रुर्नृपो घोषणामकारयत् ' लोकैरत्र दुर्गं एतव्यं ', य एयुस्ते न विनष्टाः, अन्येषां रत्नधनाद्या म्लेच्छैर्मुष्टास्ते च हतशेषा राज्ञा दण्डिताः, एवमत्राऽप्युभयतो दण्डोऽस्वाध्याये स्वाध्यायं कुर्वतः । 'इह'–इह-लोके, 'सुर'त्ति सुरी छलेत् प्रायश्चित्तं च, परभवे तु ज्ञानादि विफलं ॥ १३१८ ॥ तथा ' राया '

**राया इह तित्थयरो, जाणवया साहू घोसणं सुत्तं । मेच्छो य असज्झाओ, रयणधणाइं च नाणाई ॥**

जानपदा लोकाः माधवः, घोषणासमं सूत्रमस्वाध्याये स्वाध्यायप्रतिषेधकं ॥ १३१९ ॥ ' थोवा '

**थोवावसेसपोरिसिमज्झयणं, वावि जो कुणइ सो उ । णाणाइसाररहियस्स, तस्स छलणा उ संसारो ॥**

स्तोका च शेषा पौरुषीति कालवेला वर्तते, एवं श्रुत्वाऽध्ययनमपिशब्दाद् व्याख्यां च यः करोति स जिनेन भवदण्डेन दण्ड्यते, तस्य संसारे छलना च स्याज्ज्ञानादिवैफल्यात् ॥ १३२० ॥ आद्यद्वारमाह–' महि '

**महिया य भिन्नवासे, सच्चित्तरए य संजमे तिविहं । दव्वे खित्ते काले, जहियं वा जच्चिरं सव्वं ॥१३२१॥**

महिका धूमरी १, भिन्नवर्षा बुद्बुदवर्षादि २, सचित्तरजोऽरण्यवातोद्भूतं पृथ्वीरजः ३, एतत् ' संजम 'त्ति संयमघाति त्रिधा, तथा त्रिभेदेऽपि चतुर्धा परिहारो 'दव्वे' द्रव्ये तदेव महिकादि द्रव्यं, क्षेत्रे यत्र, काले च यावच्चिरं पतति, तत्र 'सव्वं'ति भावतः सर्वं भाषादि त्याज्यं ॥ १३२१ ॥ पञ्चविधास्वाध्यायत्यागे दृष्टान्ताः–' दुग्गा '

**दुग्गाइतोसियनिवो, पंचण्हं देइ इच्छियपयारं । गहिए य देइ मुल्लं, जणस्स आहारवत्थाई ॥१३२२॥**

पञ्चानां नृणां कोऽपि नृपो वैरिदुर्गादानात्तुष्टः पुरे 'इच्छिय'त्ति–स्वेच्छाप्रचारं दत्ते, तैर्जनस्याऽऽहारवस्त्रादौ गृहीते मूल्यं दत्ते ॥ १३२२ ॥ ' इक्के '

**इक्केण तोसियतरो, गिहमागेहे तस्स सव्वहिं वियरे । रत्थाईसु चउण्हं, एवं पढमं तु सव्वत्थ ॥१३२३॥**

तेष्वप्येकेन तोषिततरस्तस्य सर्वत्र गृहागृहादौ प्रचारं दत्ते, चतुर्णां रथ्यादिष्वेव, तद्वालकान् दण्डयेदेवं पञ्चधास्वाध्याये

प्रथममस्वाध्यायिकं सर्वत्र स्थानासनादिषु प्रसरति, तस्मिंश्च प्रतिलेखनास्वाध्यायादिकाः क्रिया न कार्याः । अन्येषां तु चतुरस्वाध्यायादीनां चतुर्नृवदध्यायरध्यायामेवाऽपरिभवेन प्रचारः स्वाध्यायो न कार्य इत्यर्थः, 'आवस्सगादि उक्कालियं पढिज्जइ' ॥ १३२३ ॥ अथ 'महिया' इत्यादिगाथया भाष्यं–'महि'

महिया उ गब्भमासे, सच्चितरओ अ ईसिआयंबो ।
वासे तिन्नि पयारा, बुब्बुअ तव्वज्ज फुसिए य ॥ २१९ ॥

महिका कार्त्तिकादिगर्भोत्पत्तिमासेषु पतन्त्येव सूक्ष्मत्वात्सर्वमप्कायं भावितं कुर्यात् । १ । व्यवहारसचित्तः पृथ्वीकाय आरण्यो वातोद्भूतरजो भण्यते, तस्येदं लक्षणं–'इसि०' ईषदाताम्रं दिगन्तरेषु दृश्यते तन्नित्यपातेन दिनत्रयात् परतः सर्वं पृथ्वीकायं भावितं कुर्यात्, तत्रोत्पातशङ्कासंभवश्च २, भिन्नवर्षे त्रयः प्रकाराः, यस्मिन् वर्षति बुद्बुदाः स्युः स बुद्बुदवर्षः १, यत्र बुद्बुदा न स्युः स तद्वर्जः २, 'फुसिए' सूक्ष्मतुषाराः ३, एते क्रमात् त्रिपञ्चसप्तदिनपरतः सर्वमप्कायभावितं कुर्युः ॥ २१९ ॥ चतुर्धा परिहारं व्याख्याति 'दव्वे'–

दव्वे तं चिय दव्वं, खित्ते जहियं तु जच्चिरं कालं ।
ठाणाइभास भावे, मुत्तुं उस्सासउम्मेसे ॥ २२० ॥

तत्र द्रव्ये–तदेव महिकादि द्रव्यं, क्षेत्रे यत्र, काले यावच्चिरं पतति, भावे उच्छ्वासोन्मेषौ मुक्त्वा क्रियां न कुर्युः, स्थानादि

कायोत्सर्गस्थानमागमादि न कुर्युर्न भाषन्ते, तत्राऽपि मिश्रवर्षरजसोर्यथोक्तदिनमानात्परं यावच्चिरं स्थानादि त्याज्यं, आदितः स्वाध्यायप्रतिलेखनादि ॥ २२० ॥ तदा च ' वास '

वासत्ताणावरिया, निक्कारण ठंति कज्जि जयणाए। हत्थत्थंगुलिसन्ना, पुत्तावरिया व भासंति ॥१३२४॥

निःकारणे वर्षत्राणेन वर्षाकम्बल्यावृता निश्चलाः सर्वाभ्यन्तरे तिष्ठन्ति, कार्ये यतनया हस्ताक्ष्यङ्गुलिसंज्ञां कुर्युः । ' पुत्तावरिया ' मुखपोत्त्यावृता वा यत्नाद् एते भाषन्ते, ग्लानादिकार्ये वा कल्पप्रावृत्ता यान्ति ॥ १३२४ ॥ संयमवातिगतमौत्पातिकमाह–' पंसू '

पंसू अ मंसरुहिरे, केससिलावुट्ठि तह रउग्घाए। मंसरुहिरे अहोरत्त, अवसेसे जच्चिरं सुत्तं ॥१३२५॥

पांशुमांसादिवृष्टयः, शिलावृष्टिः करकादिपातः, तथा रजउद्घातो रजःपातः। तत्र मांसरुधिरवृष्ट्योरहोरात्रमस्वाध्यायोऽशेषाः पांश्वादयो यावच्चिरं पतन्ति तावत्कालं नन्द्यादिसूत्रापाठः ॥ १३२५ ॥ ' पंसू '

पंसू अच्चित्तरओ, रयस्सिलाओ दिसा रउग्घाओ। तत्थ सवाए निव्वायए य सुत्तं परिहरंति ॥१३२६॥

'धूमाकार आपाण्डुरचित्तरजः पांशुरुच्यते, तथा महासैन्योत्थ इव विश्रसातो रजस्वला दिशः कुर्वन् रेणुपातो रजउद्घातः, एतयोः सवाते निर्वाते वा पततोः सूत्रं सूत्रपौरुषीं ॥ १३२६ ॥ ' साभा '

साभाविय तिन्नि दिणा, सुगिम्हए निक्खिवंति जइ जोगं। तो तंमि पडंतंमी, करंति संवच्छरज्झायं ।१२७३

पांशुरजउद्घातौ स्वाभाविकास्वाभाविकौ च, स्वाभाविकयोर्यदि 'सुगिम्हए' ग्रीष्मे चैत्रशुदिदशम्यामपराह्णे योगं निक्षिपन्ति दशम्याः परं पूर्णिमाया अन्तरे त्रीन् दिनानचित्तरजउद्घाटनकायोत्सर्गं कुर्युस्ततस्तस्मिन् स्वाभाविके पतत्यपि संवत्सरं यावत्स्वाध्यायं कुर्वन्ति । अस्वाभाविकौ निर्घातभूकम्पचन्द्रग्रहणादियुक्तौ स्यातां, तयोः पततोः कायोत्सर्गत्रये कृतेऽप्यस्वाध्यायः, द्वार २ ॥ १३२७ ॥ सदिव्यमाह—

**गंधव्वादिसाविज्जुक्कगज्जिएजूअजक्खआलित्ते । इक्किक्क पोरिसी गज्जियं तु दो पोरिसी हणइ ॥१३२८॥**

गन्धर्वपुरदिग्दाहविद्युदुल्कागर्जितेषु, जूवगे च वक्ष्यमाणे, यक्षदीप्त एकैकां पौरुषीमस्वाध्यायः, गर्जिते द्वे पौरुष्यौ स्वाध्यायं हन्ति । तत्र यक्षदीप्तगन्धर्वपुरे व्योम्नि देवकृत एवाऽन्यानि भाज्यानि, परं 'जेण फुडं न नज्जंति तेण तेसिं परिहारो' ॥१३२८॥ 'दिसि'

**दिसिदाह छिन्नमूलो, उक्क सरेहा पगासजुत्ता वा । संझाछेयावरणो उ, जूवओ सुक्कि दिण तिन्नि १३२९**

अन्यतरदिशि पुर ज्वलदिवोद्योतः, किंतूर्ध्वं तेजोऽधस्तमः, ईदृक् छिन्नमूलो दिग्दाहः, उल्का सरेखा, प्रकाशयुक्ताऽरेखाऽपि स्फुलिङ्गाभा चन्द्रप्रभावर्णा, सन्ध्याछेदो जूवगः सन्ध्याचन्द्रप्रभयोर्युगपद्भावात्कोऽर्थः शुक्लपक्षे सन्ध्याभा चन्द्राभावृत्ता त्रुटन्ती न ज्ञायते, सन्ध्याछेदे वाऽज्ञाते कालवेलाया अज्ञानात्रिदिनं सन्ध्यायां कालो न ग्राह्यः, सूत्रपौरुषी च न क्रियते ॥ १३२९ ॥ 'केसिं'

**केसिंचि हुंतिऽमोहा उ, जूवओ ता य हुंति आइन्ना । जेसिं तु अणाइन्ना, तेसिं किर पोरिसी तिन्नि ॥**

केषांचिदमोघा अर्ककान्तिविकारजा उदयेऽस्ते च ताम्राः कृष्णाः श्यामा वा शकटोर्ध्वितुल्या दण्डास्त एव जूवगा नाऽन्यत् ।

केषांचिदमोघा अर्ककान्तिविकारजा उदयेऽस्ते च ताम्राः ॥ १३३० ॥ ' चंदि '

ते च स्वाध्याय आचीर्णाः, ' जेसिं ' पौरुषीत्रयमनध्यायः ॥ १३३० ॥ ' चंदि '

**चंदिमसूरुवरागे, निग्घाए गुंजिए अहोरत्तं । संझा चउ पाडिएया, जं जहि सुगिम्हए नियमा ॥१३३१॥**

चन्द्रसूर्ययोरुपरागे ग्रहणे, तथा व्यन्तरकृते गर्जितसमध्वनौ निर्घाते, अस्यैव विकारे गुञ्जावद्गुञ्जमाने महाध्वनौ गुञ्जिते, सामान्येनाऽहोरात्रमनध्यायः । निर्घातगुञ्जितयोस्तु तां वेलामारभ्याऽष्टयामैरहोरात्रं ज्ञेयं, नत्वन्यस्वाध्यायिकवदहोरात्रछेदेन छेदस्तथा सन्ध्यासु तथा महामहचतुःप्रतिपत्सु, एवमन्यदपि ' जं जहि ' यद्यत्र वेत्ति तत्राऽस्वाध्यायं कुर्यात् । ग्रीष्मे तु चैत्रे नियमात् सर्वत्राऽस्वाध्यायोऽनागाढयोगा निक्षिप्यन्त एव, आगाढास्तु न, न वाऽध्येयं ॥१३३१॥ महामहानेवाऽऽह–'आसा'

**आसाढी इंदमहो, कत्तिय सुगिम्हए य बोद्धव्वे । एए महामहा खलु, एएसिं चेव पाडिवया ॥१३३२॥**

आषाढीपूर्णिमा, तथाऽऽश्विनीपूर्णिमायामिन्द्रमहः, कार्तिकीपूर्णिमा, ' सुगिम्हए, चैत्रीपूर्णिमा, एतेऽन्तदिना आत्ता, आद्यदिनस्तु यत्र यद्दिनान्महः प्रवर्तते ॥ १३३२ ॥ ननु स्वाध्याययोगयोः कृतौ गुणा एव स्युः, किं निषेधः ? उच्यते–' कामं '

**कामं सुओवओगो, तवोवहाणं अणुत्तरं भणियं । पडिसेहियंमि काले, तहावि खलु कम्मबंधाय ॥१३३३॥**

काममनुमतमिदं यच्छ्रुतोपयोगस्तपोविधानं चाऽनुत्तरं प्रधानमेव ॥ १३३३ ॥ ' छल '

**छलया व सेसएणं, पाडिवएसुं छणाणुसज्जंति। महवाउलत्तणेणं असारिआणं च संमाणो ॥१३३४॥**

इह पूर्णिमायां महेषु केलिप्रियसुराश्छलन्ति तदाऽऽसन्नत्वाच्छलना विशेषेण प्रतिपत्सु। 'छणा' महाननुसज्जंति, किं च महव्याकुलत्वेन पूर्णिमायामसारितानामसन्मानितानां प्रतिपत्सु भोजनादिकृते महः प्रवर्तत इति प्रतिपत्त्याज्या ॥ १३३४ ॥ एतद्गाथाद्वयं वृत्तिचूर्ण्यौ न। अनध्याये स्वाध्यायकर्तुर्दोषानाह–'अन्न'

**अन्नयरपमायजुयं, छलिज्ज अप्पिड्ढिओ न उण जुत्तं। अद्धोदहिट्ठिइ पुण, छलिज्ज जयणोवउत्तंपि ॥१३३५॥**

इह सरागयतिः प्रमादी स्यात्तं चाऽन्यतरप्रमादयुतं स्वाध्यायोदितमल्पर्द्धिरूनार्धाऽब्ध्यायुदेवश्छलेत्, यतनायुक्तं अप्रमत्तं पुनर्न छलेत्, अर्धोदधिस्थितिः पुनः कोऽपि प्राग्भववैरात् ( छलेदपि ) ॥ १३३५ ॥ 'चंदिमसूरुवराग 'त्ति अस्य व्याख्या 'उक्को'

**उक्कोसेण दुवालस, चंदु जहन्नेण पोरिसी अट्ठ। सूरो जहन्न बारस, पोरिसी उक्कोस दो अट्ठ ॥१३३६॥**

तत्र चन्द्र उदयन्नेव ग्रस्तोऽथवोत्पातभावात् सर्वरात्रौ ग्रहणं जातं, ततो रात्रेश्चतुर्यामा अन्यच्चाऽहोरात्रमुत्कृष्टमेवं द्वादशपौरुषीः हन्ति, जघन्यमष्ट, यथाऽस्ते ग्रस्तस्ततोऽहोरात्रिश्च। सूरः षोडश पौरुषीः, यथोदयन्नेव ग्रस्तो यद्वोत्पातिकं च सर्वदिनं ग्रहणं जातं, ततो यावत्स एवाऽर्को नोदेति तावदस्वाध्याय इति। एकं ग्रहणाऽहोरात्रमेकं द्वितीयार्कस्य चैवमुत्कृष्टं 'दो अट्ठे'ति षोडश पौरुषीः, जघन्यं द्वादश, यथाऽस्ते ग्रस्तस्ततो रात्रेश्चतुर्यामा अन्यार्काहोरात्रं ( च ) ॥ १३३६ ॥ 'सग्ग'

सग्गहनिव्वुड एवं, सूराई जेण हुंति अहोरत्ता। आइन्नं दिणमुक्के, सुच्चिय दिवसो अ राई य ॥१३३८॥

शिष्यः-सग्रहेऽस्तः, एवमहोरात्रं कथं हतं? उच्यते 'सूराई०' येन सूरोदयकालादहोरात्रस्याऽऽदिः स्यात् तेन दूषितमन्यदपि चाऽहोरात्रं त्याज्यं। आह-आचीर्णं पुनरिदं-चन्द्रो निशि ग्रस्तो मुक्तस्ततो निशाशेषं त्याज्यं, यत एष्यत्सूरोदयेऽहोरात्रान्तः, अर्केऽह्नि गृहीते मुक्ते च तद्दिनशेषं रात्रिश्च, ग्रस्तास्ते चन्द्रेऽन्यदहोरात्रं त्याज्यमेवं सूर्येऽपि सग्रहास्ते, द्वार २, सदिव्यं गतं ॥ १३३८ ॥ 'वुग्ग'

वुग्गह दंडियमादी, संखोहे दंडिए य कालगए। अणरायए य सभए, जच्चिर निद्दोच्चऽहोरत्तं ॥ १३३९ ॥

व्युद्ग्राहे युद्धे, दण्डिकादीनामादिशब्दात् ॥ १३३९ ॥ 'सेणा'

सेणाहिवईभोइयमयहरपुंसित्थिमल्लजुध्धे य। लोट्टाइभंडणे वा गुज्झग उड्डाहमचियत्तं ॥ १३४० ॥

सेनापतिभोगिकमहत्तरपुंस्त्रीमल्लयुध्धे, लोष्टादिभंडने, आदितो रजःपर्वसु, विग्रहाः प्रायो गुह्यकबहुलास्तत्र प्रमत्तं छलयेत्, उड्डाहो वा, अस्माकं युद्धममी त्वदुःखाः पठन्ति, ततोऽप्रीतिश्च। अथ मुख्यगाथाशेषपदत्रयव्याख्या-'संखोहे' इत्यादि, अन्यनरेंद्रस्य संक्षोभे, दण्डिके राज्ञि मृतेऽराजके च, सभये वा, तथा राज्ञि सत्यपि सभये, यावत्कालं सभयं तावदस्वाध्यायः, राज्ञि मृते तु 'निद्दोच्चे' निर्द्वन्द्वे श्रुतेऽपि तदन्यहोरात्रं त्याज्यं ॥ १३४० ॥ 'तद्दि'

तद्दिवसभोइआई, अंतो सत्तण्ह जाव सज्झाओ। अणहस्स य हत्थसयं, दिट्ठि विवित्तंमि सुद्धं तु ॥

भोगिकादिमृते तद्दिवसमिति अहोरात्रमस्वाध्यायः, आदिशब्दात् ॥ १३४० ॥ 'मय'

**मयहरपगए बहुपक्खिए य सत्तघर अंतरमए वा । निदुक्खत्ति य गरिहा, न पढंति सणीयगं वावि ॥**

महत्तरो ग्रामाद्यधिकारी, प्रगतो बहुमतः, बहुपाक्षिकः पाटकाधिपो बहुस्वजनः शय्यातरो वा, तस्मिन् सप्तगृहान्तरे मृतेऽहोरात्रोऽस्वाध्यायः, स्वाध्याये त्वहो ! निर्दुःखा एते, जनगर्हा, ततो न पठन्ति शनैर्वा पठन्त्यनुप्रेक्षन्ते वा, अनया गाथया 'अंतो सत्तण्ह' पदं व्याख्यातं, 'अणहे'त्यादि—अनाथस्य हस्तशतान्तरे शवे दृष्टेऽनध्यायः, विवक्ते तु शुद्धं स्यात् ॥१३४२॥ अथ न तस्य ( परिष्ठापकः ) कोऽप्यस्ति ततः 'सागा'

**सागारियाइ कहणं, अणिच्छ रत्तिं वसहा विगिंचंति । विक्किन्ने व समंता, जं दिट्ठं सढेयरे सुद्धा ॥ १३४३ ॥**

श्राद्धादेः कथनं, तस्मिन्ननिच्छति अन्यत्स्थानं वीक्ष्यमभावे रात्रौ वृषभास्त्यजन्ति, तथा तस्मिन् काकादिभिः समन्ताद्विकीर्णे यद्दृष्टं तत्त्याज्यमदृष्टेऽपि तत्रस्थे शठेतरे अशठाः शुद्धाः, द्वार ४ ॥ १३४३ ॥ व्युद्ग्रहो गतः 'सारी'

**सारीरंपि य दुविहं, माणुस तेरिच्छियं समासेणं । तेरिच्छं तत्थ तिहा, जलथलखहजं चउद्धा उ॥१३४४॥**

शारीरमस्वाध्यायिकं ( द्विविधं मानुष्यं तैरश्चं च, मानुष्यं तावत्तिष्ठतु, तैरश्चं ) समासेन त्रिधा—जलजं मत्स्यादीनां, स्थलजं गवादीनां, खचरभवं मयूरादीनामेकैकस्य चतुर्धा द्रव्यादिभिः परिहारः ॥ १३४४ ॥ तथाहि 'पंचिं'

**पंचिंदियाण दव्वे, खेत्ते सट्ठिहत्थ पुग्गलाइन्नं । तिकुरत्थ महंतेगा, नगरे बाहिं तु गामस्स ॥१३४५॥**

(वृत्ती) पञ्चेन्द्रियतिरश्चां रक्तं मांसं मरकतचर्माऽस्थि च, क्षेत्रे षष्टिहस्तान्तरस्त्वाध्यायः, परतो न, यद्वा पुद्गलेन मांसेनाऽ-
कीर्णं पाक्षिकादिनिर्गमादिस्थानं तस्मिन् तिसृभिः कुरथ्याभिरन्तरिते महता राजमार्गेणैकेनाऽप्यन्तरिते शुद्धिः। तत्र राजमार्गः—
'जेणं राया बलसमग्गो गच्छति जेण य रहो वा विविधा आसवाहणा गच्छन्ति, सेसा कुरत्था', एवं नगरे, ग्रामे तु सीमाया
बहिरेव लक्के तु शुद्धिः ॥ १३४५ ॥ 'काले'

**काले तिपोरसिऽट्ठ व, भावे सुत्तं नंदिमाईयं । सोणिय मंसं चम्मं, अट्ठी विय हुंति चत्तारि ॥१३४६॥**

तथा कालात्तु तिस्रः पौरुषीर्यावद् रक्तस्याऽण्डस्य, ततो धौतेऽधौते वा शुद्धिः, अष्ट वाऽऽघातस्थाने, आघातो यत्र पञ्चे-
न्द्रियो मारितस्तस्मिन्नेऽष्ट यामान् अस्वाध्यायः । भावे सूत्रं नन्द्यनुयोगद्वारतन्दुलवेयालीयचंदाविज्झयादि न पठ्यतेऽथवा
चत्वारोऽस्वाध्यायभेदा मांसशोणितचर्मास्थ्याख्याः ॥ १३४६ ॥ तत्र मांसेऽयं विधिः 'अन्तो'

**अंतो बहिं च धोअं, सट्ठिं हत्थाउ पोरिसी तिन्नि । महकाए अहोरत्तं, रद्धे वुड्ढे अ सुद्धं तु ॥१३४७॥**

**बहिधोयरद्धपक्के, अंतो धोए उ अवयवा हुंति । महकाय बिरालाई, अविभिन्ने केइ इच्छंति ॥१३४८॥**

मांसं षष्टिहस्तानामन्तर्मध्ये बहिश्च धौतं, अत्र व्याख्याने अग्रेतन 'बहिधोय' गाथार्धे, अन्तर्बहिश्च धौतं, तथा जलेन राद्धं
नि लिं च पक्वं, अत्र चतुर्भङ्गी—अन्तर्धौतमन्तः पक्वमन्तर्धौतं बहिःपक्वं, बहिर्धौतमन्तःपक्वं, त्रिष्वेष्वस्वाध्यायः । 'सट्ठि हत्था—
उ'त्ति त्रितीयपदं, षष्टिहस्तान्तरस्तिस्रः पौरुषीर्यावत् । बहिर्धौतं बहिःपक्वं, ततोऽन्तरानीत एष तुर्यो भङ्गः शुद्धः । तत्राऽन्तर्धौ-

तोऽन्तःपक्षे चाऽवयवाः पतिताः स्युः । अथ 'महकाए अहोरत्तं' व्याख्या—महाकायः पञ्चेन्द्रियो यत्र हतस्तदाघातनमुच्यते, तच्च षष्टिहस्तान्तरहोरात्रं त्याज्यमत्राऽर्कोदयेनाऽहोरात्रच्छेदो ज्ञेयोऽत्र व्याख्या—'महकाय बिरालाई' अग्रेतनगाथा—पश्चार्धं, मूषिकादिमहाकाये विरालादिहतेऽभिन्न एव गलिते षष्टिहस्तेभ्यो बहिर्नीते वा केऽपि स्वाध्यायमिच्छन्ति, मुख्यपक्षे त्वनध्याय एव ॥ १३४७–४८ ॥ अत्र भाष्यं 'मूसा'

**मूसाइ महाकायं, मज्जाराईहयाघयण केई । अविभिन्ने गिण्हेउं, पढंति एगे जइऽपलोओ ॥ २२१ ॥**

मूषकादि मार्जारादिहतं यत्र तदाऽऽघातनादभिन्नं गृहीत्वा यदि षष्टिहस्तोर्ध्वं पलायते तत्रैके केऽपि पठन्ति । अथ 'रद्धे वुड्ढे अ सुद्धं तु' इति तुर्यपदस्य व्याख्या—यन्मांसं राद्धं पक्वं वा तच्छुद्धं, यत्र च धौतं तत्र चेदम्बुवाहो व्यूढस्तदापि तदैव शुद्धिः ॥ २२१ ॥ अण्डकानध्यायं व्याख्याति 'अंतो'

**अंतो बहिं च भिन्नं, अंडगबिंदू तहा विआया य । रायपह वूढ सुद्धे, परवयणे साणमादीणं ॥१३४९॥**

अन्तोऽण्डकं षष्टिहस्तानामन्तर्भिन्नं तदाऽशुद्धं, बहिर्भिन्नं शुद्धं, तथाऽण्डकबिन्दुः सूक्ष्मः कोऽपि स्यात् ॥ १३४८॥ 'अंड'

**अंडगमुज्झिकप्पे, न य भूमि खणंति इहरहा तिन्नि । असज्झाइयपमाणं, मच्छियपाओ जाहि [न] बुड्डे २२२**

कल्पे वस्त्रे उज्झिते लग्ने सति षष्टिहस्तेभ्यो बहिः कल्पे धाविते शुद्धिर्भूमौ पतिते भूमिं (न) खनन्ति, न शुद्धिः, किन्तु धावित्वा त्यजन्ति 'इयरह'त्ति तत्थतथे सङ्किंहत्था तिन्नि य पोरिसीउ परिहरिज्जंति । 'असज्झा०' अस्वाध्यायबिन्दुप्रमाणं यत्र

मक्षिकापादो ब्रुडेत् ॥ २२२ ॥ अथ ' विआया य ' त्ति प्रसूता राजपथव्यूढशुद्ध इत्यवयवयोर्व्याख्या ' अज '

**अजराउ तिन्नि पोरिसि, जराउआणं जरे पडे तिन्नि। रायपह विंदु पडिए, कप्पइ वूढे पुणऽन्नत्थ ॥ २२३ ॥**

जरा यासां न स्यात् तासां वल्गुल्यादीनां प्रसूतेरारभ्य तिस्रः पौरुषीरस्वाध्यायः । तदाप्रसूतायामप्यहोरात्रच्छेदे शुद्धिर्जरायुजानां गवादीनां तु जरायां पतितायां त्रीन् यामान्, 'राय०' राजपथे तदन्तरितो वा पशुरक्तबिन्दुरासन्नोऽपि पतितः शुद्धस्तथाऽन्यत्रस्थानेऽम्बुवाहो व्यूढः, पुनःशब्दादग्निना दग्धः शुद्धः ॥ २२३ ॥ ' परवयणे साणमादीणं ' अस्य व्याख्या— परः प्रेरकस्तद्वचनं चेच्छ्वादीनि मांसमाहार्य वसत्यासन्नं तिष्ठन्ति तदाऽस्वाध्यायः, गुरुः ' जइ '

**जइ फुसइ तहिं तुंडं, अहवा लिच्छारिएण संचिक्खे। इहरहा न होइ चोयग!, वंतं वा परिणयं जम्हा ॥**

यदि सरक्तलिप्तं तुण्डं काष्ठादौ स्पृशेदथवा ' लिच्छा ' लिप्तेनाऽऽस्येनाऽऽसन्नः स तिष्ठेत्तदाऽस्वाध्यायः। ' इह '—हे नोदक! इतरथा न भवति, यस्माद्वान्तमवान्तं वाऽऽहारतां गतं परिणतं। अस्थिनि—पौरुषीत्रयेणाऽप्यस्वाध्यायो न घटते तथाप्यार्द्रमस्थि पश्चिहस्तैस्त्याज्यं शुष्के तु नानध्यायः। चेदंबुवाहो व्यूढः तदा तदैव शुद्धं, दग्धं च शुद्धं। गतस्तिर्यगनध्यायः ॥ २२४ ॥ ' माणु '

**माणुस्सयं चउद्धा, अट्ठिं मुत्तूण सयमहोरत्तं। परिआवन्नविवन्ने, सेसे तियसत्त अट्ठेव ॥ १३५० ॥**

मानुष्यकमस्वाध्यायिकं चतुर्धा—अस्थि मुक्त्वा रक्तादिशेषाणां त्यागः, क्षेत्रे हस्तशतान्तः, कालेऽहोरात्रं, व्रणादिषु रक्ते

वसतेरुभयतः शतहस्तान्तः शवं नीयमानं मुक्त्वा परवचने उक्तानां पुष्पादीनां प्रतिषेधोऽनध्यायो न स्यादिति यस्माच्छोणितादिचतुःप्रकारमेव शारीरमनध्यायः स्यादतो न वर्जयन्ति ॥ १३५५ ॥ ' एसो '

**एसो उ असज्झाओ, तवज्जिउऽझाउ तत्थिमा मेरा । कालपडिलेहणाए गंडगमरुएहिं दिट्ठंतो ॥१३५६॥**

एष संयमघातादिरुक्तस्वरूपोऽस्वाध्यायस्तद्वर्जोऽध्यायस्तत्रेयं मर्यादा सामाचारी–यावत् कालग्रहणवेला न स्यात्तावत्कालप्रतिलेखनायां कृतायां गण्डकदृष्टान्तो भावी, आत्ते तु शुद्धे काले प्रवेदिते मरुकदृष्टान्तः ॥ १३५६ ॥ ' पंच '

**पंचविहअसज्झायस्स, जाणणट्ठाय पेहए कालं । चरिमा चउभागवसेसिसाइ भूमिं तओ पेहे ॥१३५७॥**

प्रागुक्तपञ्चविधाऽस्वाध्यायज्ञानार्थं कालं प्रेक्षेत, कालमलात्वाऽध्याये चतुर्लघुः, अत्राऽयं विधिश्चरमायां पौरुष्यां चतुर्भागावशेषायां तिस्रो भूमीः (मयः) प्रेक्ष्यते(न्ते), उच्चारभूम्यः, प्रस्रवणभूम्यः, कालभूम्यश्चेति ॥ १३५७ ॥ यथा ' अहि '

**अहियासियाइं अंतो, आसन्ने चेव मज्झि दूरे य । तिन्नेव अणहियासी, अंतो छ छच्च बाहिरओ ॥१३५८॥**

वसतेरन्तर्मध्य उच्चारस्याऽधिसह्यस्थण्डिलान्यासन्ने मध्ये दूरे, एवं त्रीणि प्रतिलिखेदेवमनधिसह्यस्थण्डिलान्यपि त्रीण्येवं मध्ये षट् तथा बहिरपि षट्, परं पूर्वमनधिसह्यानि पश्चादधिसह्यानि, तत्राऽधिसह्यानि येषु गन्तुं शक्यते, यत्र तु वेगेनोच्चारादेर्धर्तुमशक्यस्य त्यागस्तान्यनधिसह्यानि ॥ १३५८ ॥ ' एमेव '

**एमेव य पासवणे, बारस चउवीसतिं तु पेहेत्ता । कालस्स य तिन्नि भवे, अह सूरो अत्थमुवयाई ॥१३५९॥**

एवमेव प्रस्रवणे द्वादश, सर्वाणि चतुर्विंशतिरुपयुक्तः प्रतिलिखेत् । जघन्यं हस्तान्तरे, तत्र त्रीणि कालग्रहणस्य स्थण्डिलानि । अथ स्थण्डिलप्रेक्षानन्तरं सूरोऽस्तमुपयाति ॥ १३५९ ॥ तत आवश्यकं कुर्युस्तच्च द्विधा–सव्याघातं निर्व्याघातं च 'अह'

अह पुण निव्वाघाओ, आवासं तो करंति सव्वेऽवि । सड्ढाइकहणवाघायायाइ, पच्छा गुरू ठंति ॥१३६०॥

यदि निर्व्याघातं, ततः सर्वे गुरुयुक्ता आवश्यकं कुर्वन्ति, अथ श्राद्धधर्मकथनादिव्याघाते गुरुर्निषद्याभृच्च पश्चाद्दैवसिकातिचारकायोत्सर्गे तिष्ठतः ॥ १३६० ॥ 'सेसा'

सेसा उ जहासत्तिं, आपुच्छित्ताण ठंति सट्ठाणे । सुत्तत्थकरणहेउं, आयरिए ठियंमि देवसियं ॥१३६१॥

शेषास्तु यथाशक्तीति स्वां कायोत्सर्गकरणशक्तिं ज्ञात्वा, गुरुमापृच्छ्य, गुरुपार्श्वे यथारत्नाधिकं स्वस्थानं एत्य श्रीवत्साकारमण्डल्यां तिष्ठन्ति, तत्र मण्डलीस्थापना ⊙ । तत्र सामायिकं भणित्वा सूत्रार्थस्मरणहेतुं पूर्वमेवोत्सर्गे तिष्ठन्ति, तत्र गुरुर्मध्येन गत्वा स्वस्थाने तिष्ठति, तत्र ये वामतस्तेऽनन्तरं सव्येन गत्वा स्वस्थाने तिष्ठन्ति, ये दक्षिणतस्तेऽनन्तरापसव्येन गत्वा तिष्ठन्ति, गुरौ सामायिकं कृत्वा कायोत्सर्गस्थे प्राक्कायोत्सर्ग( स्थाः )दैवसिकातिचारं ध्यायन्ति, अन्ये भणन्ति–गुरौ सामायिकं कुर्वति प्राक्स्थिताः पुनः सामायिकं कुर्युः ॥ १३६१ ॥ 'जो हु'

जो हुज्ज उ असमत्थो, बालो वुड्ढो गिलाण परितंतो । सो विकहाइ विरहिओ, अच्छिज्जा निज्जरापेही ॥

पर्यायापन्ने पूतिपर्यायं प्राप्ते तथा विवर्णे खदिरादिवर्णतां प्राप्ते नाऽस्वाध्यायः। अथ शेषे–स्त्रीऋतुजे त्रिदिनाः, पुत्रे जाते सप्त, पुत्र्यां त्वष्टदिना अस्वाध्यायो यतः ॥ १३५० ॥ ' रत्तु '

**रत्तुक्कडा उ इत्थी, अट्ठ दिणा तेण सत्त सुक्कहिए। तिन्नि दिणाण परेणं, अणोउगं तं महोरत्तं ॥ १३५१ ॥**

गर्भकाले रक्तोत्कटा स्त्री स्त्रियं सूते, ततोऽष्टौ दिनाः। शुक्राधिका तु सुतं, तेन सप्त। 'तिन्नि' त्रयाणामृतुदिनानां परतो यद्रोगवशात्स्यात्तत् ' अणोउगं ' अनार्त्तवं महारक्तमुक्तं तत्र कायोत्सर्गं कृत्वाऽध्येयं ॥ १३५१ ॥ अथाऽस्थिविधिः ' दंते '

**दंते दिट्ठि विगिंचण, सेसट्ठी बारसेव वासाइं। झामिय वूढे सीआण, पाणरुद्दे य मायहरे ॥ १३५२ ॥**

दन्तः पतितो यत्नाद्वीक्ष्यः, दृष्टे शतहस्तोर्ध्वं विवेचनं त्यागोऽदृष्ट उद्घाटोत्सर्गं कृत्वाऽध्येयं, शेषास्थिषु हस्तशतान्तःस्थेषु द्वादशवर्षाण्यस्वाध्यायः। 'झामियेत्यादि सीआण' स्मशाने ध्यामिते चितायां दग्धेऽम्बुवाहे वा व्यूढे नाऽस्वाध्यायः, ' पाण० ' डुम्बास्तेषां यक्षस्य रुद्रस्य मातॄणां चामुण्डादीनां च गृहेऽधःस्थितास्थिष्वस्वाध्यायः ॥ १३५२ ॥ अत्र पश्चार्द्धे भाष्यं ' सीया '

**सीयाणे जं दिट्ठं(दड्ढं), तं तं मुत्तूणऽनाहनिहयाणि। आडंबरे य रुद्दे, माइसु हिट्ठट्ठिया बारे ॥२२५॥**

श्मशाने यद्दग्धमम्बुवाहे च व्यूढं तन्मुक्त्वा शेषाण्यनाथमृतकनिखातास्थीनि तथाऽऽडम्बरो मातङ्गयक्षस्तस्य रुद्रमात्रादीनां गृहाधश्च सद्योहतानामस्थीनि स्युस्तत्र ' बारे 'त्ति द्वादश वर्षाणि शतहस्तान्तरनध्यायः ॥ २२५ ॥ ' आवा '

आवासियं च वूढं, सेसे दिट्ठंमि मग्गण विवेगो। सारीरगाम वाडग साहीइ, न नीणियं जाव ॥१३५३॥

पूर्वार्धस्येयं विभाषा ॥ १३५३ ॥ 'असि'

असिवोमाघायणेसुं, वारस अविसोहियंमि न करंति। झामिय वूढे कीरइ, आवासिय सोहिए चेव ॥

अशिवावमयोस्तथाऽऽघातने महारणे यत्र बहवो मृता अदग्धाश्चास्थुस्तत्र स्थानेऽविशोधिते द्वादश वर्षाणि हस्तशतान्तर्न स्वाध्यायं कुर्युस्तत्राऽग्निना ध्यामितेऽम्बुवाहे व्यूढेऽथवा तत्रस्थाने पुरे आवासिते क्रियते। अथ 'आवासियं च व्यूढम'स्य व्याख्या–तत्र स्थाने पुरमावासितं जलस्रोतो वा व्यूढं ततः 'सेस'त्ति गृहिभिः स्वस्वगृहस्थाने शोधिते शेषं यत्र शोधितं, तत्र साधवः स्थिताः 'मग्गण'त्ति अस्थ्यादिमार्गणां कृत्वा, दृष्टे च विवेकं त्यागं कृत्वाऽशठभावा अदृष्टे च त्रीन् दिनान् कायोत्सर्गं कृत्वाऽधीयन्ते। 'सारीरगाम' मृतशरीरं लघुग्रामाद्यावन्न निष्कासितं, बृहद्ग्रामादौ तु पाटकशाखाभ्यस्तावद-स्वाध्यायः ॥ १३५४ ॥ अत्र भाष्यं 'डह'

डहरगगाममए वा, न करेंति जाव ण नीणियं होइ। पुरगामे व महंते, वाडगसाही परिहरंती ॥२२६॥

लघुग्रामे मृते सति, वाशब्दाच्छनैर्वा कुर्युः। पुरे ग्रामे वा बृहति ॥ २२६ ॥ परः प्राह–वसत्यासन्ने शवपुष्पादाविति पतितेऽस्वाध्यायः, गुरुः 'निज्ज'

निज्जंतं मुत्तूणं, परवयणे पुप्फमाइपडिसेहो। जम्हा चउप्पगारं, सारीरमओ न वज्जंति ॥ १३५५ ॥

वसतेरुभयतः शतहस्तान्तः शवं नीयमानं मुक्त्वा परवचने उक्तानां पुष्पादीनां प्रतिषेधोऽनध्यायो न स्यादिति यस्माच्छोणितादिचतुःप्रकारमेव शारीरमनध्यायः स्यादतो न वर्जयन्ति ॥ १३५५ ॥ ' एसो '

**एसो उ असज्झाओ, तवज्जिउऽझाउ तत्थिमा मेरा । कालपडिलेहणाए गंडगमरुएहिं दिट्ठंतो ॥१३५६॥**

एष संयमघातादिरुक्तस्वरूपोऽस्वाध्यायस्तद्वर्जोऽध्यायस्तत्रेयं मर्यादा सामाचारी–यावत् कालग्रहणवेला न स्यात्तावत्कालप्रतिलेखनायां कृतायां गण्डकदृष्टान्तो भावी, आत्ते तु शुद्धे काले प्रवेदिते मरुकदृष्टान्तः ॥ १३५६ ॥ ' पंच '

**पंचविहअसज्झायस्स, जाणणट्ठाय पेहए कालं । चरिमा चउभागवसेसिसाइ भूमिं तओ पेहे ॥१३५७॥**

प्रागुक्तपञ्चविधाऽस्वाध्यायज्ञानार्थं कालं प्रेक्षेत, कालमलात्वाऽध्याये चतुर्लघुः, अत्राऽयं विधिश्चरमायां पौरुष्यां चतुर्भागावशेषायां तिस्रो भूमीः (मयः) प्रेक्ष्यते(न्ते), उच्चारभूम्यः, प्रस्रवणभूम्यः, कालभूम्यश्चेति ॥ १३५७ ॥ यथा ' अहि '

**अहियासियाइं अंतो, आसन्ने चेव मज्झि दूरे य । तिन्नेव अणाहियासी, अंतो छ छच्च बाहिरओ ॥१३५८॥**

वसतेरन्तर्मध्य उच्चारस्याऽधिसह्यस्थण्डिलान्यासन्ने मध्ये दूरे, एवं त्रीणि प्रतिलिखेदेवमनधिसह्यस्थण्डिलान्यपि त्रीण्येवं मध्ये षट् तथा बहिरपि षट्, परं पूर्वमनधिसह्यानि पश्चादधिसह्यानि, तत्राऽधिसह्यानि येषु गन्तुं शक्यते, यत्र तु वेगेनोच्चारादेर्धर्तुमशक्यस्य त्यागस्तान्यनधिसह्यानि ॥ १३५८ ॥ ' एमेव '

**एमेव य पासवणे, बारस चउवीसतिं तु पेहेत्ता । कालस्स य तिन्नि भवे, अह सूरो अत्थमुवयाई ॥१३५९॥**

एवमेव प्रस्रवणे द्वादश, सर्वाणि चतुर्विंशतिरुपयुक्तः प्रतिलिखेत् । जघन्यं हस्तान्तरे, तत्र त्रीणि कालग्रहणस्य स्थण्डिलानि । अथ स्थण्डिलप्रेक्षानन्तरं सूरोऽस्तमुपयाति ॥ १३५९ ॥ तत आवश्यकं कुर्युस्तच्च द्विधा–सव्याघातं निर्व्याघातं च ' अह '

अह पुण निव्वाघाओ, आवासं तो करांति सव्वेऽवि । सड्ढाइकहणवाघाययाइ, पच्छा गुरू ठंति ॥१३६०॥

यदि निर्व्याघातं, ततः सर्वे गुरुयुक्ता आवश्यकं कुर्वन्ति, अथ श्राद्धधर्मकथनादिव्याघाते गुरुर्निषद्याभृच्च पश्चाद्दैवसिकातिचारकायोत्सर्गे तिष्ठतः ॥ १३६० ॥ ' सेसा '

सेसा उ जहासत्तिं, आपुच्छित्ताण ठंति सट्ठाणे । सुत्तत्थकरणहेउं, आयरिए ठियंमि देवसियं ॥१३६१॥

शेषास्तु यथाशक्तीति स्वां कायोत्सर्गकरणशक्ति ज्ञात्वा, गुरुमापृच्छ्य, गुरुपार्श्वे यथारत्नाधिकं स्वस्थानं एत्य श्रीवत्साकारमण्डल्यां तिष्ठन्ति, तत्र मण्डलीस्थापना ◉ । तत्र सामायिकं भणित्वा सूत्रार्थस्मरणहेतुं पूर्वमेवोत्सर्गे तिष्ठन्ति, तत्र गुरुर्मध्येन गत्वा स्वस्थाने तिष्ठति, तत्र ये वामतस्तेऽनन्तरं सव्येन गत्वा स्वस्थाने तिष्ठन्ति, ये दक्षिणतस्तेऽनन्तरापसव्येन गत्वा तिष्ठन्ति, गुरौ सामायिकं कृत्वा कायोत्सर्गस्थे प्राक्कायोत्सर्ग( स्थाः )दैवसिकातिचारं ध्यायन्ति, अन्ये भणन्ति–गुरौ सामायिकं कुर्वति प्राक्स्थितास्ताः पुनः सामायिकं कुर्युः ॥ १३६१ ॥ ' जो हु '

जो हुज्ज उ असमत्थो, बालो वुड्ढो गिलाण परितंतो । सो विकहाइ विरहिओ, अच्छिज्जा निज्जरापेही ॥

बालवृद्धादिरसमर्थः, परिश्रान्तः प्राघुणा(र्णका)दिः, सो वि सज्झायचिंतणपरो अच्छइ, जाहे गुरु ठंति ताहे तेवि बालादिया ठायंति ॥ १३६२ ॥ 'आवा'

**आवासगं तु काउं, जिणोवइट्ठं गुरूवएसेणं। तिण्णि थुई पडिलेहा, कालस्स इमा विही तत्थ ॥१३६३॥**

जिणेहिं गणहराणं उवइट्ठं तओ परंपरेणं जाव अम्ह गुरूवएसेण आगयं तं काउं, अन्नाओ(अन्ने) तिन्नि थुईओ करिंति, ततः कालस्य प्रत्युपेक्षा, तत्राऽयं विधिः ॥ १३६३ ॥ 'दुवि'

**दुविहो उ होइ कालो वाघाइम एतरो य नायव्वो। वाघातो घंघसालाए, घट्टणं सड्ढकहणं वा ॥१३६४॥**

कालो व्याघातवानितरश्च, यत्स्थानं स्तम्भादिगहनं प्रौढं कार्पटिकादियुग्वा सा घंघशाला, तत्र संघट्टनपतनादिव्याघातदोषः, श्राद्धानां धर्मकथनं वा, तेन च कालातिक्रमः ॥ १३६४ ॥ 'वाघा'

**वाघाए तइओ सिं, दिज्जइ तस्सेव ते निवेएंति। इयरा पुच्छंति दुवे, जोगं कालस्स घेच्छामो ॥१३६५॥**

व्याघातेऽनयोः कालग्राहिप्रतिचारकयोस्तृतीय उपाध्यायादिर्दीयते, तस्यैवाऽग्रे तत्सर्वं कुरुतो यावन्निवेदयतोऽत्र गण्डकदृष्टान्तो न स्यात्, अन्ये तूपयुक्तास्तिष्ठन्ति, शुद्धे काले दण्डधरं बहिः प्रतिचरन्तं मुक्त्वा सर्वे उपाध्यायपार्श्वे मध्ये स्वाध्यायं प्रस्थापयन्तीत्यादिविधिः पुरो वक्ष्यते । 'इयरा पुच्छंति' पश्चार्धमितरथा निर्व्याघाते द्वौ गुरुं पृच्छतः कालस्य योगं व्यापारं गृहीष्यावः ॥ १३६५ ॥ 'आपु'

आपुच्छण किइकम्मे, आवासिय पाडियरिय वाघाते। इंदिय दिसा य तारा,वासमंसज्झाइयं चेव॥१३६६॥

प्रमादतो: कालं गृहीष्याम इति गुरोरापृच्छनं, गुर्वनुज्ञातौ कृतिकर्म कृत्वा, दण्डकं लात्वाऽऽवश्यकीमासाद्य वदन्तौ प्रमार्जयन्तौ यातोऽन्तरा वस्त्रादिना प्रस्खलिते, सामाचार्यां वा स्खलिते गुरोर्वाऽऽदेशदाने स्खलने, स्वयं पतने व्याघातः कालस्य स्यात्, अयं कालभूम्याः प्रतिलेखनाविधिः। इन्द्रियैरुपयुक्तौ प्रतिलिखतः। 'दिस'त्ति यत्र चतस्रो दिशो दृश्यन्ते, ऋतुबद्धे तिस्रस्तारा यत्रेक्ष्यन्ते, चेष्टोपयुक्तौ, अनिष्टा वा इन्द्रियविषयाः, दिग्मोहस्तारा वाऽदृश्याः, वर्षो वृष्टिर्वा स्वादस्वाध्यायो वा स्याणतो व्याघातः ॥ १३६६ ॥ 'जइ'

जइ पुण गच्छंताणं छीयं जोइं ततो नियत्तंति। निव्वाघाए दोण्णि उ, अच्छंति दिसा निरिक्खंता॥१३६७॥

क्षुतं ज्योतिर्वा स्पृष्टं, निर्व्याघाते तु कालभूमिगतौ, संदंशकादिपु (दिविधिना) प्रमृज्य, निषण्णावूर्ध्वस्थितौ वा द्वौ द्वे दिशौ निरीक्षमाणौ तिष्ठतः ॥ १३६७ ॥ किं च 'सज्झा'

सज्झायमचिंतंता, कणगं दट्ठूण पडिनियत्तंति। पत्ते य दंडधारी, मा बोलं गंडए उवमा ॥१३६८॥

स्वाध्यायमचिन्तयन्तौ ग्रीष्मे त्रीन्, शीते पञ्च, वर्षासु सप्त कनकान् पततो दृष्ट्वा प्रतिनिवर्तन्ते, निर्व्याघातेन कालग्रहणकाले प्राप्ते दण्डधारी अन्तः प्रविश्य वक्ति-बहुपडिपुन्ना कालवेला मा बोलं करेह। अत्र गण्डको घोषकस्तेनोपमा ॥ १३६८ ॥ 'आघो'

आघोसिए बहूहिं, सुयंमि सेसेसु निवडए दंडो। अह तं बहूहिं न सुयं, दंडिज्जइ गंडओ ताहे ॥१३६९॥

यथा लोके घोषकेन घुष्टे बहुभिः श्रुतेऽल्पैस्त्वश्रुत्वाऽकुर्वत्सु दण्डोऽथ तद्घोषणं बहुभिर्न श्रुतं तदा गण्डको दण्ड्यते, एवमत्राऽपि ॥ १३६९ ॥ दण्डधरे निर्गते कालग्राह्युत्तिष्ठेत्, स च ' पिय '

**पियधम्मो दढधम्मो, संविग्गो चेव वज्जभीरू य। खेयण्णो य अभीरू, कालं पडिलेहए साहू ॥१३७०॥**

प्रियः ( प्रियधर्मः ) खेदज्ञः शक्तिमान्, प्रतिलिखति प्रतिजागर्त्ति ॥ १३७० ॥ ' कालो '

**कालो संझा य तहा दोवि समप्पंति जह समं चेव। तह तं तुलेंति कालं, चरिमं च दिसं असज्झाए॥१३७१॥**

तथा कालं गृह्णन्तौ तां कालवेलां तोलयतोऽथवा चरमदिशि पश्चिमायां ' असज्झाए ' सन्ध्याऽतिक्रमे कायोत्सर्गं कुर्युः ॥ १३७१ ॥ ' आउ '

**आउत्तपुव्वभणियं, अणपुच्छा खलियपडियवाघाओ। भासंत मूढसंकिय, इंदियविसए तु अमणुण्णे ॥**

यथा गमने पूर्वं भणितं तथाऽऽयुक्तः प्रविशेत्, चेदनापृच्छ्य कालं लाति, स्खलितः, पतितस्तदा व्याघातस्तथा सूत्रादन्यद्भाष्यमाणो वन्दनावश्यकेषु क्रियासु वा मूढः, कृतं न वेति शङ्कितो वाऽन्यस्थानेऽन्यत्करोति, इन्द्रियविषया अमनोज्ञास्तदा कालवधः ॥ १३७२ ॥ ' निसी '

**निसीहिया नमुक्कारे काउस्सग्गे य पंचमंगलए। किइकम्मं न करिन्ता बीओ कालं तु पडियरइ॥१३७३॥**

विशन् तिस्रो 'निसीही नमो खमासमणाणं', ईर्यापथिक्यां कायोत्सर्गे पञ्चोच्छ्वासान् करोत्युत्सारे च ' नमो अरिहं-

नाणं'ति पंचमंगलं पठति, वन्दनं दत्त्वा वक्ति—'संदिसह पाउसियं कालं गिण्हामो, गुरुर्गेण्हह' इत्येवं यावत्कालग्राही संदिश्य प्राग्वदेति तावद्दण्डभृत्कालं प्रतिचरेत् ॥ १३७३ ॥ 'थोवा'

थोवावसेसियाए, संझाए ठाति उत्तराहुत्तो। चउवीसगदुमपुप्फिय-पुव्वगमेक्केक्कि अ दिसाए ॥१३७४॥

कालग्राह्युत्तरामुखः कालार्थमष्टोच्छ्वासकायोत्सर्गे तिष्ठेदन्ये पञ्चोच्छ्वासे, उत्सारिते च 'चउवीसत्थयं दुमपुप्फिया सामण्णपुव्वयं एए तिन्नि' अनुप्रेक्ष्य 'पुव्वगमो' पूर्वगमः पूर्वसदृक्पाठ एकैकदिशि, कोऽर्थः ? प्राचीयाम्याप्रतीचीष्वप्येतत्त्रयं चिन्त्यं, गृह्णतोऽमी व्याघाताः ॥ १३७४ ॥ 'बिंदू'

बिंदू छीए परिणय, सगणे वा संकिए भवे तिण्हं। भासंत मूढ संकिय, इंदियविसए य अमणुण्णे ॥१३७५॥

चेदम्बुबिन्दुरङ्गे लगेद्रक्तबिन्दुर्वा, क्षुतं जातमध्ययनं वा ध्यायतोऽन्यो भावः परिणतोऽनुपयुक्तता स्यात्, स्वगणे त्रयाणां साधूनां गर्जितविद्युदादावनध्याये शङ्किते कालव्याघातः ॥ १३७५ ॥ 'भासन्ते'त्यादिव्याख्या—'मूढो'

मूढो व दिसिज्झयणे, भासंतो यावि गिण्हाति न सुज्झे। अन्नं च दिसज्झयणे, संकंतोऽनिट्ठविसए वा ॥

दिश्यध्ययने मूढः, भाषमाणो वुडवुडंतो अज्झयणं कड्ढइ, एवं गृह्णन्न शुध्येत्, विपर्यासादन्यां दिशमध्ययनं वा, संक्रान्तावन्यां दिशि स्थितो न वेति शङ्कितः, अनिष्टविषयो यथा श्रोत्रस्य रुदितं, व्यन्तरेण वाऽट्टहासं कृतं, दृशोः किंचिद्विकृतिर्मा, नासि पूतादिगन्धः, ( रसस्तनैर ) स्पर्शोऽग्निज्वालादिर्यद्वेष्टेषु रागमनिष्टेषु द्वेषं वा यातीति ॥ १३७६ ॥ 'जोग'

जो गच्छंतंमि विही, आगच्छंतंमि होइ सो चेव । जं एत्थं णाणत्तं, तमहं वोच्छं समासेणं ॥१३७७॥

यो व्रजतां विधिः ॥ १३७७ ॥ श्रीभद्रबाहुकृतगाथेयं, पूर्वार्धं श्रीसिद्धसेनो व्याख्याति 'निसी'

निसीहिआ आसज्जं अकरणे खलिय पडिय वाघाए। अपमज्जिय भीए वा छीए छिन्ने व कालवहो ॥१॥

नैषेधिक्या आवश्यक्या अकरणे । 'छिन्न'त्ति केनाऽपि छिन्दने कृते ॥ १ ॥ 'गोणा'

गोणाइ कालभूमीइ, हुज्ज संसप्पगा व उट्ठिज्जा। कविहसिय विज्जुयंमी, गज्जिय उक्काइ कालवहो ॥२॥

आदौ गुरुं पृष्ट्वा कालभूमिं गतस्तत्र भुवि गवादिर्निषण्णः स्यात्, सम्पर्काः (संसर्पकाः) कीटिकोद्देहिकाद्या उत्तिष्ठन्ति, तद्दृष्ट्वा निवर्तेत, चेत्कालं प्रतिलिखतः, गृह्णतः, कालस्य निवेदनायाऽऽगच्छतः कपिहसितं व्यन्तरकृतं व्योम्नि कपितुल्यहास्यम्, आर्द्रादिस्वात्यन्तर्वर्षानक्षत्रवर्जं विद्युति गर्जिते तथोल्कायां ॥ २ ॥ 'इरि'

इरियावहिया हत्थंतरेऽवि मंगल निवेयणा दारे। सव्वेहि वि पट्ठविए, पच्छा करणं अकरणं वा ॥१३७८॥

गुरौ हस्तान्तरेऽपि गत ईर्यापथिकीं प्रतिक्रम्य, पञ्चोच्छ्वासकायोत्सर्गः, उत्सारिते पञ्चमङ्गलं । ततो वन्दनं दत्त्वा निवेदनं— सुद्धो पाउसीओ कालो, ततो दण्डधरो 'दार'त्ति द्वारे बहिः प्रतिजागर्त्यन्ये प्रस्थापयन्त्यन्यस्मिंश्च प्रतिचरणाय गते दण्डभृदेत्य प्रस्थापयेदेवं सर्वैः प्रस्थापिते पश्चान्निःशङ्किते स्वाध्यायकरणं, शङ्किते त्वकरणं ॥१३७८॥ अत्र मरुको बटुस्तद्दृष्टान्तः 'सन्नि'

सन्निहियाण वडारो, पट्ठविय पमादि णो दए कालं। बाहि ठिए पडियरए, विसई ताएऽवि दंडधरो १३७९

'चडारो' वायस(वाटारः)मागः, स संनिहितानां समीपगतानां बहूनां दीयते नाऽन्येषां, तथा प्रस्थापिते कालो दीयते, प्रमादिनस्तु कालं न दद्यात्। अथ 'मंगल निवेयणा दारे' इति। 'दार 'त्ति अस्य व्याख्या–' बाहिं ठिए' पश्चार्धं, प्रतिचारको बहिःस्थितस्तदा दण्डधरः प्रविशति ॥ १३७९ ॥ 'सवेहि वि पट्ठविए'त्ति पश्चार्धव्याख्या–' पट्ठ'

पट्ठविय वंदिए, वा ताहे पुच्छंति किं सुयं ? भंते !। तेवि य कहेंति सवं, जं जेण सुयं व दिट्ठं वा ॥१३८०॥

दण्डभृता प्रस्थापिते सर्वैर्वन्दिते वा दण्डभृदन्यो वा पृच्छति 'अज्जो ! केण किं सुयं दिट्ठं वा ? ते वि (सच्चं कहेंति)'। नैत्मकैक्कं न किंचिद्दृष्टं श्रुतं वा, ततः स्वाध्यायं कुर्वन्ति, अथैकेनाऽपि विद्युदादि स्फुटं दृष्टं गर्जितादि श्रुतं वा ततो न कुर्युः ॥ १३८० ॥ 'इक्क'

इक्कस्स दोण्ह व संकियंमि, कीरइ न कीरती तिण्हं। सगणंमि संकिए, परगणं तु गंतुं न पुच्छंति ॥१३८१॥

( सुगमा ) ॥ १३८१ ॥ 'जं एत्थं णाणत्तं तमहं वोच्छं समासेणं'ति उक्तत्वान्नानात्वं दर्शयति 'काल'

कालचउक्के णाणत्तगं तु, पाओसियंमि सवेवि। समयं पट्ठवयंती, सेसेसु समं च विसमं वा ॥१३८२॥

नानात्वमिदं, प्रादोषिके दण्डधरं मुक्त्वा सर्वे समं युगपत् प्रस्थापयन्ति, शेषेषु त्रिषु समं विषमं वा प्रस्थापयन्ति॥१३८२॥'इंदि'

इंदियमाउत्ताणं, हणंति कणगा उ तिन्नि उ उक्कोसं। वासासु य तिन्नि, दिसा उउबध्धे तारगा तिन्नि १३८३

इन्द्रियैरायुक्तानामुपयोगभृतां कालप्रतिजागर्यः ( सर्वे कालाः प्रतिजागरितव्याः) प्रतिग्राह्याश्च स्यात्, त्रयः कनका ग्रीष्मे

कालं घ्नन्ति। 'उक्कोसं'ति स च कालघात उत्कृष्टमध्यमजघन्यभेदात्त्रिधा, तत्र स्तोकैर्भावात्रिभिरुत्कृष्टतः, एवं पञ्चभिर्मध्यमो बहुभिर्भावात्सप्तभिर्जघन्यः ॥ १३८३ ॥ एतत्स्पष्टनायाऽग्रेतना गाथा ' कणगा '

**कणगा हणंति कालं, ति पंच सत्तेव गिम्हि सिसिरवासे। उक्का उ सरेहागा, रेहारहितो भवे कणगो॥१३८४**

कनका ग्रीष्मे त्रयः, शिशिरे पञ्च, वर्षासु सप्त घ्नन्ति। उल्का त्वेकैव, तत्र सरेखाकाः प्रकाशकारिण्यश्चोल्काः, श्लक्ष्णरेखोऽप्रकाशो रेखारहितो वा कनको भवेत् ॥ १३८४ ॥ 'वासासु य तिन्नि दिसा' अस्य व्याख्या ' वासा '

**वासासु य तिन्नि, दिसा हवंति पाभाइयंमि कालंमि। सेसेसु तीसु चउरो, उडुंमि चउरो चउदिसिंपि १३८५**

वर्षासु यत्र स्थिता दिशः प्रेक्षन्ते तत्र प्राभातिककालो ग्राह्यः, प्राभातिककाले तिस्रो दिशो विषयत्वेन ज्ञेया इत्यर्थः, शेषेषु त्रिष्वपि कालेषु वर्षासु यत्रस्थितश्चतुरो दिग्योगान् प्रेक्षते तथा ऋतुबद्धे चतुरोऽपि कालान् चतुर्दिक्षु प्रेक्षमाणासु गृह्णाति, ॥ १३८५ ॥ अथ ' उउबद्धे तारगा तिन्नि ' अस्य व्याख्या ' तिसु '

**तिसु तिन्नि तारगाओ, उडुंमि पाभातिए अदिट्ठेऽवि। वासासु तारगाओ, चउरो छन्ने निविट्ठोऽवि १३८६**

त्रिष्वाद्येषु कालेषु जघन्येनाऽपि त्रीन् तारान् प्रेक्षते, ततो गृह्णाति, अभ्रभावे तारेऽदृष्टे प्राभातिके काले ग्रहणं स्यात्, । वर्षासु चत्वारः काला अतारकास्तारकाऽदर्शनेऽपि स्युः ॥ १३८६ ॥ तथा ' छन्ने निविट्ठोऽवि ' अस्य व्याख्याऽग्रेतनगाथायां ' ठाणा '

ठाणासइ बिंदूसु अ, गिण्हइ चिट्ठो वि पच्छिमं कालं । पडियरइ बहिं एक्को एक्को अंतट्ठिओ गिण्हे ॥१३८७

स्थण्डिलैः कालस्थानाभावे बिन्दुषु आपतत्स्वन्त ऊर्ध्वस्थस्य स्थानकाभावे निविष्टोऽपि पश्चिमं प्राभातिकं कालं गृह्णाति, एकस्तु बहिःस्थः प्रतिजागर्ति, वर्षति तु नियमादन्तःस्थो लाति प्रतिचरेच्चैषोऽन्त्यकाले गच्छानुग्रहायाऽपवादविधिः, शेषाः स्थानाभावे न ग्राह्याः, आय( इ )न्नो(न्नतो) वा ज्ञेयं ॥ १३८६ ॥ ' पाओ '

पाओसि अड्डरत्ते, उत्तरादिसि पुव पेहए कालं । वेरत्तियंमि भयणा, पुवदिसा पच्छिमे काले ॥१३८८॥

प्रादोषिकेऽर्धरात्रे नियमादुत्तराभिमुखः पूर्वं ' कालं ' कालोत्सर्गं प्रेक्षते, वैरात्रिके भजनोत्तरामुखः पूर्वामुखो वा, पूर्वामुखः पश्चिमे ॥ १३८८ ॥ ' काल '

कालचउक्कं उक्कोसएण, जहन्न तियं तु बोद्धवं । बीयपएणं तु दुगं, मायामयविप्पमुक्काणं ॥ १३८९ ॥

उत्सर्गेणोत्कृष्टं चतुरो जघन्यं त्रीन् लाति, द्वितीयपदेऽपवादे द्वावेकं लाति, माया एवाऽऽमयो रोगस्तद्विप्रमुक्तेन कारणे एकस्याऽप्यग्रहणे न दोषः ॥ १३८९ ॥ ' फिडि '

फिडियंमि अड्डरत्ते, कालं घित्तुं सुवंति जागरिया । ताहे गुरू गुणंती, चउत्थी सवे गुरू सुअइ ॥१३९०॥

आद्यं कालं लात्वा सर्वे सूत्रपौरुषीं कृत्वा कृत्वा स्वपन्त्यर्थचिन्तका उत्कालपाठिनो वा जाग्रति, ततस्तस्मिन् स्फिटितेऽर्धरात्रे कालं लात्वा ते जागरिकाः स्वपन्ति, गुरव उत्थाय गणयन्ति, चतुर्थे यामे (सर्वे) वैरात्रिकं लात्वा स्वाध्यायन्ति,

गुरवः स्वपन्ति । प्राप्ते प्राभातिककाले यः कालं प्रेक्षते स वैरात्रिकं प्रतिक्रम्याऽन्त्यं लाति, शेषाः कालवेलायां कालं प्रतिक्रामन्ति, तत आवश्यकं कुर्युरेवं चतुर्णां विधिः ॥ १३९० ॥ ' गहि '

**गहियंमि अद्धरत्ते, वेरत्तिय अगहिए भवइ तिन्नि । वेरत्तिय अद्धरत्ते, अइउवओगा भवे दुण्णि ॥१३९१॥**

वैरात्रिकेऽगृहीते शेषेषु त्रिषु गृहीतेषु त्रयं स्यादेवमन्येषामेकस्मिनगृहीते त्रयं ज्ञेयमेवं द्वावपि ज्ञेयौ, तथाऽर्धरात्रिकवैरात्रिकयोरनात्तयोराद्येनैव कालेनाऽत्युपयोगात् प्रतिचरणादन्त्यादानादपि द्वौ भवतः ॥ १३९१ ॥ ' पडि '

**पडिजग्गियंमि पढमे, बीयविवज्जा हवंति तिन्नेव । पाओसिय वेरत्तिय, अइउवओगा उ दुण्णि भवे ॥१३९२**

प्रथमे जागरिते द्वितीयकालवर्ज्याभ्यां द्वाभ्यामात्ताभ्यां त्रयो भवन्ति, प्रादोषिकवैरात्रिकयोरग्रहणादर्धरात्रिकेणैवाऽत्युपयोगादन्त्यादानाच्च द्वौ । एवं शेषभङ्गा अपि ज्ञेया, यदा त्वेकस्तदाऽन्यतरो लाति, तथाऽऽद्ये गृहीतेऽशुद्धे वाऽर्धरात्रिकं लात्वा स्वाध्यायन्त्येवमग्रेऽपि, प्राभातिकोऽह्नोऽर्थे ग्राह्यः, आद्ये प्रतिचरिते सर्वां रात्रिं पठन्त्यर्धरात्रेण वैरात्रिकं, वैरात्रिकेणाऽप्रतिचारिते( केणापि प्रतिचरिते )नाऽन्तेऽशुद्धेऽह्न्यपि त्यजेत् ॥ १३९२ ॥ अथ प्राभातिकविधिः ' पाभा '

**पाभाइयकालंमि उ, संचिक्खे तिन्नि छीयरुन्नाणि । परवयणे खरमाई, पावासुय एवमाईणि ॥१३९३॥**

भाष्यं ' नव '

**नवकालवेलसेसे उवग्गहियअट्ठया पडिक्कमइ । न पडिक्कमइ वेगो नववारहए धुवमसज्झाओ ॥२२७॥**

दिने स्वाध्यायस्योपग्रहार्थं प्राभातिकस्य नववाराऽनुज्ञा । ततो यावन्नवकालादानवेला शेषा स्यात्तावत्काले कालग्राही
वैरात्रिकस्य प्रतिक्रामेदन्येऽप्युपयुक्तास्तिष्ठन्ति, कालस्य वेलायां कालं प्रतिक्रामन्ति । ' न पडि० ' एको नियमान्न प्रतिक्रामे-
देदनुद्ं तदा स एव वैरात्रिकः प्रतिचरितः स्यात्, स च प्रतिक्रमणादनु गुरोः कालं निवेद्याऽनुदितेऽर्के प्रतिक्रामेत्, प्राभा-
तिकं नववारहते ध्रुवमस्वाध्यायोऽस्तीति ज्ञेयं ॥ २२७ ॥ अथ ' संचिक्खे तिन्नि छीयरुन्नाणि ' पदव्याख्या ' इक्कि '

इक्किक तिन्निवारे, छीयाइहयंमि गिण्हए कालं। चोएइ खरो वारस, अणिट्ठविसए अ कालवहो ॥२२८॥

एकैकश्रुतादिहते काले, ' संचिक्ख 'त्तिग्रहणाद्विरमते, ततो द्वितीयतृतीयवारं लाति, ततः परोऽन्यस्थण्डिले वारत्रयं, ततो
ऽप्यन्योऽन्यस्थण्डिले वारत्रयमेवं नव वाराः स्युस्त्रयाणामभावे द्वौ नव वारान् पूरयतो द्वयोरभावे एकोऽप्येवं स्थण्डिलेष्व(सत्स्व)-
पवादो ज्ञेयः । ' परायणे खरमाई ' पदव्याख्या–' चोएइ ' पश्चार्धं, चोदकः–चेद्रुदिते कालवधस्ततः खरे रुदिते रटिते
द्वादश वर्षाणि हन्तु ? अन्येष्वप्यनिष्टेन्द्रियविषयेष्वप्येवं ॥ २२८ ॥ गुरुः ' चोअ '

चोअग माणुसऽणिट्ठे, कालवहो सेसगाण उ पहारो। पावासुआइ पुव्विं, पन्नवणमणिच्छ उग्घाडे २२९

मनुष्यानिष्टस्वरे कालवधः, शेषाणां तिरश्चां त्वनिष्टे प्रहारशब्दे श्रुते वधः । 'पावासुय 'त्ति मूलगाथावयवस्य
व्याख्या ' पावासुआइ ' पश्चार्धं, चेदन्यकाले प्रोषितभार्या दिने दिने रटेत् ततस्तद्वेलायाः प्राक्कालो ग्राह्योऽथ सा तद्वेलायां
रटेत्तस्यास्तस्याः प्रज्ञापनं कथनमनिच्छायामुद्घाटोत्सर्गः कार्यः ॥ २२९ ॥ 'एवमाईणि'त्ति अवयवस्य व्याख्या ' वीस '

**वीसरसद्दरुअंते अव्वत्तगडिंभगंमि मा गिण्हे। गोसे दरपट्ठविए, छीए छीए तियं पेहे ॥ २३० ॥**

अत्यायासेन रुद्यमानं विस्वरं भण्यते तत्कालं हन्ति, यत्पुनर्मधुरशब्दं घोलमानं च तन्न हन्ति, यावड्डिम्भो न लपति तावदव्यक्तस्तस्मिन्नल्पत्रिस्वरेणाऽपि कालं मा गृह्णीत । अथ प्राभातिकप्रस्थापनाविधिः–' गोसे ' पश्चार्धं, ' गोसे अर्कोदये वसतेर्दिशां चाऽऽलोकं कृत्वा स्वाध्यायः प्रस्थाप्यस्तस्मिन्नीषत्प्रस्थापिते क्षुतादिहते पुनरन्येन दिगालोकः कार्यस्ततः स्वाध्यायं प्रेक्षते प्रस्थापयेदेवं तृतीयवारक्षुतेऽपि, तेन ' तियं'ति वारत्रयं दिगालोकः ॥ २३० ॥ ' आइ '

**आइन्न पिसिय महिया, पेहित्ता तिन्नि तिन्नि ठाणाइं। नववारहए काले, हउत्ति पढमाइ न पढंति ॥१३९४॥**

आकीर्णं काकाद्यानीतं पिशितादि स्यान्महिका वा स्यादित्यादिहेतोर्वारत्रयं दिगालोकात् प्रस्थाप्योऽशुद्धे हस्तशताद् बहिःस्थाने कृत्वा प्राग्वद्वारत्रयं प्रस्थापनादिगालोकौ, ततोऽप्यन्यस्थाने वारत्रयमेवं त्रीणि स्थानानि यान्ति । नववारस्वाध्यायहते प्रथमपौरुष्यां न पठन्ति ॥ १३९४ ॥ ' पट्ठ '

**पट्ठवियंमि सिलोगे, छीए पडिलेह तिन्नि अन्नत्थ। सोणिय मुत्तपुरीसे, घाणालोअं परिहरिज्जा ॥१३९५॥**

प्रस्थापिते प्रस्थापने त्रयाणामध्ययनानामूर्ध्वं श्लोके चिन्त्यमाने क्षुते पुनः प्रेक्षणमेवं वारत्रयं, ततोऽन्यत्र गम्यं, शोणितादेर्घ्रा( दि घ्रा )णगन्धमा( न्धा )लोकं च परिहरेत् ॥ १३९५ ॥ ' आलो '

**आलोअंमि चिलमिणी, गंधे अन्नत्थ गंतु पकरंति। वाघाइयकालंमी, दंडग मरुआ नवरि नत्थि ॥१३९६॥**

दूरतोऽपि रक्तादिरालोके दर्शनेऽस्वाध्यायः, कडगचिलिमिलिं वा दत्त्वा कुर्युर्मूत्रादिगन्धेऽन्यस्मिन्नशुभगन्धे वाऽन्यत्र गत्वा स्वाध्यायन्ति, अन्यदपि सेवनबन्धनाद्यालोकं त्यजेदेवं निर्व्याघातकाले प्रागुक्तो विधिः, सव्याघातकाले त्वेवमेव, नवरं गण्डकमरुकदृष्टान्तौ न स्तः ॥ १३९६ ॥ ' एए '

एएसामन्नयरेऽसज्झाए जो करेइ सज्झायं । सो आणाअणवत्थं, मिच्छत्त विराहणं पावे ॥१३९७॥

एतेषां, स आज्ञाभङ्गमनवस्थां मिथ्यात्वं विराधनां च प्राप्नोति ॥ १३९७ ॥ परसमुत्थमस्वाध्यायिकद्वारं गतमात्मसमुत्थास्वाध्यायिकमाह ' आय '

आयसमुत्थमसज्झाइयं तु, एगविध होइ दुविहं वा । एगविहं समणाणं, दुविहं पुण होइ समणीणं ॥

' एग० ' श्रमणानां व्रणे स्यात्, श्रमणीनां द्विधा व्रणे ऋतौ च ॥ १३९८ ॥ ' धोयं '

धोयंमि उ निप्पगले, वंधा तिन्नेव हुंति उक्कोसं । परिगलमाणे जयणा, दुविहंमि य होइ कायवा ॥१३९९॥

आदौ व्रणे हस्तशतात्परं धाविते निःप्रगले शुद्धिस्ततोऽपि गलत्युत्कृष्टं त्रयो बन्धा देयास्तथापि परिगलति यतना वक्ष्यमाणा, सा द्विविधेऽपि व्रणे ऋतौ च कार्या ॥ १३९९ ॥ ' सम '

समणो उ वणिव्व, भगंदरिव्व वंधं करित्तु वाएइ । तहवि गलंते छारं, दाउं दो तिन्नि वंधा उ ॥१४००॥

श्रमणो व्रणे भगन्दरे वा हस्तशताद्बहिर्धौते निःप्रगले पट्टबन्धं कृत्वा वाचयेत्, तथापि गलति छारं दत्त्वा पुनः पट्टो

एषां दोषाः ॥ १४०८ ॥ 'उम्मा'

**उम्मायं च लभेज्जा, रोगायंकं व पाउणे दीहं। तित्थयरभासियाओ, भस्सइ सो संजमाओ वा ॥१४०९॥**

उन्मादं वैकल्यं, दीर्घकालिकं रोगमाशुघातिनं त्वातङ्कं प्राप्नोति, तीर्थंकरभाषिताद्धर्माद् भ्रश्यति ॥ १४०९ ॥ 'इह'

**इहलोए फलमेयं, परलोए फलं न दिंति विज्जाओ। आसायणा सुयस्स उ, कुवइ दीहं च संसारं ॥१४१०॥**

इहलोके फलमुक्तं, परलोके ज्ञानावरणोदयाद्विद्याः श्रुतानि फलं न दद्युर्न सिध्यन्तीति। श्रुतस्याऽऽशातना दीर्घसंसारं कुर्यात्, ज्ञानाशातनया दर्शनमपि विराद्धं, ततश्चारित्रमपि, ततो दीर्घः संसारः स्यात्तस्मादस्वाध्याये स्वाध्यायो न कार्यः ॥ १४१० ॥ 'अस'

**असज्झाइयनिज्जुत्ती, कहिया भे धीरपुरिसपन्नत्ता। संजमतवड्ढगाणं, निग्गंथाणं महरिसीणं ॥१४११॥**

मे भवतां कथिता संयमतपआढ्यानां ॥ १४११ ॥ 'अस'

**असज्झाइयनिज्जुत्तिं, जुंजंता चरणकरणमाउत्ता। साहू खवेंति कम्मं, अणेगभवसंचियमणंतं॥१४१२॥**

**असज्झाइयनिज्जुत्ती समत्ता ॥**

एवं ३३ संख्यायाः पुरतः शतं यावज्ज्ञेयं यथा समवायाङ्गे तथा संख्यातैरसंख्यातैरनन्तैर्वा स्थानैः संयमे योऽतिचारस्तस्य मिथ्या मे दुष्कृतं इति अस्वाध्यायिकनिर्युक्तिः समाप्ता ॥ १४१२ ॥ 'नमो चउ०'

नमो चउवीसाए तित्थगराणं उसभादिमहावीरपज्जवसाणाणं, इणमेव निग्गंथं पावयणं सच्चं अणुत्तरं केवलियं पडिपुण्णं नेआउयं संसुद्धं सल्लगत्तणं सिद्धिमग्गं मुत्तिमग्गं निज्जाणमग्गं निव्वाणमग्गं अवितहमाविसंधिं सव्वदुक्खप्पहीणमग्गं, इत्थं ठिया जीवा सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिनिव्वायंति सव्वदुक्खाणमंतं करेंति ( सूत्रम् )

नमश्चतुर्विंशतितीर्थकरेभ्य ऋषभादिमहावीरपर्यवसानेभ्यः, इदमेव द्वादशाङ्गं निर्ग्रन्थानामिदं नैर्ग्रन्थं, प्रकर्षेणाऽऽङ्मर्यादयोच्यन्ते जीवादयोऽस्मिन्निति प्रावचनं, सतां हितं सत्यमनुत्तरं सर्वोत्तमं कैवलिकमद्वितीयं, केवल्युक्तं वा, गुणैः प्रतिपूर्णं, नयनशीलं नैयायिकं मोक्षप्रापकं, संशुद्धं, शल्यकर्त्तनं, सिद्धिर्हितार्थास्तन्मार्गः, मुक्तिः कर्मक्षयस्तन्मार्गः, प्राकृते लिङ्गव्यत्ययः, निर्गतं यानं गतिरस्मादिति निर्याणं शिवं, निर्वाणं निर्वृतिः स्वास्थ्यमवितथमविसन्धि कुत्सितसन्धिरहितं, सर्वदुःखप्रहीणाः सिद्धास्तन्मार्गोऽत्र शासने स्थिता जीवाः सिध्यन्त्यणिमाद्याप्ता(प्त्या), बुध्यन्ते केवलित्वेन, मुच्यन्ते कर्मभिः, परिनिर्वान्ति कर्माग्निशान्त्या शीताः स्युः, सर्वदुःखानामन्तं कुर्वन्ति ।

तं धम्मं सद्दहामि पत्तियामि रोएमि फासेमि अणुपालेमि, तं धम्मं सद्दहंतो पत्तिअंतो रोयंतो फासंतो अणुपालंतो तस्स धम्मस्स अब्भुट्ठिओमि आराहणाए विरओमि विराहणाए असंजमं

वध्यः, एवं द्वौ त्रयश्च बन्धाः स्युः ॥ १४०० ॥ ' एमे '

**एमेव य समणीणं, वणंमि इयरंमि सत्त बंधा उ। तहविय अठायमाणे, धोएउं अहव अन्नत्थ ॥१४०१॥**

श्रमणीनां त्रण एवमेव । इतरस्मिन्नृतौ हस्तशताद्बहिर्धावित्वा वाचयन्ति, (नवरं) अथ (अत्र सप्त) बन्ध(न्धाः) उत्कृष्टं । ' तह० ' तथापि रक्ते साधुसाध्व्योस्त्रिसप्तबन्धैरतिष्ठमाने हस्तशताद्बहिर्धावित्वा वाचयन्त्यथवाऽन्यत्र गत्वा पठन्ति, गतमात्मसमुत्थं ॥ १४०१ ॥ ' एए '

**एएसामन्नयरेऽसज्झाए अप्पणो उ सज्झायं। जो कुणइ अजयणाए, सो पावइ आणमाईणि ॥१४०२॥**

आत्मनोऽस्वाध्याये स्वाध्यायं करोत्याज्ञाभङ्गादीनि ॥ १४०२ ॥ तथा ' सुअ '

**सुअनाणंमि अभत्ती, लोअविरुद्धं पमत्तछलणा य। विज्जासाहणवइगुन्नधम्मया एव मा कुणसु ॥१४०३॥**

लोकविरुद्धमिहलोके धर्मविरुद्धं च स्यात्, प्रमत्तस्य साधोः सूर्या च्छलना स्याद्यथा विद्या साधनवैगुण्यान्न सिध्येत्तथाऽत्राऽपि न कर्मक्षयस्तथाऽधर्मता। श्रुतस्यैष धर्मो यदनध्याये न पाठस्तत एवं मा कुरु ॥१४०३॥ चोदकः—ननु देहस्थैर्दन्ताद्यैः किं नाऽनध्यायः ? उच्यते ' कामं '

**कामं देहावयवा, दंताई अवज्जुआ तहवि वज्जा। अणवज्जुआ न वज्जा, लोए तह उत्तरे चेव ॥१४०४॥**

दन्तादयो देहावयवास्तन्मयश्च देहस्तथापि देहात् ' अवज्जुआ ' अवयुक्ताः पृथग्भूता वर्ज्याः, अनवयुक्तास्तु न वर्ज्या

लोके लोकोत्तरे च ॥ १४०४ ॥ ' अब्भि '

**अब्भितरमललित्तोवि, कुणइ देवाण अच्चणं लोए। बाहिरमललित्तो पुण, न कुणइ अवणेइ य तओ णं ॥**

मललिप्तोऽपि देहमध्यस्थविष्टादियुक्, ' णं ' वाक्यालङ्कारे, ततः कारणाद्बाह्यमलमपनयति ॥ १४०५ ॥ ' आउ '

**आउट्टियाऽवराहं, संनिहिया न खमए जहा पडिमा। इह परलोए दंडो, पमत्तछलणा इह सिआ उ ॥**

संनिहिता सुराधिष्ठिता 'आउट्टिय'त्ति जानतः समलत्वेन स्पर्शनार्चादिकमपराधं न क्षमते, क्लेशं कुर्यात्तथेहाऽनध्यायेऽधीयानस्य परलोके ज्ञानादिविराधनायां कर्मबन्धो दण्डः, इहलोके तु प्रमत्तस्य सुरीछलनादि ' सिआ उ ' स्यात् ॥ १४०६ ॥ कथमस्वाध्याये स्वाध्यायं कुर्यादित्याह–' रागे '

**रागेण व दोसेण वऽसज्झाए जो करेइ सज्झायं । आसायणा व का से? को वा भणिओ अणायारो ? ॥**

अथवा रागेण द्वेषेण योऽस्वाध्याये स्वाध्यायं करोति, का 'से' तस्य सूत्रस्याऽऽशातना ? को वाऽयमनाचारो भणितः ? इति च मोहितो वदेत् ॥ १४०७ ॥ ' गणि '

**गणिसद्दमाइमहिओ, रागे दोसंमि न सहए सद्दं । सवमसज्झायमयं, एमाई हुंति मोहाओ ॥१४०८॥**

तत्र रागेऽन्येन गणिशब्दादिना महितोऽर्चितस्तदभिलाष्यऽस्वाध्याये स्वाध्यायं कुर्यात्, द्वेषे त्वन्यस्य गण्यादिशब्दं न सहते, ततोऽस्य विपक्षः स्यामित्यधीते, मोहे तु सर्वाङ्गमस्वाध्यायमयं, ततः कोऽस्वाध्यायः? एवमादि वदन्ननध्यायं न श्रद्धते।

एषां दोषाः ॥ १४०८ ॥ ' उम्मा '

**उम्मायं च लभेज्जा, रोगायंकं व पाउणे दीहं । तित्थयरभासियाओ, भस्सइ सो संजमाओ वा ॥१४०९॥**

उन्मादं वैकल्यं, दीर्घकालिकं रोगमाशुघातिनं त्वातङ्कं प्राप्नोति, तीर्थंकरभाषिताद्धर्माद् भ्रश्यति ॥ १४०९ ॥ ' इह '

**इहलोए फलमेयं, परलोए फलं न दिंति विज्जाओ । आसायणा सुयस्स उ, कुव्वइ दीहं च संसारं ॥१४१०॥**

इहलोके फलमुक्तं, परलोके ज्ञानावरणोदयाद्विद्याः श्रुतानि फलं न दद्युर्न सिध्यन्तीति । श्रुतस्याऽऽशातना दीर्घसंसारं कुर्यात्, ज्ञानाशातनया दर्शनमपि विराद्धं, ततश्चारित्रमपि, ततो दीर्घः संसारः स्यात्तस्मादस्वाध्याये स्वाध्यायो न कार्यः ॥ १४१० ॥ ' अस '

**असज्झाइयनिज्जुत्ती, कहिया भे धीरपुरिसपन्नत्ता । संजमतवड्ढगाणं, निग्गंथाणं महरिसीणं ॥१४११॥**

मे भवतां कथिता संयमतपआढ्यानां ॥ १४११ ॥ ' अस '

**असज्झाइयनिज्जुत्तिं, जुंजंता चरणकरणमाउत्ता । साहू खवेंति कम्मं, अणेगभवसंचियमणंतं॥१४१२॥**

**असज्झाइयनिज्जुत्ती समत्ता ॥**

एवं ३३ संख्यायाः पुरतः शतं यावज्ज्ञेयं यथा समवायाङ्गे तथा संख्यातैरसंख्यातैरनन्तैर्वा स्थानैः संयमे योऽतिचारस्तस्य मिथ्या मे दुष्कृतं इति अस्वाध्यायिकनिर्युक्तिः समाप्ता ॥ १४१२ ॥ ' नमो चउ० '

नमो चउवीसाए तित्थगराणं उसभादिमहावीरपज्जवसाणाणं, इणमेव निग्गंथं पावयणं सच्चं अणुत्तरं केवलियं पडिपुण्णं नेआउयं संसुद्धं सल्लगत्तणं सिद्धिमग्गं मुत्तिमग्गं निज्जाणमग्गं निवाणमग्गं अवितहमविसंधिं सवदुक्खप्पहीणमग्गं, इत्थं ठिया जीवा सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिनिवायंति सवदुक्खाणमंतं करेंति ( सूत्रम् )

नमश्चतुर्विंशतितीर्थकरेभ्य ऋषभादिमहावीरपर्यवसानेभ्यः, इदमेव द्वादशाङ्गं निर्ग्रन्थानामिदं नैर्ग्रन्थं, प्रकर्षेणाऽऽङ्मर्यादयोच्यन्ते जीवाद्योऽस्मिन्निति प्रावचनं, सतां हितं सत्यमनुत्तरं सर्वोत्तमं कैवलिकमद्वितीयं, केवल्युक्तं वा, गुणैः प्रतिपूर्णं, नयनशीलं नैयायिकं मोक्षप्रापकं, संशुद्धं, शल्यकर्त्तनं, सिद्धिर्हितार्थाप्तिस्तन्मार्गः, मुक्तिः कर्मक्षयस्तन्मार्गः, प्राकृते लिङ्गव्यत्ययः, निर्गतं यानं गतिरस्मादिति निर्याणं शिवं, निर्वाणं निर्वृतिः स्वास्थ्यमवितथमविसन्धि कुत्सितसन्धिरहितं, सर्वदुःखप्रहीणाः सिद्धास्तन्मार्गोऽत्र शासने स्थिता जीवाः सिध्यन्त्यणिमाद्याप्त(प्त्या), बुध्यन्ते केवलित्वेन, मुच्यन्ते कर्मभिः, परिनिर्वान्ति कर्माग्निशान्त्या शीताः स्युः, सर्वदुःखानामन्तं कुर्वन्ति ।

तं धम्मं सद्दहामि पत्तियामि रोएमि फासेमि अणुपालेमि, तं धम्मं सद्दहंतो पत्तिअंतो रोयंतो फासंतो अणुपालंतो तस्स धम्मस्स अब्भुट्ठिओमि आराहणाए विरओमि विराहणाए असंजमं

परिआणामि संजमं उवसंपज्जामि अबंभं परिआणामि बंभं उवसंपज्जामि अकप्पं परिआणामि कप्पं उवसंपज्जामि अण्णाणं परिआणामि नाणं उवसंपज्जामि अकिरियं परियायाणामि किरियं उवसंपज्जामि मिच्छत्तं परियाणामि सम्मत्तं उवसंपज्जामि अबोहिं परिआणामि बोहिं उवसंपज्जामि अमग्गं परियाणामि मग्गं उवसंपज्जामि जं संभरामि जं च न संभरामि जं पडिक्कमामि जं च न पडिक्कमामि तस्स सव्वस्स देवसियस्स अइयारस्स पडिक्कमामि समणोऽहं संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मो अनियाणो दिट्ठिसंपण्णो मायामोसविवज्जिओ अड्ढाइज्जेसु दीवसमुद्देसु पन्नरससु कम्मभूमीसु जावंत केइ साहू रयहरणगुच्छपडिग्गहधारा पंचमहव्वयधारा। अट्ठारससहस्ससीलंगधारा अक्खयायारचरित्ता ते सव्वे सिरसा मणसा मत्थएण वंदामि ( सूत्रम् )

तं धर्मं श्रद्दधे, प्रतीये परमार्थतया, रोचये मनसि, स्पृशामि करणेनाऽनुपालयामि पौनःपुन्यकरणेन, तं धर्मं श्रद्दधन् प्रत्ययन् रोचयन्नित्यादि। तस्य धर्मस्य 'अब्भुट्ठिओमि' आराधनायामभ्युद्यतोऽस्मि, विरतोऽस्मि विराधनायाः, असंयमं परिजानामि, ज्ञपरिज्ञया ज्ञात्वा प्रत्याख्यानपरिज्ञया त्यजाम्येवमग्रेऽपि, संयममुपसंपद्ये स्वीकुर्वेऽब्रह्म वस्त्यनियमं परिजानामि

न्यजामि, अकल्प्यमविधिं, अक्रियां नास्तिक्य, क्रियामास्तिक्यमबोधिं तत्त्वाश्रद्धानं, बोधिं त्रिचारममार्गं क्रोधाद्यं, मार्गं क्षमाद्यं यत्स्मरामि, यच्च न स्मरामि, यत्प्रतिक्रमामि स्मृत्या, यन्न प्रतिक्रमामि विस्मृत्या, एवं यो दैवसिकाद्यतिचारस्तस्य प्रति-क्रमामि तस्मान्निवर्तेऽहं श्रमणस्तत्राऽपि न चरकादिः किन्तु सममनाः, सं सामस्त्येन यतो नियमित इदानीं, विरतोऽतीतैष्य-तोरतिचारयोर्निन्दासंवराभ्यामतः प्रतिहतमतीतं प्रत्याख्यातमेष्यं च पापं कर्म येनेहक् संयतविरतप्रतिहतप्रत्याख्यानपापकर्मा, अनिदानो नवनिदानहीनः, दृष्टिः सम्यग्वादस्तया सम्पन्नः सकलगुणमूलरूपसम्यग्दर्शनयुक्तः। द्रव्यवन्दनपरिहारायाऽऽह— मायायुग्मृषानागवर्जकः, इहक् सन्नर्धतृतीयेषु द्वीपेषु, द्वयोः समुद्रयोः संहरणेन, यद्वाऽर्धतृतीयेषु द्वीपसमुद्रेष्विति सिद्धान्तशैल्या जम्बूद्वीपधातकीखण्डपुष्करार्धेषु पञ्चदशसु कर्मभूमिषु यावन्तः केऽपि साधवो रजोहरणगोच्छकपतद्ग्रहधारिणः सोपधय इत्यर्थः। रजोहरणादिविकलप्रत्येकबुद्धादिसंग्रहायाऽऽह—तथा निरुपधीनपि पञ्चमहाव्रतधरानष्टादशसहस्रसंख्यानि शीलाङ्गा-न्युत्तरगुणांस्तान् धरन्तीति धारकास्तानक्षोभ्याचारचारित्रान् सर्वान् गच्छगतनिर्गतादिभेदान् शिरसा मनसेति कायिक-मानसाभ्यां योगाभ्यां 'मत्थएण वंदामी' ति वाचिकयोगेन वन्दे। अष्टादशसहस्रशीलाङ्गकरणगाथेयं 'जोए करणे सन्ना, इंदिय भूमाइ समणधम्मो अ। अट्ठारसहस्ससीलंगसंयमो होइ नायव्वो'।१। अयमर्थः—योगाः कृतकारितानुमतयः ३, करणानि मनोवाक्कायाः, संज्ञा आहाराद्याश्चतस्रः, इन्द्रियाणि पञ्च, भूम्याद्या इति पृथ्वीकायाद्या दश, श्रमणधर्मो दशधा क्षान्त्याद्यैतैः पृथक्पृथक्संयोगेऽष्टादश सहस्राः। शीलं व्रतानि तेषामङ्गान्यवयवाः शीलाङ्गानि तैः संयमः। स्थापना शीलाङ्गरथः।

## शीलांगरथस्थापना ।

| | | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| जे नो करिंति ६००० | नो कारवेंति ६००० | नो अणुमोयंति ६००० | | | | | | | |
| मणसा २००० | वचसा २००० | काएण २००० | | | | | | | |
| निज्जिय आहारसन्न ५०० | भवसन्न ५०० | मेहुणसन्न ५०० | परिग्गहसन्न ५०० | | | | | | |
| सोइंदि १०० | चक्खिंदि १०० | घाणिंदि १०० | रसणिंदि १०० | फासिंदि १०० | | | | | |
| पुढविकायारंभं १० | आउकायारंभं १० | तेउकायारंभं १० | वाउकायारंभं १० | वणस्सइकायारंभं १० | वेइंदियारंभं १० | तेइंदियारंभं १० | चउरिंदियारंभं १० | पचिंदियारंभं १० | अजीवारंभं १० |
| खंतिजुया ते मुणी वंदे १ | मद्दवजुया १ | अज्जवजुया १ | मुत्तिजुया १ | तवजुया १ | संजमजुया १ | सच्चजुया १ | सोयजुया १ | अकिंचनजुया १ | बंभजुया १ |

'जे नो करिंति मनसा' इत्यादि १८००० गाथाभिः प्रत्येकं साधूनामष्टादशसहस्रगुणा ज्ञेयास्तथा पाश्चात्यनिशि प्रतिक्रमणे 'गोयरचरियाए' इति स्वप्नातिचारशुद्ध्यौ, सायं वाऽनुपयुक्तेन कृते तदा पुनर्भणनं कस्याऽप्यतिचारस्मृत्यै ।

खामेमि सव्व जीवे, सव्वे जीवा खमंतु मे । मेत्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झं न केणइ ॥ १ ॥
एवमहं आलोइय, निन्दिय गरहिय दुगुंछियं सम्मं, तिविहेण पडिक्कंतो, वंदामि जिणे चउव्वीसं।२।(सू०)

क्षमयामि सर्वजीवान्, सर्वजीवा मह्यं क्षमत, मा तेष्वप्यक्षान्तिप्रत्ययः कर्मबन्धोऽस्त्विति कारुण्येनाह–मैत्रीभावो मम सर्वभूतेषु सर्वात्मसु, वैरं मम न केनाऽपि । समासो स्वरूपदर्शनपूर्वं मङ्गलमाह 'एव' एवमालोच्य गुरोरग्रे, तथा निन्दित्वा स्वं स्वसाक्षिकं, तथा गर्हित्वाऽन्यसाक्षिकं, जुगुप्सित्वा निजपूर्वकर्माणि, त्रिविधेन त्रिकरणशुद्ध्या प्रतिक्रान्तश्चतुर्विंशतिजिनान् वन्दे, एवं दैवसिकप्रतिक्रमणमुक्तं, रात्रौ त्वस्मिन्नेव रात्रिकशब्द उच्यते ।

॥ समाप्तं प्रतिक्रमणाध्ययनं ॥

अथ कायोत्सर्गाध्ययनं, यतः 'पडिकमणासुद्धाणं सोही तह काउसग्गेणं' प्रतिक्रमणाशुद्धानामतिचाराणां शोधिः कायोत्सर्गेण स्यात्तथा प्रतिक्रमणे कर्मा(र्मनि)दाननिषेध उक्तः 'मिच्छत्तपडिकमणं' इत्याद्युक्तेः, कायोत्सर्गे तु पूर्वकर्मणां क्षय एव स्यादिति, तथा प्रतिक्रान्तेऽशुद्धं पापव्रणं 'पायच्छित्तकरणेणं'ति प्रायश्चित्तागदेन शोध्यमिति प्रायश्चित्तभेदानाह–'आलो'

आलोयण पडिक्कमणे, मीस विवेगे तहा विउस्सग्गे। तव छेय सूल अणवट्ठया य पारंचिए चेव ॥१४१३॥

आलोचना हस्तशताद्बहिर्गमादौ गुरोः प्रकाशना १, प्रतिक्रमणं सहसाऽसमितौ मिथ्यादुष्कृतं २, मिश्रं शब्दादिषु रागादिकृतौ गुरोर्विकटनं मिथ्यादुष्कृतेन च शोधिरिति ३, विवेकोऽशुद्धाहारादेस्त्यागः ४, व्युत्सर्गः कुस्वप्नादौ कायोत्सर्गः ५, कर्म तापयतीति तपः पृथ्व्यादिसंघट्टे निर्विकृत्यादि ६, छेदस्तपसा दुर्दमस्य साधोः पर्यायछेदः ७, मूलं प्राणातिपातादौ पुनर्व्रतारोपः ८, अनवस्थाप्यता घातादिदानदोषाद् दुराशयाच्च व्रतेष्वनारोपः कृततपसश्चाऽऽरोपः ९, साध्वीराज्यादिभुक्त्यां पारं प्रायश्चित्तस्याऽश्वतीति पाराञ्चिकं १०, नैतदूर्ध्वं प्रायश्चित्तमस्तीति । अस्मिन् लिङ्गं गोपयित्वा क्रियावान् द्वादश वर्षाणि तीर्थप्रभावकः पुनः प्रव्रज्य शुध्यति ॥ १४१३ ॥ इह कायोत्सर्गो व्रणचिकित्सेत्युच्यते, तेन दशधा बाह्याऽभ्यन्तरव्रणान् तच्चिकित्सां च दर्शयति, व्रणोऽङ्गक्षतं, स द्विधा ' दुवि '

**दुविहो कायंमि वणो, तदुब्भवागंतुओ अ णायव्वो। आगंतुयस्स कारइ, सल्लुद्धरणं न इयरस्स ॥१४१४**

तदुद्भवः स्वयं कायोत्थः १, आगन्तुकस्तृणाद्युत्थः २ । आगन्तुकस्य व्रणस्य शल्योद्धरणं क्रियते, इतरस्य तदुद्भवस्य न क्रियते ॥ १४१४ ॥ व्रणस्य चिकित्सामाह ' तणु '

**तणुओ अतिक्खतुंडो, असोणिओ केवलं तए लग्गो। अवउज्झत्ति सल्लो, सल्लो न मलिज्जइ वणो उ ॥१४१५**

तनुः कृशोऽतीक्ष्णतुण्डोऽशोणितः केवलं त्वग्लग्नः शल्य उद्धृत्य अपोह्यते त्यज्यते, कण्टकादिसूक्ष्मत्वात् पुंस्त्वं, न चाऽल्पत्वाद् व्रणो मृद्यते ॥ १४१५ ॥ ' लग्गु '

लग्गुद्धियंमि वीए, मलिज्जइ परं अदूरगे सल्ले। उद्धरणमलणपूरण, दूरयरगए तइयगंमि ॥ १४१६ ॥

द्वितीयेऽन्यस्मिन् शल्ये लग्नोत्थिते गाढतरलग्ने बहिःस्थिते च, परं पुनरदूरगे व्रणो मृद्यते, तृतीयेऽन्यस्मिंस्तु शल्ये दूरगतेऽन्तःप्रविष्टे शल्यस्योद्धरणं निष्कासनं, व्रणस्य मर्दनं, कर्णमलादिपूरणं च स्यात् ॥ १४१६ ॥ 'मा वे'

मा वेअणा उ तो, उद्धरित्तु गालंति सोणिय चउत्थे। रुज्झइ लहुंति चिट्ठा, वारिज्जइ पंचमे वणिणो ॥१४१७

चतुर्थे शल्ये वेदना माऽस्त्विति शल्यमुद्धृत्य शोणितं गालयन्ति, पञ्चमे लघु शीघ्रं रुध्यत्विति व्रणिनो व्रणवतश्चेष्टा गमनादिका वार्यते ॥ १४१७ ॥ 'रोहे'

रोहेइ वणं छट्ठे, हियमियभोई अभुंजमाणो वा। तित्तिअमित्तं छिज्जइ, सत्तमए पूइमंसाई ॥१४१८॥

षष्ठे शल्ये लग्ने हितमितभोजी नरो भुञ्जानो वा व्रणं रोधयति ६, सप्तमे व्रणे तावन्मात्रं पूयमांसादि कथितं मांसादि छिद्यते ॥ १४१८ ॥ शेषव्रणत्रयसंग्रहमाह–'तह'

तहविय अठायमाणो, गोणसखइआइ रुप्फए वावि। कीरइ तयंगच्छेओ, सअट्ठिओ सेसरक्खट्ठा ॥१४१९

गोणसो अहिस्तेन खादिते, तथापि मांसादेश्छेदेऽपि व्रणेऽतिष्ठति प्रसर्पतीत्यर्थः। 'रुप्फए वा' रोगे तदङ्गछेदः सास्थिकः क्रियते, स्तोकं घनं घनतरं न शेषाङ्गरक्षार्थं ॥ १४१९ ॥ अथ भावे व्रणः 'मूलु'

मूलुत्तरगुणरूवस्स, ताइणो परमचरणपुरिसस्स। अवराहसल्लपभवो, भाववणो होइ नायव्वो ॥१॥ (प्र०)

महाव्रतानि मूलगुणाः, पिण्डशुद्ध्याद्या उत्तरगुणास्तद्रूपस्य, भवात्रायिनः, परमं चरणं तद्रूपपुरुषस्याऽपराधशल्यप्रभवो भावव्रणो ज्ञेयः । अपराधा अतिचाराः, गाथाऽन्यकृता । १ । भावव्रणचिकित्साभेदानाह–' भिक्खा '

**भिक्खायरियाइ सुज्झइ, अइयारो कोइ विवडणाए उ । बीओ असमिओमित्ति, कीस सहसा अगुत्तो वा?**

भिक्षाचर्याया बहिर्भूम्यादेरतिचार आलोचनया शुध्यतीति प्रथमो भावव्रणः, एवमग्रेऽपि ज्ञेयः । द्वितीयोऽप्रत्युपेक्षितखेलत्यागादौ हा ! असमितोऽस्मि, कस्मात्सहसाऽगुप्तो वेति मिथ्यादुष्कृतेन प्रतिक्रमन् शुध्यति ॥ १४२० ॥ ' सद्दा "

**सद्दाइएसु रागं, दोसं च मणा गओ तइयगंमि । नाउं अणेसणिज्जं, भत्ताइ विगिंचण चउत्थे ॥१४२१॥**

शब्दादिषु विषयेषु रागं द्वेषं वाऽऽश्रित्य मनोगतोऽतिचारस्तृतीये मिश्रे प्रायश्चित्ते शोध्यः, अनेषणीयं भक्तादि ज्ञात्वा तस्य विवेचना त्यागश्चतुर्थव्रणे, एवमग्रेऽपि ॥ १४२१ ॥ ' उस्स '

**उस्सग्गेण वि सुज्झइ, अइयारो कोइ कोइ उ तवेणं । तेणवि असुज्झमाणं, छेयविसेसा विसोहिंति १४२२**

कोऽप्यतिचारः कुस्वप्नादि तूत्सर्गेण कायोत्सर्गेण शोध्यते । कोऽपि पृथ्वीकायसंघट्टादि निर्विकृत्यादिषण्मासान्तपसा शोध्यः । तेन तपसाऽप्यशुध्यमानमतिचारव्रणं छेदादिप्रायश्चित्तविशेषेण विशोधयन्ति ॥ १४२२ ॥ एवं सद्भावव्रणचिकित्साऽप्युक्ता । मूलादीनि ग्रन्थान्तरेभ्यो ज्ञेयानि, अथ कायोत्सर्गशब्दव्याख्या ' निक्खे '

**निक्खेवेगट्ठविहाणमग्गणाकालभेयपरिमाणे । असढसढे विहिदोसा, कस्सत्ति फलं च दाराइं ॥१४२३॥**

कायोत्सर्गस्य निक्षेपः १, एकार्थशब्दाः २, विधानं भेदस्तस्य मार्गणा क्षेपः ३, कालप्रमाणं ४, भेदपरिमाणं ५, अशठः ६, शठः ७, विधिः ८, दोषाः ९, कस्येति १०, फलं च ११ वाच्यानि, द्वाराणि ॥ १४२३ ॥ भाष्यं–' काए '

**काए उस्सग्गंमि य, निक्खेवे हुंति दुन्नि उ विगप्पा। एएसिं दुण्हंपी, पत्तेय परूवणं वुच्छं ॥ २३१ ॥**

कायोत्सर्गशब्दस्य काये उत्सर्गेऽपि निक्षेपविषये द्वौ विकल्पौ भवतोऽनयोर्द्वयोः पदयोः प्रत्येकं प्ररूपणां वक्ष्ये ॥२३१॥'काय'

**कायस्स उ निक्खेवो, बारसओ छक्कओ अ उस्सग्गे। एएसिं तु पयाणं, पत्तेय परूवणं वुच्छं ॥१४२४॥**

कायस्य निक्षेपो द्वादशको द्वादशधा, षट्कश्चोत्सर्गे षोढेत्यर्थ, एतयोः पदयोस्तुरेवाऽर्थे ॥ १४२४ ॥ ' नामं '

**नामं ठवणसरीरे, गईनिकायत्थिकाय दविए य। माउय संगह पज्जव, भारे तह भावकाए य ॥१४२५॥**

नाम १, स्थापना २, शरीरं ३, गतिः ४, निकायः ५, अस्तिकायः ६, द्रव्यं ७, मातृका ८, संग्रहः ९, पर्यायः १०, भारः ११, भावः १२, कायः स्यात्, नामकाय इत्यादि ॥ १४२५ ॥ क्रमेण व्याख्या ' काओ '

**काओ कस्सइ नामं, कीरइ देहोवि वुच्चई काओ। कायमणिओवि वुच्चइ, वद्धमवि निकायमाहंसु॥१४२६॥**

काय इति कस्यापि चेतनाचेतनस्य वस्तुनो नाम क्रियते स नामकायस्तथा देहोऽपि काय उच्यतेऽन्वर्थात्, काचमणिरपि प्राकृते काय उच्यते, बद्धं लेखाद्यपि प्राकृते निकाचितं निकायमाचख्युः ॥ १४२६ ॥ गतो नामकायोऽथ स्थापनाकायः ' अक्खे '

**अक्खे वराडए वा, कट्ठे पुत्थे य चित्तकम्मे य। सब्भावमसब्भावं, ठवणाकायं वियाणाहि ॥१४२७॥**

अक्षे चन्दनके, वराटके वा, कपर्दे काष्ठे, पुस्ते लेप्ये, चित्रकर्मणि च, सतो निजाकारेण विद्यमानस्य भावः सद्भावस्तथ्य इति, असद्भावोऽतथ्य इति पूर्वाद्विपरीतस्तमाश्रित्य स्थापनाकायः ॥ १४२७ ॥ सद्भावादिस्थापनामाह 'लिप्प'

**लिप्पगहत्थी हत्थित्ति,एस सब्भाविया भवे ठवणा। होइ असब्भावे पुण, हत्थित्ति निरागिई अक्खो१४२८**

लेप्यकहस्ती हस्तीति स्थाप्यते एषा सद्भाविका स्वाकारसहिता सद्भावस्थापना। असद्भावे पुनर्हस्तीति निराकृतिर्हस्त्याकारशून्योऽक्षोऽयं हस्तीति स्थापितः, एवं स्थापनाकायोऽपि ज्ञेयः ॥ १४२८ ॥ अथ शरीरकायः 'ओरा'

**ओरालियवेउव्विय-आहारगतेयकम्मए चेव। एसो पंचविहो खलु, सरीरकाओ मुणेयव्वो ॥१४२९॥**

उदारैः स्थूलैः पुद्गलैर्भवमौदारिकं १, विशिष्टक्रियायां प्रयत्नविशेषे भवं वैक्रियं २, श्रुतकेवलिना कार्ये आह्रियते पुद्गलैर्निष्पाद्यत इत्याहारकं ३, तेजोणुभिर्जातं तैजसं ४, कर्मणा भवं कार्मणं ५। शीर्यन्त इति शरीराणि, शरीराण्येव पुद्गलराशित्वाच्छीर्यन्त इति कायः ॥ १४२९ ॥ अथ गतिकायः 'चउ'

**चउसुवि गईसु देहो, नेरइयाईण जो स गइकाओ। एसो सरीरकाओ, विसेसणा होइ गइकाओ ॥१(प्र०)**

चतसृष्वपि गतिषु नैरयिकादीनां यो देहः स गतिकायः। नन्वेष शरीरकाय एव ? न, उच्यते शरीरकायः सामान्येन शरीराण्येव विवक्षितान्यत्र गत्यपेक्षया विशेषणादेहो गतिकायः स्यात्, गाथाऽन्यकृता ॥ १ ॥ अथवाऽन्तरगतौ कायो

गतिकायः ‘ जेणु ’

**जेणुवगहिओ वच्चइ, भवंतरं जच्चिरेण कालेण। एसो खलु गइकाओ, सतेयगं कम्मगसरीरं ॥१४३०॥**

यास्यां तैजसकार्मणशरीराभ्यामुपगृहीतो युतो भवान्तरं व्रजति, यच्चिरेण यावन्मात्रेण कालेन तावद्गतिकायो भण्यते सतैजसं कार्मणशरीरं ॥ १४३० ॥ अथ निकायकायः ‘ निय ’

**नियमहिओ व काओ, जीवनिकाओ निकायकाओ य। अत्थित्तिबहुपएसा, तेणं पंचत्थिकाया उ १४३१**

नियतो नित्यो नितरामधिको वा धर्मास्तिकायाद्यपेक्षया कायो राशिर्निकायकायः सजातीयः पृथ्वीजीवराशिः पृथ्वीकाय उच्यते, स एवाऽन्यजातीयपृथ्वीकाययोगाच्चिन्त्यमानो जीवनिकाय इत्युच्यते जीवनिकायरूपो निकायकायः । ‘ अत्थित्ति ’ अस्तीत्यभूवन् भवति भविष्यन्ति च बहवः प्रदेशा येषु तेऽस्तिकाया धर्मास्तिकायाधर्मास्तिकायाकाशास्तिकायजीवास्तिकायपुद्गलास्तिकायाः पञ्च:, त एव कायश्चयोऽस्तिकायकायः ॥ १४३१ ॥ द्रव्यकायमाह—‘ जं तु ’

**जं तु पुरक्खडभावं, दवियं पच्छाकडं व भावाओ। तं होइ दव्वदावियं, जह भविओ दव्वदेवाई ॥२३२॥**

यद्वस्तु पुरस्कृतभावमप्राप्ततत्पर्यायं परं तत्पर्यायं प्राप्स्यति, यथा घटयोग्यं मृद्द्रव्यं, यच्च भावात्पर्यायात्पश्चात्कृतं मुक्तपूर्वपर्यायं, अग्रे प्राप्ततत्पर्यायं, तदा त्वन्यपर्यायं, यथा घटादिखण्डानि, तदुद्वयमपि द्रव्यतो द्रव्यं स्यात्, यथा भव्यो देवत्वादियोग्यो जन्तुर्द्रव्यदेवो द्रव्यनारकादिर्वोच्यते । स बद्धदेवायुरभिमुखनामगोत्रो वान्त्येऽन्तर्मुहूर्त्ते इत्यर्थः । एकस्माद्वर्तमानभवादनन्तर-

भवे यो देवादिर्भावी स 'पुरक्खडभावं' इत्यर्थाद्द्रव्यदेवादिरुच्यते, यश्च प्राक्प्राप्तदेवत्वादिर्नरः सोऽपि पश्चात्कृतभावमाश्रित्य द्रव्यदेवादिरुच्यते। ईदृग्द्रव्यं परिणामचयाद्द्रव्यकायो जीवास्तिकायः पुद्गलास्तिकायश्च न शेषा अस्तिकायाः, यतः पुद्गला अपि विविधं शुभाशुभपरिणामं प्राप्ताः प्राप्स्यन्ति च ॥ २३२ ॥ ननु किं न शेषा अस्तिकाया द्रव्यकायः ? अत्र भाष्यं 'जइ'

**जइ अत्थिकायभावो, अपएसो हुज्ज अत्थिकायाणं। पच्छाकडुव तो ते, हविज्ज दव्वत्थिकाया व ॥२३३॥**

यदि जीवाणुवच्छेषास्तिकायानामप्येष पुरस्कृतभावः पश्चात्कृतभावः वा स्पष्टो भवेत्ततस्तेऽपि द्रव्यास्तिकायाः स्युः ॥ २३३ ॥ 'तीय'

**तीयमणागयभावं, जमत्थिकायाण नत्थि अत्थित्तं। तेन र केवलएसुं, नत्थी दव्वत्थिकायत्तं ॥१४३२॥**

अतीतमनागतभावं च यद्यस्मादस्तिकायानामस्तित्वं नास्ति किन्तु सदैव तथास्थमेव, तेन हेतुना, रः पादपूर्त्यै, तेषां केवलं शुद्धं द्रव्यास्तिकायत्वं नाऽस्ति किन्तु कालाद्यपेक्षयाऽस्ति ॥ १४३२ ॥ ननु द्रव्यं न स्याद्वर्तमानभावस्य नृत्वादेः सदैव योगात् ? गुरुः 'कामं'

**कामं भवियसुराइसु, भावो सो चेव जत्थ वट्टंति। एस्सो न ताव जायइ, तेन र ते दव्वदेवुत्ति ॥१४३३॥**

काममित्यनुमतं, यद्द्रव्यसुरादिष्वागामिभवभाविदेवादिषु द्रव्येषु भावः स एव मन्यते, यत्र नृत्वादौ वर्त्तते, परं तावदेष्यो भविष्यद्भावो न जायते तेन योग्यत्वाद् द्रव्यदेवादिरुच्यते ॥ १४३३ ॥ शिष्यः 'दुह'

दुहओऽणंतररहिया, जइ एवं तो भवा अणंतगुणा । एगस्स एगकाले, भवा न जुज्जंति उ अणेगा ॥१४३४॥

उभयत एष्ये कालेऽतीते चाऽनन्तरौ वर्तमानभवेन रहितौ भवावपि यदि तस्य द्रव्यदेवादेर्विवक्ष्येते, ततो भवा अनन्तरानन्तरा अनन्तगुणाः स्युस्ततस्तेषामप्यपेक्षया द्रव्यत्वं वदन्तु, परमेकस्याऽऽत्मन एकस्मिन् कालेऽनेके भवा न युज्यन्ते ॥ १४३४ ॥ गुरुः ' दुह '

दुहओऽणंतरभवियं, जह चिट्ठइ आउअं तु जं बद्धं । हुज्जियरेसुवि जइ, तं दव्वभवा हुज्ज तो तेऽवि॥१४३५॥

यशोभयतो अतीतानागता कालद्वयादनन्तरभविकमतीतानागतभवसम्बन्ध्यायुर्बद्धं यत्तिष्ठति तत्राऽनन्तरभवसत्कमतीतभवबद्धमायुर्वेद्यमानमेवाऽस्ति, आगामिभवसम्बन्धि तु तृतीयभागशेषायुषि बद्धं कोश एव तिष्ठति, इतरेष्वपीतरेषामपि भवानां यद्येवमायुर्भवेत्तनन्तेऽपि द्रव्यभवा विवक्षिताः स्युः ॥ १४३५ ॥ अत्र दृष्टान्तः ' संझा '

संझासु दोसु सूरो, अदिस्समाणोऽवि पप्प समईयं । जह ओभासइ खित्तं, तहेव एयंपि नायव्वं ॥१४३६॥

उभयोः सन्ध्ययोः सूर्योऽदृश्यमानोऽपि प्राप्यं भरतादि समतीतं च पूर्वविदेहादि क्षेत्रं यथाऽवभासयत्येवमिदमपि ज्ञातव्यं, वर्तमानभवस्थः पूर्वभवस्याऽऽगामिभवस्य वाऽऽयुःकर्म स द्रव्यतया स्पृशेत् ॥ १४३६ ॥ गतो द्रव्यकायः, अथ मातृकायः, भाष्यं ' माउ '

माउयपयंति नेमं, नवरं अन्नोवि जो पयसमूहो । सो पयकाओ भन्नइ, जे एगपए बहू अत्था ॥२३४॥

मातृकापदानि ' उप्पन्नेइ वा ' इत्यादीनि, तत्समूहो मातृकाकायस्तत्र मातृकापदमिति स ' नेमं ' चिह्नं, नवरमन्योऽपि यः पदसमूहः स पदकायो मातृकापदकायो भण्यते, कथमित्याह—ये एकपदे बहवोऽर्थाः स पदकायः । उक्तो मातृकाकायः ॥ २३४ ॥ ' संग '

**संगहकाओऽणेगावि, जत्थ एगवयणेण घिप्पंति । जह सालिगामसेणा, जाओ वसही(ति)निविट्ठत्ति ॥**

संग्रहकायः स यत्राऽनेकेऽपि भावा एकवचनेन संगृह्यन्ते, यथा शालिः १ ग्रामः २ सेना ३, क्रमाज्जातः १ वसति २ निविष्टा चेति ३, तत्र शालिर्जात इत्युक्तेऽनेकशालिकणाः संगृहीताः, एवं ग्रामो वसतीत्युक्ते बहु गृहादीनां, सेना निविष्टा स्थिता इत्युक्ते अश्वादीनां संग्रहोऽयं शाल्यादिः संग्रहकायः ॥ १४३७ ॥ ' पज्ज '

**पज्जवकाओ पुण, हुंति पज्जवा जत्थ पिंडिया बहवे । परमाणुंमिविक्कंमिवि, जह वन्नाई अणंतगुणा ॥१४३८॥**

पर्यायकायः स यत्रैकस्मिन् द्रव्ये बहवः पर्याया पिण्डिताः स्युर्यथा परमाणौ कस्मिन्नपि वर्णादयोऽनन्तगुणाः स्युस्तत्रैकस्मिन्नणावेको रस एको वर्ण एको गन्धो द्वौ शीतखराद्यौ स्पर्शौ स्युः, परमन्यापेक्षया तिक्ततिक्ततरतिक्ततमाद्यनन्तगुणरसत्वं प्रपद्यते, यतो योऽन्यरसोऽणुस्तदपेक्षया स तिक्तरसः, यश्चाऽन्यः स्तोकतिक्तरसोऽणुस्तदपेक्षया स बहुतिक्तरसः, यश्चाऽन्योऽल्पतरतिक्तरसस्तदपेक्षया स बहुतरतिक्तः, यश्चाऽन्य एकगुणतिक्तस्तदपेक्षया स बहुतमतिक्त इत्यादि । एवं वर्णादिभिरप्यन्यापेक्षमनन्तपर्यायत्वं ज्ञेयं ॥ १४३८ ॥ उक्तः पर्यायकायः, भारकायमाह—' एक्को '

एक्को काओ दुहा जाओ, एगो चिट्ठइ एगो मारिओ। जीवंतो अ मएण मारिओ तं लव माणव! केण हेउणा?

एकः क्षीरकायः कापोत्यां घटद्वयभरणेन द्विधा जातः, एकघटे भग्न एको मारित एको घटश्चाऽक्षतत्वात्तिष्ठत्येवमेकेन पतितेनाऽन्योऽपि घटो द्वितीयपार्श्वे भारात् पतितस्ततो जीवन् मृतेन मारितः, भग्नघटेन सज्जस्याऽपि भङ्गात्, तल्लप हे मानव ! केन हेतुना ? अत्र हेतुर्विषमाध्वगमनरूप एव ॥ १४३९ ॥ उक्तो भारकायः, अथ भावकायः ' दुग '

दुग तिग चउरो पंच व, भावा बहुआ व जत्थ वट्टंति। सो होइ भावकाओ जीवमजीवे विभासा उ॥१४४०॥

द्वौ त्रयश्चत्वारः पञ्च भावा औदयिकाद्यास्तथा बहवोऽन्येऽपि भावाः सौजन्याद्या यत्र जीवेऽजीवे वा स्निग्धमधुराद्या वा संगता वर्तन्ते स भावकायः, विभाषा विचारः खल्वागमात् कार्यस्तत्र जीवे पञ्चाऽपि भावाः स्युरजीवे तु पारिणामिक एव भावः ॥ १४४० ॥ गतो भावकायः । गतमाद्यं मूलद्वारगाथायाः कायनिक्षेपद्वारं । अथैकार्थिकानि ' काये '

काये सरीर देहे, बुंदी य चय उवचए य संघाए। उस्सय समुस्सए वा, कलेवरे भत्थ तण(णू) पाणू॥१४४१॥

कायः, शरीरं, देहो बोन्दिः चयः, उपचयः, संघातः, उच्छ्रयः, समुच्छ्रयः, कलेवरं, भस्त्रा, तनुः, प्राणुः प्रकृष्टा उदारा अणवो यत्र सः ॥ १४४१ ॥ द्वारगाथाया एकार्थद्वारं कायमाश्रित्योक्तं, अथोत्सर्गशब्दस्य निक्षेपैकार्थावाह–' नामं '

नामं ठवणादविए, खित्ते काले तहेव भावे य । एसो उस्सग्गस्स उ, निक्खेवो छविहो होइ ॥१४४२॥

द्वारगाथा ॥ १४४२ ॥ नामोत्सर्ग उत्सर्ग इति नाम, स्थापनोत्सर्गः कस्याऽप्युत्सर्ग इति स्थापना, द्रव्योत्सर्गादि

व्याख्याति ' दव्वु '

**दव्वुज्झणा उ जं जेण, जत्थ अवकिरइ दव्वभूओ वा। जं जत्थ वावि खित्ते, जं जच्चिर जंमि वा काले ॥१४४३**

उत्सर्गः उत्सर्जना त्याग इत्येकार्थाः, द्रव्योज्झना तुरेवार्थे सा यद्द्रव्यं येन पात्रादिना यत्र क्षेत्रेऽवकिरति त्यजत्येवं द्रव्यस्य द्रव्येण द्रव्ये उज्झना द्रव्योज्झना, यद्वा द्रव्यभूतोऽनुपयुक्तः सन् त्यजेत्, गतो द्रव्योत्सर्गः १ । यत्क्षेत्रं दक्षिणदेशाद्युत्सृजति यत्र वा क्षेत्र उत्सर्गो वर्ण्यते स क्षेत्रोत्सर्गः । २ । कालमुत्सृजति, यावत्कालं यावच्चिरं च त्यागः स्याद्, यस्मिन् वा काल उत्सर्गो वर्ण्यते स कालोत्सर्गः ३ ॥ १४४३ ॥ ' भावे '

**भावे पसत्थमियरं, जेण व भावेण अवकिरइ जं तु। अस्संजमं पसत्थे, अपसत्थे संजमं चयइ ॥१४४४॥**

भावोत्सर्गः प्रशस्त इतरोऽप्रशस्तश्च, अप्रशस्ते भावोत्सर्गे संयमं त्यजति, प्रशस्त उत्सर्गेऽसंयमं त्यजति । तत्र प्रशस्तमप्रशस्तं च वस्त्वाश्रित्य स्याद्यथा येन भावेन कठोरत्वादिना यद्वस्त्ववकिरति त्यजति तत्र भावेनोत्सर्ग इति तृतीयासमासः ॥ १४४४ ॥ भावेनोत्सर्गस्तु ' खर '

**खरफरुसाइचेयणमचेयणं दुरभिगंधविरसाई। दवियमवि चयइ, दोसेण जेण भावुज्झणा सा उ ॥१४४५॥**

सचेतनं खरं कठिनं पुरुषं दुर्भाषणोपेतं, अचेतनं दुरभिगन्धं विरसादिद्रव्यं येन खरादिदोषभावेनोज्झ्यते सा भावोज्झना ४ ॥ १४४५ ॥ गत उत्सर्गनिक्षेपोऽथोत्सर्गैकार्थाः ' उस्स '

**उस्सग्ग विउस्सरणुज्झणा य, अवगिरण छड्डुण विवेगो । वज्जण चयणुम्मुअणा, परिसाडण साडणा चेव ॥**

उत्सर्गो व्युत्सर्जनोज्झना वि(अव)किरणं छर्दनं विवेको वर्जनं त्यजनमुन्मोचना परिशातना शातनैकार्थाः ॥ १४४६ ॥

उत्सर्गो व्युत्सर्जनोज्झना वि(अव)किरणं छर्दनं विवेको वर्जनं त्यजनमुन्मोचना परिशातना शातनैकार्थाः ॥ १४४६ ॥ ... उक्ता उत्सर्गैकार्थाः । एवं कायस्योत्सर्गः कायोत्सर्ग इति स्थितमिह द्रव्यकायभावोत्सर्गाभ्यां प्रकृतं ' उस्स '

**उस्सग्गे निक्खेवो, चउक्कओ छक्कओ अ कायव्वो । निक्खेवं काऊणं, परूवणा तस्स कायव्वा ॥ १ ॥**

उत्सर्गे संयुक्तकायोत्सर्गशब्दे चतुष्कश्चतुर्धा निक्षेपः कार्यो नामस्थापनाद्रव्यभावैः कायोत्सर्ग इत्यर्थः । नामस्थापनाकायोत्सर्गौ स्पष्टौ, द्रव्यकायोत्सर्गोऽनुपयुक्तस्य मिथ्यादृशश्च, भावकायोत्सर्ग उपयुक्तस्य । तत्र क्षेत्रकालौ द्रव्य एवाऽन्तर्भवतः, षोढा वा निक्षेपः क्षेत्रकालयोः पार्थक्येन, निक्षेपं कृत्वा तस्य कायोत्सर्गस्य संयुक्तशब्दस्य भेदप्ररूपणा कर्तव्या । क्षेत्रकालकायोत्सर्गौ यत्र क्षेत्रे काले वा कायोत्सर्गो वर्ण्यते तत्क्षेत्रं कालश्च ॥ १ ॥ गाथा वृत्तौ न, एवं मूलद्वारगाथायां ' निक्खेवेगट्ठ ' इति द्वारद्वयं गतमथ विधानं प्रकारस्तन्मार्गणामाह ' सो उ '

**सो उस्सग्गो दुविहो, चिट्ठाए अभिभवे य नायव्वो । भिक्खायरियाइ पढमो, उवस्सगभिजुंजणे बिइओ ॥**

स कायोत्सर्गो द्विविधश्चेष्टाकायोत्सर्गोऽभिभवकायोत्सर्गश्च । भिक्षाचर्याद्यागतानां प्रथमं चेष्टाविषयः कायोत्सर्गः, दिव्याद्युपसर्गानभि प्रति योजने मेलने, मया सोढव्या इति संमुखत्वे, द्वितीयोऽभिभवकायोत्सर्गः स्यादुपसर्गसहनायैवाऽयं कार्य इत्यर्थः ॥ १४४७ ॥ शिष्यः ' इय '

**इयरहवि ता न जुज्जइ, अभिओगो किं पुणाइ उस्सग्गे ?। नणु गव्वेण परपुरं, अभिरुज्झइ एवमेयंति (पि)॥**

इतरथाऽपि यो बलात्कारः, किं पुनः कायोत्सर्गे ? ननु निश्चये, 'गव्वेण परपुरं' (गर्वेण परपुरं) निरुध्यते, एवमत्राऽपि गर्व एव दृश्यमाणोऽस्ति गर्वरहितेन च कर्मक्षयाय कायोत्सर्गः कार्यः ॥ १४४८ ॥ गुरुः 'मोह'

**मोहपयडीभयं अभिभवित्तु जो कुणइ काउस्सग्गं तु । भयकारणे य तिविहे, णाभिभवो नेव पडिसेहो ॥**

मोहप्रकृतयो हास्यादयः षट्, ता एव भयमभिभूय नाऽन्यत्किमपि बाह्यं, यः कायोत्सर्गं करोति, त्रिविधे भयकारणे दिव्ये मानुष्ये तैरिश्चे(तिरश्चीने) वा सति तस्य नाऽभिभवो नाऽभियोगः, इत्थंभूताभियोगस्य च न प्रतिषेधः ॥१४४९॥ 'आगा'

**आगारेऊण परं रणिव्व, जइ सो करिज्ज उस्सग्गं। जुंजिज्ज अभिभवो तो, तद्भावे अभिभवो कस्स? ॥१४५०**

आकार्य परं रे ! क यासीति रण इव यदि कायोत्सर्गं कुर्यात्ततोऽभिभवो युज्यते, तदभावे परवस्त्वभावे कस्याऽभिभवः ? ॥ १४५० ॥ 'अट्ठ'

**अट्ठविहंपि य कम्मं, अरिभूयं तेण तज्जयट्ठाए । अब्भुट्ठिया उ तवसंजमंमि कुव्वंति निग्गंथा ॥१४५१॥**

अष्टविधं कर्माऽरिभूतं, चशब्दादचेतनं च, तेन तज्जयार्थमभ्युत्थितास्तुरेवार्थेऽगर्वा अपि तपःसंयमं कुर्युः ॥१४५१॥ 'तस्स'

**तस्स कसाया चत्तारि, नायगा कम्मसत्तुसिन्नस्स। काउस्सग्गमभग्गं, करंति तो तज्जयट्ठाए॥ १४५२ ॥**

तस्य कर्मशत्रुसैन्यस्य चत्वारः कषाया नायकास्ततस्तज्जयार्थायाऽभिभवकायोत्सर्गं कुर्वन्ति, अभग्नमाकारैः ॥ १४५२ ॥

गता ' निद्दाणमग्गणा ' इति, द्वार ३ । अथ ' कालभेयपरिमाणे 'त्ति कालप्रमाणं ' संव '

संवच्छरमुक्कोसं,अंतमुहुत्तं च(त) अभिभवुस्सग्गे। चिट्ठाउस्सग्गस्स उ,कालपमाणं उवरि वुच्छं॥१४५३॥

उत्कृष्टं संवत्सरमभिभवकायोत्सर्गः स्याद्यथा बाहुबलेः, जघन्यमन्तर्मुहूर्त्तं, चेष्टाकायोत्सर्गकालप्रमाणमुपरि—अग्रे वक्ष्ये ॥ १४५३ ॥ गतं कालप्रमाणं द्वार ४ । अथ भेदपरिमाणं ' उसि ' ' निव '

उसिउस्सिओ अ तह, उस्सिओ अ उस्सियनिसन्नओ चेव।
निसनुस्सिओ निसन्नो, निस्सन्नगनिसन्नओ चेव ॥ १४५४ ॥

निवणुस्सिओ निवन्नो, निवन्ननिवन्नगो अ नायव्वो। एएसिं तु पयाणं, पत्तेय परूवणं वुच्छं ॥१४५५॥

उच्छ्रितोच्छ्रितः १, उच्छ्रितः २, उच्छ्रितनिपण्णश्चैव ३, निपण्णोच्छ्रितः ४, निषण्णः ५, निपण्णनिषण्णः ६, निर्विण्णोच्छ्रितः ७, निर्विण्णः ८, निर्विण्णनिर्विण्णः ९ । उच्छ्रित ऊर्ध्वस्थः, निपण्णः उपविष्टः, निर्विण्णः सुप्तो निद्राहीन उपगीतिः ॥ १४५४-५५ ॥ ' उसि '

उस्सिअनिसन्नग निवन्नगे य इक्किक्कगंमि उ पयंमि। दव्वेण य भावेण य,चउक्कभयणा उ कायव्वा॥१४५६॥

उच्छ्रिते निपण्णे निर्विण्णे चैकैकस्मिन्पदे द्रव्यभावाभ्यां चतुर्भङ्गी स्यात्, भजना विकल्पाश्च कार्याः । द्रव्यत उच्छ्रित ऊर्ध्वस्थो भावत उच्छ्रितो धर्मशुक्लध्यानी । भङ्गस्थापना—तत्र द्रव्यत उच्छ्रितो न भावत ऊर्ध्वस्थ आर्त्तादिचतुर्ध्यानरहितो

यत्तच्चिन्तनपरः, द्रव्यतो नोच्छ्रितो भावत उच्छ्रितो निविष्टः सुप्तो वा धर्मादिध्यानी, न द्रव्यतो न भावत उच्छ्रितो निविष्टो निर्विण्णो वाऽऽर्त्तादिध्यानी। एवं निषण्णनिर्विण्णयोरपि द्रव्यभावाभ्यां चतुर्भङ्ग्यौ ज्ञेये यथा द्रव्यतो निषण्णो भावान्निविष्टः प्रमादी १, द्रव्यतो निषण्णो न भावान्निविष्टः सुध्यानी २, न द्रव्यतो निषण्णो भावादूर्ध्वः सुप्तो वा प्रमादी ३, न द्रव्यतो न भावादूर्ध्वः सुप्तो वा सुध्यानी ४, एवं निर्विण्णोऽपि ॥ १४५६ ॥ कायोत्सर्गगुणान् प्रसंगेनाऽऽह 'देह'

**देहमइजड्डसुद्धी, सुहदुक्खतितिक्खया अणुप्पेहा। झायइ य सुहं झाणं, एयग्गो काउसग्गंमि ॥१४५७॥**

देहजाड्यशुद्धिः श्लेष्मादिहानौ, मतिजाड्यशुद्धिस्तथाऽस्थस्योपयोगविशेषात्सुखदुःखयोस्तितिक्षा सहनं, अनुप्रेक्षाऽनित्यत्वादिचिन्ता च, तथाविधस्य स्यात्। एकाग्रः एकचित्तः कायोत्सर्गे शुभं ध्यानं ध्यायति ॥१४५७॥ ध्यानस्यैव स्वरूपमाह 'अंतो'

**अंतोमुहुत्तकालं, चित्तस्सेगग्गया हवइ झाणं। तं पुण अट्टं रुद्दं, धम्मं सुक्कं च नायव्वं ॥ १४५८ ॥**

चित्तस्यैकाग्रता शुभेऽशुभे चाऽर्थेऽन्तर्मुहूर्त्तकालमूनां द्विघटीं यावन्मानसं ध्यानं, तच्चतुर्धाऽऽर्त्तादिभेदात् ॥१४५८॥ 'तत्थ'

**तत्थ य दो आइल्ला, झाणा संसारवड्ढणा भणिया। दुन्नि य विमुक्खहेऊ, तेसिऽहिगारो न इयरेसिं॥१४५९॥**

द्वे आद्ये ध्याने संसारवर्धनेऽर्हद्भिर्भणितेऽन्त्ये द्वे विमोक्षस्य कर्मक्षयस्य हेतू, तयोरधिकारोऽत्र कायोत्सर्गे नेतरयोः ॥ १४५९ ॥ 'संव' 'चेय'

**संवरियासवदारा, अव्वाबाहे अकंटए देसे। काऊण थिरं ठाणं, ठिओ निसन्नो निवन्नो वा ॥१४६०॥**

चेयणमचेयणं वा, वत्थुं अवलंबिउं घणं मणसा। झायइ सुअमत्थं वा, दवियं तप्पज्जए वावि ॥१४६१॥

संवृतान्याश्रवद्वाराणि प्राणिहिंसादीनि येन सः । अव्याबाधे गान्धर्वादिभावव्याबाधाहीनेऽकण्टके कण्टकरहिते प्रदेशे स्थानं देहचेष्टां स्थिरां कृत्वा स्थित ऊर्ध्वस्थो निपण्णो निर्विण्णो वा चेतनं वस्तु विहरमाणार्हदादि, अचेतनं प्रतिमाद्या· लम्ब्य घनं दृढं मनसा चित्तेन सूत्रमर्थं द्रव्यं द्रव्यपर्यायान्वा ध्यायति ॥ १४६०–६१ ॥ ' तत्थ '

तत्थ उ भणिज्ज कोई, झाणं जो माणसो परीणामो । तं न हवइ जिणदिट्ठं,झाणं तिविहेवि जोगंमि ॥१४६२॥

ध्यानयुक्तिमाह—तत्र कोऽपि भणेद्-ध्यानं मानसपरिणामः, तन्न भवति, त्रिविधेऽपि योगे जिनदिष्टं जिनोक्तं ध्यानं स्यात् ॥ १४६२ ॥ दृष्टान्तः ' वाया '

वायाईधाऊणं जो जाहे होइ उक्कडो धाऊ। कुविओत्ति सो पवुच्चइ, न य इयरे तत्थ दो नत्थि ॥ १४६३ ॥

वातादिधातूनां वातपित्तश्लेष्मणां मध्ये यो धातुरुत्कटः कुपितोऽस्ति सोऽस्याऽस्तीत्युच्यते, न चेतरौ दोषौ न स्तः, परं प्राधान्यं तस्यैव ॥ १४६३ ॥ ' एमे '

एमेव य जोगाणं, तिण्हवि जो जाहि उक्कडो जोगो। तस्स तहिं निद्देसो, इयरे तत्थिक्क दो व नवा ॥१४६४॥

एवमेव त्रयाणां योगानां मध्ये यो योगो यत्रोत्कटस्तस्य तत्र निर्देशः, इतर एकः स्याद्द्वौ वा तत्र स्तो न वा स्याद्यथा केवलिनो नात्युत्कटायां कायोऽप्यस्ति न तु विवक्ष्यतेऽसमदादौ तु मनःकायौ, न तु विवक्ष्येते । तत्रेति शैलेश्यां काय

एवाऽस्ति द्वौ तु न स्तः ॥ १४६४ ॥ एतदेव स्पष्टयति ‘ काए ’

**काएविय अज्झप्पं, वायाइ मणस्स चेव जह होइ। कायवयमणोजुत्तं, तिविहं अज्झप्पमाहंसु ॥१४६५॥**

यथा मनसि स्यात्तथा कायेऽध्यात्मन्यधिकृत्य वृत्तमध्यात्मं ध्यानमित्यर्थः स्थैर्यात्, वाचि ध्यानं मौनात्ततः कायवाङ्मनोयुक्तं काययोगे वाग्योगे मनोयोगे त्रिविधमध्यात्मं ध्यानं बुधा आहुः ॥ १४६५॥ परोक्तरीत्या ध्यानानि स्थापयति ‘ जइ ’

**जइ एगग्गं चित्तं, धारयओ वा निरुंभओ वावि। झाणं होइ नणु तहा, इअरेसुवि दोसु एमेव ॥१४६६॥**

यद्येकाग्रं चित्तमेकवस्तुनि धारयतः स्थिरत्वेन निरुध्यतो वा ध्यानं स्यात्, ननु नूनं तथेतरयोर्द्वयोरप्येवमेव एकाग्रधारणाभ्यां ध्यानं स्यात्तत्र च यदा यो योग उत्कटस्तदा तद्ध्यानव्यपदेशः ॥ १४६६ ॥ दृष्टान्तः ‘ देसि ’

**देसियदंसियमग्गो, वच्चंतो नरवई लहइ सद्दं। रायत्ति एस वच्चइ, सेसा अणुगामिणो तस्स ॥१४६७॥**

देशको मार्गदेष्टा, तद्दर्शितमार्गे नरपतिर्व्रजन् ससैन्योऽपि राजैष यातीति शब्दं लभते मन्त्र्याद्याः शेषास्तदनुगामिनः सन्तोऽपि न विवक्षिताः ॥ १४६७ ॥ तथा ‘ पढ ’

**पढमिल्लुअस्स उदए, कोहस्सिअरे वि तिन्नि तत्थत्थि। नय ते ण संति तहियं न य पाहन्नं तहेयंमि ॥**

प्रथमस्याऽनन्तानुबन्धिनः कषायस्य क्रोधस्योदय इतरे त्रयोऽप्रत्याख्यानादयः कषाया उदयतस्तत्र सन्ति, न च ते तदा न सन्ति युगपत्, किन्तु सन्त्येव, न च प्राधान्यं तेषां, किन्त्वाद्योदय एव कथ्यते, तथेहाऽपि कायिकादिध्यानं

॥ १४६८ ॥ 'मा मे'

मा मे एजउ काउत्ति, अचलओ काइअं हवइ झाणं। एमेव य माणसियं, निरुद्धमणसो हवइ झाणं ॥

मा मम काय एजतु चलत्विति ध्यातुरचलतः कायिकं ध्यानं स्यात्, एवमेव ॥ १४६९ ॥ शिष्यः 'जह'

जह कायमणनिरोहे झाणं, वायाइ जुज्जइ न एवं। तम्हा वई उ झाणं, न होइ को वा विसेसुत्थ ? ॥१४७०॥

यथा कायमनसोर्निरोधे ध्यानं एवं वाचि न युज्यते, कायमनसोरिव वाचः सदाऽप्रवृत्तेः स्वभावतोऽपि मौनभावात्, तस्माद्वाचि ध्यानं न, को वाऽत्र विशेषः ? ॥ १४७० ॥ गुरुः 'मा मे'

मा मे चलउत्ति तणू, जह तं झाणं निरेइणो होइ। अजयाभासविवज्जस्स, वाइअं झाणमेवं तु ॥१४७१॥

मा मम तनुश्चलत्विति तद्ध्यानं निरेजिनोऽकम्पस्य स्यात्। अयतायाः सावद्याया भाषाया विवर्जकस्य वाचिकं ध्यानमेतत्तु ॥ १४७१ ॥ यथा 'एवं'

एवंविहा गिरा मे, वत्तवा एरिसा न वत्तवा। इय वेयालियवक्कस्स, भासओ वाइयं झाणं ॥१४७२॥

एवंविधा गीर्मे वक्तव्या ईदृशा न वक्तव्या इति विचारितवाक्यस्य भाषमाणस्य वाचिकं ध्यानं ॥ १४७२ ॥ त्रिधा ध्यानं प्ररूप्याथैकत्र ध्यानत्रयं दर्शयति 'मण'

मणसा वावारंतो, कायं वायं च तप्परिणामो। भंगिअसुअं गुणंतो, वट्टइ तिविहेवि झाणंमि ॥१४७३॥

मनसा कायं वाचं च व्यापारयन् तत्परिणामः विवक्षितशुभाशयः भंगिकश्रुतं गुणयन् मुखेनाङ्कं भणन् करेणाक्षांश्चालयन्, मनस्तत्र प्रवर्त्तयन्, त्रिविधेऽपि वाचिककायिकमानसरूपे ध्याने वर्त्तते ॥ १४७३ ॥ गतं प्रासङ्गिकं, उच्छ्रितोच्छ्रितादिव्याख्या–' धम्मं '

**धम्मं सुक्कं च दुवे, झायइ झाणाइ जो ठिओ संतो। एसो काउस्सग्गो, उसिउसिओ होइ नायव्वो ॥१४७४॥**

स्थित ऊर्ध्वस्थः सन्, स द्रव्यत ऊर्ध्वस्थत्वात्, भावतः शुभध्यायित्वाच्च उत्सृतोत्सृतः ॥ १४७४ ॥ गत आद्यो भेदोऽथ द्वितीयः ' धम्मं '

**धम्मं सुक्कं च दुवे, नवि झायइ नवि य अट्टरुद्दाइं । एसो काउस्सग्गो, दव्वुसिओ होइ नायव्वो ॥१४७५॥**

ध्यायति किन्तु लेश्यापरिणामवांस्तिष्ठति । एष द्रव्योच्छ्रितः ॥ १४७५ ॥ साऽवस्था चैवं ' पय '

**पयलायंत सुसुत्तो, नेव सुहं झाइ झाणमसुहं वा । अव्वावारियचित्तो, जागरमाणोवि एमेव ॥१४७६॥**

प्रचलायमान ईषन्निद्रापरः, सुष्ठु गाढं सुप्तः, शुभमशुभं वा ध्यानं न ध्यायति । अव्यापारितचित्तो जाग्रदप्येवं शून्यचित्तः सन् स्यात् ॥ १४७६ ॥ ' अचि '

**अचिरोववन्नगाणं, मुच्छियअव्वत्तमत्तसुत्ताणं । ओहाडियमव्वत्तं च, होइ पाएण चित्तंति ॥१४७७॥**

अचिरोपपन्नानां स्तोककालजातानां बालानां, मूर्च्छितानां घातादिना, अव्यक्तानां विषादिना, मत्तानां सुरया, तथा

गुमानां चित्तं । 'ओहाडियं 'ति स्थगितं अव्यक्तं अस्पष्टभावं प्रायः स्यात् ॥ १४७७ ॥ नन्वीदृशोऽपि चित्तस्य ध्यानतामस्तु, नेवं, यतः 'गाढा'

गाढालंबणलग्गं चित्तं वुत्तं निरेयणं झाणं । सेसं न होइ झाणं, मउअमवत्तं भमंतं वा ॥१४७८॥

गाढालम्बनलग्नं निरेजनं निःकम्पं चित्तं ध्यानमुक्तं । मृदु भावनायां अपडु, अव्यक्तं प्रागुक्तं, भ्रमत् अनवस्थितं वा चित्तं ध्यानं न स्यात् ॥ १४७८ ॥ ननु मृद्वादि चित्तं ध्यानं न स्याद्वस्तुतोऽव्यक्तत्वात्, ततः कथं पश्चादपि वक्तव्यता (व्यक्तता) ?, उच्यते 'उम्हा'

उम्हासेसो वि सिही, होउं लद्धिंधणो पुणो जलइ । इय अवत्तं चित्तं, होउं वत्तं पुणो होइ ॥१४७९॥

उष्मशेषोऽप्यूष्णतावशेषोऽपि शिखी अग्निः पुनर्लब्धेन्धनो ज्वलतीत्यव्यक्तमपि चित्तं भूत्वा पुनर्व्यक्तं स्यात् ॥ १४७९ ॥ प्रसङ्गं (प्रासङ्गिकं) उक्त्वाऽथ ध्यानाशङ्कामाह 'पुव्वं'

पुव्वं च जं तदुत्तं, चित्तस्सेगग्गया हवइ झाणं । आवन्नमणेगग्गं चित्तं चिय तं न तं झाणं ॥१४८०॥

ननु त्रिधा ध्याने स्थापिते पूर्वं च यदुक्तं, चित्तस्यैकाग्रता ध्यानं स्यात्, अनेकाग्रतामापन्नं बहुव्यापारं तच्चित्तमेवोच्यते, न तु ध्यानं इति, ततोऽत्र विरोधः, न वाक्कायध्यानयोरुक्तेः ॥ १४८० ॥ गुरुः 'मण'

आ० मणसहिएण उ काएण कुणइ वायाइ भासई जं च । एयं च भावकरणं, मणरहियं दव्वकरणं च ॥

मनःसहितेन यत्तु कायेन करोति, मनःसहितया वाचा यद्भाषते एतदेव भावकरणं, तच्च ध्यानं । मनोरहितं तु द्रव्य-करणं न ध्यानं । अयं भावः यत्रैवार्थे मनः प्रवर्त्तते तत्रैव वचस्तत्रैव कायश्च, तेन त्रिविधध्यानस्यैकाग्रता निर्णीता, पश्चा-च्चालनायां ध्यानस्य त्रैविध्यं स्थापितं । अत्र तु त्रैविधस्याप्येकत्वस्थापनेति न पौनरुक्त्यं ॥ १४८१ ॥ शिष्यः: ' जइ '

**चो० जइ ते चित्तं झाणं, एवं झाणमवि चित्तमावन्नं । तेन र चित्तं झाणं, अह नेवं झाणमन्नं ते ॥१४८२॥**

यदि तव चित्तं मनः ध्यानं चित्तैकाग्रता ध्यानमित्युक्तेः, एवं ध्यानमपि चित्तं इत्यापन्नं, ततः कायिकवाचिकध्याना-भावः, तेन तव चित्तमेव ध्यानं नान्यत्, रः पादपूर्त्यै । अथ नैवं तदा ध्यानं चित्तादन्यत् वर्त्तते ॥ १४८२ ॥ गुरुः ' निय '

**आ० नियमा चित्तं झाणं, झाणं चित्तं न यावि भइयव्वं । जह खइरो होइ दुमो, दुमो य खइरो अखयरो वा ॥**

नियमादेकाग्रं चित्तं ध्यानमेव, ध्यानं चित्तं स्यान्न वा, एवं वक्तव्यं विभागः कार्यः । यथा खदिरो द्रुम एव, द्रुमस्तु खदिरोऽन्योऽखदिरो धवादिर्वा स्यात् ॥ १४८३ ॥ गतः प्रसङ्गः, अत्र प्रकृतो द्वितीय उच्छ्रिताख्यभेदः, तत्र ध्यानचतु-ष्टयहीनो लेश्यावान् ज्ञेयः । अथ तृतीयः कार्योत्सर्गभेदः ' अट्टं '

**अट्टं रुद्दं च दुवे, झायइ झाणाइं जो ठिओ संतो । एसो काउस्सग्गो, दव्वुसिओ भावउ निसन्नो ॥१४८४॥**

॥ १४८४ ॥ अथ चतुर्थः ' धम्मं '

**धम्मं सुक्कं च दुवे, झायइ झाणाइं जो निसन्नो अ । एसो काउस्सग्गो, निसनुसिओ होइ नायव्वो ॥१४८५॥**

यो प्रमत्तः कारणे निषण्णः सन् ॥ १४८५ ॥ अथ पञ्चमः ' धम्म '

धम्मं सुक्कं च दुवे, नवि झायइ नवि य अट्टरुद्दाइं । एसो काउस्सग्गो, निसण्णओ होइ नायव्वो ॥१४८६॥

अधिकाराभिषण्णः राम ध्यातीति ज्ञेयं ॥ १४८६ ॥ अथ षष्ठः ' अट्टं '

अट्टं रुद्दं च दुवे, झायइ झाणाइं जो निसन्नो य । एसो काउस्सग्गो, निसन्नगनिसन्नओ नाम ॥१४८७॥

॥ १४८७ ॥ अथ सप्तमः ' धम्मं '

धम्मं सुक्कं च दुवे झायइ, झाणाइं जो निवन्नो उ । एसो काउस्सग्गो, निवन्नुसिओ होइ णायव्वो ॥१४८८॥

अप्रमत्तः कारणान्निर्विण्णः सुप्तः ॥ १४८८ ॥ अथाष्टमः ' धम्मं '

धम्मं सुक्कं च दुवे, नवि झायइ नवि य अट्टरुद्दाइं । एसो काउस्सग्गो, निवण्णओ होइ नायव्वो॥१४८९॥

अधिकारात्स्वभानसुप्तः सन् ॥ १४८९ ॥ अथ नवमः ' अट्टं '

अट्टं रुद्दं च दुवे झायइ झाणाइं जो निवन्नो उ । एसो काउस्सग्गो, निवन्नगनिवन्नओ नाम ॥१४९०॥

प्रमादान्निर्विण्णः सन् ॥ १४९० ॥ ' अत '

अतरंतो उ निसन्नो, करिज्ज तहवि य सहू निवन्नो उ । संबाहुवस्सए वा, कारणियसहूवि य निसन्नो॥

अशक्नुवन्निषण्णः कायोत्सर्गं कुर्यात् तथाप्यसहो निर्विण्णः कुर्यात्, सम्बाधोपाश्रये वा निषण्णः कुर्यात् । तथा गुरुवैयावृत्त्यादिना व्यापृतः कारणिकः स सहः समर्थोऽपि निषण्णः कुर्यात् ॥ १४९१ ॥ एवं कायोत्सर्ग उक्तोऽथात्राऽध्ययनशब्दार्थो वाच्यः, स च प्रागुक्तः, गतो नामनिष्पन्नोऽध्ययननिक्षेपः । सूत्रालापकनिष्पन्ने सूत्रमुच्यते 'करेमि भंते'

करेमि भंते ! सामाइयं सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि । तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ॥ (सूत्रम्)

'इच्छामि ठाउं काउस्सग्गं०'

इच्छामि ठाउं काउस्सग्गं जो मे देवसिओ अइयारो कओ काइओ वाइओ माणसिओ उस्सुत्तो उम्मग्गो अकप्पो अकरणिज्जो दुज्झाओ दुव्विचिंतिओ अणायारो अणिच्छिअव्वो असमणपाउग्गो नाणे दंसणे चरित्ते सुए सामाइए तिण्हं गुत्तीणं चउण्हं कसायाणं पंचण्हं महव्वयाणं छण्हं जीवनिकायाणं सत्तण्हं पिंडेसणाणं अट्ठण्हं पवयणमाऊणं नवण्हं बंभचेरगुत्तीणं दसविहे समणधम्मे समणाणं जोगाणं जं खंडिअं जं विराहिअं तस्स मिच्छामि दुक्कडं ॥ (सूत्रम्)

कायोत्सर्गाध्ययने 'करेमि भंते' त्यादि सूत्रम् ॥

कायोत्सर्गं आसनविशेषे स्थातुमिच्छामि, 'जो मे देव०' इत्यादि, अर्थः प्राग्वत्, स्थाने स्थाने 'इच्छामि' इति स्वाशयज्ञापनं मनःशुद्धिस्पष्टतार्थं, सा चातीचारशुद्ध्या, सा च समतया इति सामायिकसूत्रोक्तिः, तस्य दुःकृतं, मे मिथ्याऽलीकं शुभध्यानादस्तु । 'तस्सुत्तरी'

तस्सुत्तरीकरणेणं पायच्छित्तकरणेणं विसोहीकरणेणं विसल्लीकरणेणं पावाणं कम्माणं निग्घायणट्ठाए ठामि काउस्सग्गं। अन्नत्थ ऊससिएणं नीससिएणं खासिएणं छीएणं जंभाइएणं उड्डुएणं वायनिसग्गेणं भमलिए पित्तमुच्छाए सुहुमेहिं अंगसंचालेहिं सुहुमेहिं खेलसंचालेहिं सुहुमेहिं दिट्ठिसंचालेहिं एवमाइएहिं आगारेहिं अभग्गो अविराहिओ हुज्ज मे काउस्सग्गो जाव अरिहंताणं भगवंताणं नमुक्कारेणं न पारेमि ताव कायं ठाणेणं मोणेणं झाणेणं अप्पाणं वोसिरामि॥ ( सूत्रम् )

तस्यानन्तरोक्तश्रमणयोगसञ्जातस्य खण्डनादिनाऽधःकृतस्योत्तरीकरणेन संस्कारकरणादूर्ध्वीकरणेन हेतुभूतेन 'ठामि काउस्सग्गं' इति क्रियायोगः । उत्तरीकरणं च प्रायश्चित्तकरणेन स्यात् । तच्च प्रायश्चित्तं विशोधिरपराधमलिनस्यात्मनः क्षालनं, तस्याः करणेन स्यात्, सा विशोधिरपि विशल्यकरणेन मायादिशल्यरहितेन स्यात्ततः पापानां कर्म्मणां निर्घातनार्थाय 'ठामि' कुर्वे कायोत्सर्गं, ठामिशब्दस्यानेकार्थत्वात् कुर्वे इत्यर्थो ज्ञेयः । किं सर्वथा कायस्योत्सर्गः ? नैवं, अन्यत्रोच्छ्वसितेन उच्छ्वासं मुक्त्वाऽन्यव्यापारमाश्रित्य कायोत्सर्गः। एवं निःश्वसितं निःश्वासः तस्मादन्यत्र कायोत्सर्गः, कासितं, क्षुतं, जृम्भायितं, उद्गारितं,

वातनिसर्गोऽधोवातः, भ्रमिः फेरः, पित्तमूर्च्छा, तृतीया पञ्चम्यर्थे, तत एतेभ्योऽन्यत्र व्यापारे कायोत्सर्गः। तथा सूक्ष्मैरङ्गसञ्चारैरदृश्यादृश्यैरङ्गस्पन्दरोमाञ्चाद्यैः, सूक्ष्मैः खेलस्य श्लेष्मणः सञ्चारैः, सूक्ष्मैर्दृष्टिसञ्चारैर्निमेषादिभिः, एवमादिभिराकारैः प्रकारैः विद्यमानैरपि । आदिशब्दादग्निछिन्दनकस्तेनसर्पादिभिः आपद्भिः स्थानं मुक्त्वाऽन्यत्र कायोत्सर्गकरणेऽभग्नः सर्वभङ्गेनाविनष्टः, अविराधितो देशतो देशोऽप्यभग्नो मे कायोत्सर्गो भूयात् । कथमित्याह यावदर्हतां भगवतां नमस्कारेण न वाचिकेन पारयामि तावत्कायं देहं स्थानेन ऊर्ध्वस्थानेन मौनेन वाग्रोधेन ध्यानेन मनोरोधेन आत्मानं स्वकायं व्युत्सृजामि, विशेषेणोत्प्राबल्येन त्याज्यरूपतया सृजामि हरामि, नमस्कारपाठं यावल्लम्बितभुजो निरुद्धवाक् सद्ध्याने तिष्ठामीत्यर्थः। परः प्राह—कायोत्सर्गो न कार्यो निःप्रयोजनत्वात्, गुरुराह—नैवं, यतः ' काउ ' ' परि '

**काउस्सग्गंमि ठिओ, निरेयकाओ निरुद्धवइपसरो। जाणइ सुहमेगमणो, मुणि देवसियाइ अइयारं॥(प्र०)**
**परिजाणिऊण य जओ, संमं गुरुजणपगासणेणं तु। सोहेइ अप्पगं सो जम्हा य, जिणेहिं सो भणिओ॥(प्र०)**

गाथाद्वयमन्यकृतं। कायोत्सर्गे स्थितो निरेजकायो निश्चलकायो निरुद्धवाक्प्रसरो मुनिर्दैवसिकाद्यतिचारं एकाग्रमनाः सन् सुखं जानाति । परिज्ञाय च सम्यग्गुरुजनप्रकाशनेन, तुशब्दात्तदादिष्टतपःकरणेन स आत्मानं शोधयति निर्मलं करोति । ततोऽतिचारपरिज्ञानाय कायोत्सर्गः कार्यः, यस्माज्जिनैः कायोत्सर्गो भणितः ॥ १–२ ॥ ततः ' काउ '

**काउस्सग्गं मुक्खपहदेसियं, जाणिऊण तो धीरा। दिवसाइयारजाणणट्ठयाइ, ठायंति उस्सग्गं॥१४९२॥**

तम्मात् ( यतः ) कायोत्सर्गं मोक्षपथाऽर्हता देशितं उक्तं ज्ञात्वा धीरा दिवसातिचारपरिज्ञानार्थाय कायोत्सर्गं तिष्ठन्ति ॥ १४९२ ॥ अतिचारान् दर्शयति ' सय '

**सयणासणण्णपाणे, चेइयजइसेज्जकायउच्चारे। समितीभावणगुत्ती, वितहायरणंमि अइयारो ॥१४९३॥**

शयनीयं संस्तारकः, आसनं पीठादि। शयनासनान्नपानानां वितथाऽऽचरणेऽप्रतिलेख्याप्रमृज्याविधिना चादाने, तथा चैत्यविषये वितथाऽऽचरणेऽविधिवन्दनेऽवन्दने, वा यतिविषये विनयाद्यकरणे, शय्यायां वसतौ वितथाचरणेऽप्रमार्जनादौ कायिकी मूत्रं उच्चारो विट् तयोर्वितथाचरणेऽस्थण्डिलेऽविधिव्युत्सर्जने, तथा समितिषु र्यादियुक्त्या( क्ता )दौ स्थाने वा, एवं भावनासु ( द्वादशसु ) उक्तासु पञ्चविंशतिषु वा, गुप्तिषु वितथाऽऽचरणेऽकरणातिथाऽऽचरणेऽकरणेऽविधिकरणे वा, दिनाऽतिचारः स्यात् ॥ १४९३ ॥ अथ कायोत्सर्गे चिन्त्यमाह ' गोस '

**गोसमुहणंतगाई आलोए, देसिए य अइयारे। सव्वे समाणइत्ता, हियए दोसे ठविज्जाहि ॥१४९४॥**

गोसं प्रभातं, मुखानन्तकं मुखवस्त्रिका, आदिशब्दाच्छेपोपकरणादि। ततः प्रभातादारभ्य मुखवस्त्रिकादीनामविधिप्रत्युपेक्षणादीन् दैवसिकानतिचारानवलोकयेत्। ततः सर्वातिचारान् समाप्य बुद्ध्याऽऽलोकनेन समाप्तं नीत्वा दोषान् हृदये स्थापनेन ॥ १४९४ ॥ ' काउं '

**काउं हिअए दोसे, जहक्कमं जा न ताव पारेइ। ताव सुहुमाणुपाणू, धम्मं सुक्कं च झाइज्जा ॥१४९५॥**

दोषान् यथाक्रमं प्रतिषेवनानुलोम्येन आलोचनानुलोम्येन (च) हृदये कृत्वा स्थापयित्वा यावन्न गुरुः पारयति तावन्न पारयति । तत्र प्रतिषेवनानुलोम्यं ये यथासेविताः, आलोचनानुलोम्यं तु पूर्वं लघव आलोच्यन्ते, [ एवं 'आलोयणमालुंचणं' गाथाभावो दर्शितः ] ततो गुरवः । तावत्सूक्ष्मानपानः सूक्ष्मोच्छ्वासनिःश्वासो धर्म्मध्यानं शुक्लध्यानं च ध्यायेत् ॥ १४९५ ॥ एवं 'देसि'

**देसिय राइय पक्खिय, चाउम्मासे तहेव वरिसे य । इक्किक्के तिन्नि गमा, नायव्वा पंचसेएसु ॥ १४९६ ॥**

दैवसिकं प्रतिक्रमणं, रात्रिकं, पाक्षिकं, चातुर्मासिकं, तथा वार्षिकं प्रतिक्रमणं । एतेषु पञ्चसु एकैकस्मिन् त्रयो गमाः सामायिकसूत्रोच्चाररूपाः सदृशपाठाः, यथा सामायिकं कृत्वा कायोत्सर्गकृतिः, सामायिकं कृत्वा प्रतिक्रमणं, सामायिकं कृत्वा पुनः कायोत्सर्गकृतिः । इह यस्माद्दिवसादि तीर्थं दिवसप्रधानं च तस्माद् दैवसिकं प्रतिक्रमणमादाविति ॥ १४९६ ॥ शिष्यः 'आइ'

**आइमकाउस्सग्गे, पडिक्कमणे ताव सामइयं । तो किं करेह बीयं, तइअं च पुणोऽवि उस्सग्गे ? ॥१४९७॥**

आद्यकायोत्सर्गे सामायिकं कृत्वा प्रतिक्रामन्तः पुनर्द्वितीयं सामायिकं तावत् किं कुरुत ?, ततोऽन्त्यकायोत्सर्गे पुनः समाप्तौ किं तृतीयं सामायिकोच्चारं कुरुत ? ॥ १४९७ ॥ गुरुः 'सम'

**समभावंमि ठियप्पा, उस्सग्गं करिय तो पडिक्कमइ । एमेव य समभावे, ठियस्स तइयं तु उस्सग्गे ॥१४९८॥**

समभावे मध्यस्थभावे स्थितात्मा दिनातिचारज्ञानाय कायोत्सर्गं कृत्वा गुरोरतिचारान्निवेद्य तद्दत्तप्रायश्चितः समतयैव ततः प्रतिक्रामति। एवमेव समभावे स्थितस्य द्वितीयं, पुनस्तृतीयं सामायिकं कायोत्सर्गेषु स्यात् ॥१४९८॥ अथवा 'सज्झा'

सज्झायझाणतवओसहेसु उवएसथुइपयाणेसु। संतगुणकित्तणेसु अ, न हुंति पुणरुत्तदोसा उ ॥१४९९॥

स्वाध्यायध्याने तपसि औषधे उपदेशे स्तुतौ प्रदाने च, सतां गुणकीर्त्तनासु च पुनःकरणे पुनरुक्तदोषा न स्युः ॥१४९९॥ एवं 'इच्छामि ठाउं काउस्सग्गं' सूत्रं निर्युक्तौ स्पष्टं। अथ 'मिच्छामि दुक्कडं' सूत्रं स्पृशति 'मित्ति' 'च्छत्ति'

मित्ति मिउमद्दवत्ते, छत्ति अ दोसाण छायणे होइ। मित्ति य मेराइ ठिओ, दुत्ति दुगुंछामि अप्पाणं ॥१५००॥

कत्ति कडं मे पावं, डत्तिय डेवेमि तं उवसमेणं। एसो मिच्छादुक्कडपयक्खरत्थो समासेणं ॥१५०१॥

गाथे प्रागुक्तार्थे ॥ १५००–१५०१ ॥ अथ 'तस्सुत्तरीकरणेणं' सूत्राणां सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिः 'खंडि'

खंडियविराहियाणं, मूलगुणाणं सउत्तरगुणाणं। उत्तरकरणं कीरइ, जह सगडरहंगगेहाणं ॥१५०२॥

खण्डितानां देशतो विराधितानां वा सर्वतः मूलगुणानां प्राणातिपातादीनां किम्भूतानां सोत्तरगुणानां, उत्तरगुणाः पिण्डविशुद्ध्याद्यास्तैः सहितानां, उत्तरकरणं संस्कारः क्रियते, यथा शकटानां भग्नानां पुनःसन्धानेनाक्षादिना चोत्तरकरणं, रथाङ्गानां चक्राणां अरकघटननीरखण्डादिना, गेहानां समारचनेन संस्कारः स्यात् ॥ १५०२ ॥ 'पावं'

पावं छिंदइ जम्हा, पायच्छित्तं तु भन्नई तेणं। पाएण वावि चित्तं, विसोहए तेण पच्छित्तं ॥१५०३॥

अथ 'पायच्छित्तकरणेणं' यस्मात् पापं छिनत्ति तस्मात् पापच्छित्, प्राकृते पायच्छित्तमुच्यते, प्रायसो वा चित्तं जीवं शोधयतीति प्रायश्चित्तमुच्यते ॥ १५०३ ॥ 'दव्वे'

**दव्वे भावे य दुहा, सोही सल्लं च इक्किमिक्कं तु । सव्वं पावं कम्मं, भामिज्जइ जेण संसारे ॥१५०४॥**

'विसोही' त्यादिव्याख्या–विशोधिः शोधिश्चैकार्थौ, ततः शोधिनिक्षेपमाह–द्रव्ये भावे च शोधिः स्यात्, द्रव्यशुद्धिर्जलादिना वस्त्रादेः, भावशुद्धिः प्रायश्चित्तेनात्मनः । शल्यं द्रव्यतः शरफलादि, भावतो मायाशल्यादि । एवं एकैकं शोधिशल्यरूपं पदं द्वेधा स्यात् । अथ 'पावाणं कम्माणं' इत्यादिनिर्युक्तिः, सर्वं कर्म्म पापमुच्यते येन संसारे भ्राम्यते ॥ १५०४ ॥ 'अन्नत्थ ऊससिएणं' इत्यादिविवृत्तिः 'उस्सा'

**उस्सासं न निरुंभइ, आभिग्गहिओ वि किमुअ चिट्ठा उ ?। सज्जमरणं निरोहे, सुहुमुस्सासं तु जयणाए ॥**

आभिग्रहिकोऽभिग्रहेणाभिभवकायोत्सर्गकर्त्ताप्युच्छ्वासं न निरुणद्धि किमुत चेष्टाकायोत्सर्गकारी, स तु नितरां न निरुणद्धि, यतः श्वासनिरोधे सद्यो मरणं स्यात्, ततो यतनया सूक्ष्मोच्छ्वासं कुर्यात् न तूत्कटं, मा भूत् सत्त्वघात इति ॥१५०५॥ 'कास'

**कासखुअजंभिए मा हु, सत्थमणिलोऽनिलस्स तिव्वुण्हो। असमाही य निरोहे, मा मसगाई अ तो हत्थो ॥**

कासक्षुतजृम्भितेषु अनिलस्तीव्रोष्णो बाह्यस्य सचित्तस्यानिलस्य शस्त्रं माऽस्तु, कासादीनां निरोधे त्वसमाधिः स्यात्, उद्घाटितास्ये मशकाद्यास्त्रसा मा विशन्तु, मा मशकाद्याः सश्लेष्मपवनाहताः कासादौ विनश्यन्त्विति । ततः कासक्षुतादौ

मुखे हस्तो देयः ॥ १५०६ ॥ ' वाय '

वायनिसग्गुड्डोए, जयणासद्दस्स नेव य निरोहो। उड्डोए वा हत्थो, भमलीमुच्छासु अ निवेसो ॥१५०७॥

वातनिसर्गोद्गारयोर्यतना शब्दस्य कार्या तारस्वरं न कुर्यादित्यर्थः। निरोधो वा माऽस्तु, उद्गारे हस्तो देयः, वा एवार्थे। अथ

भ्रमिमूर्च्छयोगतमसंयमविराधनारक्षायै निवेशनं कार्यं। निविश्य च कायोत्सर्गः कार्यः। एवं कायोत्सर्गो न भज्यते।

' मुहुमेहि अंगे 'त्यादि ॥ १५०७ ॥ ' वीरि '

वीरियसंजोगयाए, संचारा सुहुमबायरा देहे। बाहिं रोमंचाई, अंतो खेलाणिलाईया ॥ १५०८ ॥

वीर्यसंयोगतया वीर्यवत्तया सञ्चाराः सूक्ष्मा बादराश्च देहे स्युः। तत्र बहिः रोमाञ्चाद्याः, अन्तः खेलसञ्चारानिलसञ्चार-

स्पन्दाद्याः स्युः ॥ १५०८ ॥ ' आलो '

आलोअचलं चक्खू, मणुव्व तं दुकरं थिरं काउं। रूवेहिं तयं खिप्पइ, सभावओ वा सयं चलइ ॥१५०९॥

आलोको दर्शनं तस्मिन् चलं चलनं चक्षुः सदा स्यात्, मन इव स्थिरं कर्त्तुं दुःकरं, रूपैस्तच्चक्षुराक्षिप्यते स्वभावतो

वा स्वयं चलति ॥ १५०९ ॥ ' न कु '

न कुणइ निमेसजुत्तं, तत्थुवओगे ण झाण झाइज्जा। एगनिसिं तु पवन्नो, झायइ साहू अणिमिसच्छोवि ॥

निमेषस्य यत्नं अकृतिरूपं कायोत्सर्गे न कुर्यात्। तत्र निमेषत्वे उपयोगेन मा उक्तं ( ध्यानं ) न ध्यायेत्। एकनिशां

एकरात्रिकीं तु प्रतिमां प्रपन्नः सहः समर्थोऽनिमेषाक्षो ध्यायति ॥ १५१० ॥ ' एवमाइएहिं 'ति आदिशब्दादाह ' अग '

**अगणीओ छिंदिज्ज, व बोहियखोभाइ दीहडको वा । आगारेहिं अभग्गो उस्सग्गो एवमाईहिं ॥१५११॥**

अग्निर्जातः, ज्योतिर्वा लगेत्, विद्युद्वा, तदा प्रावरणाय कल्पं लातो न कायोत्सर्गभङ्गः । अत्र नमस्कारमनुक्त्वैव कल्पादानं कार्यं, यतः यो यावन्मानः कायोत्सर्ग उक्तः स स्वमानकालादनु नमस्कारे पठिते पार्यते तदा शुद्धः, पूर्णे काले नमस्कारं विना पारणेऽपि कायोत्सर्गभङ्गः, तेन नमस्कारः समाप्तावेव वाच्यो नान्यथा । तथा छिन्देद्वा ओत्वादिः छिन्दनं वा कुर्यात् । यः पञ्चेन्द्रियो याति तेनार्गलं स्यात्, तदाऽग्रतः सरणे न कायोत्सर्गभङ्गः । बोधिकाः स्तेनाः, आदिशब्दान्नृपाद्यास्तेभ्यः क्षोभस्तस्मिन् तथा ' दीहडको वा ' सर्पदष्टे वात्मनि परस्मिन् वा साधौ अपूर्णकायोत्सर्गमपि नमस्कारं उक्त्वाऽनुक्त्वा वा पारयतो न दोषः । एवमादिभिराकारैरभग्नः कायोत्सर्गः स्यात् । आकायोत्सर्गं यावत् क्रियन्ते कायोत्सर्गाऽभङ्गाय युक्तिविशेषा इत्याकारा उच्छ्वासाद्याः ॥ १५११ ॥ अथ कायोत्सर्गविधिमाह ' ते पु '

**ते पुण ससूरिए चिय, पासवणुच्चारकालभूमीओ । पेहित्ता अत्थमिए ठंतुसग्गं सए ठाणे ॥१५१२॥**

ते पुनः साधवः ससूर्य एव काले प्रश्रवणोच्चारकालभूमीः प्रत्युपेक्ष्य, द्वादश प्रश्रवणभूमीः, वसतिपरिभोगान्तः षट्, षड् बहिः, एवमुच्चारभूमयोऽपि द्वादश, प्रमाणं चासां तिर्यक् जघन्येन हस्तमात्रमधश्चत्वार्यङ्गुलान्यचेतनमुत्कृष्टतस्तु स्थण्डिलं द्वादशयोजनमानं, न च तेनाधिकारः, तिस्रस्तु कालभूमयः कालमण्डलाख्याः, यावच्चैतमन्यं च श्रमणयोगं कुर्युः कालवेलायां

तावत् प्रायोऽर्कोऽस्तमेति, तावदस्तमितेऽर्के स्वके स्वके स्थाने एत्य सामायिकं कृत्वा तिष्ठन्ति प्रतिक्रमणकायोत्सर्गे ॥१५१२॥ यो यदा व्यापाररहितः स तदा तदा सामायिकं कृत्वोत्सर्गे तिष्ठति। अयं विधिः केनापि हेतुना गुरोर्व्याघाते सत्युक्तः 'जइ'

जइ पुण निव्वाघाए, आवासं तो करिंति सव्वेवि। सङ्काइकहणवाघाययाइ पच्छा गुरू ठंति ॥१५१३॥

यदि पुनर्निर्व्याघातस्तदा सर्वे गुरुणा सहाऽऽवश्यकं प्रतिक्रमणं कुर्वन्ति। 'सङ्काइ०' श्राद्धादिकथनाव्याघाते पश्चाद् गुरवस्तिष्ठन्ति कायोत्सर्गे ॥ १५१३ ॥ 'सेसा'

सेसा उ जहासत्तिं, आपुच्छित्ताण ठंति सट्ठाणे। सुत्तत्थसरणहेउं, आयरिए ठियंमि देवसियं ॥१५१४॥

शेषास्तु साधवो गुरुमापृच्छ्य यथाशक्ति स्वस्थाने सामायिकं कृत्वा सूत्रार्थस्मरणहेतुं कायोत्सर्गे तिष्ठन्ति 'आयरिए पुनः स्थिते तस्य सामाइयावसाणे देवसियाइयारं चिन्तन्ति'। अन्ने भणन्ति जाहे आयरिओ सामाइयं कड्ढइ ताहे तेवि तहट्ठिया चेव सामाइयसुत्तमणुपेहन्ति, गुरुणा सह पच्छा देवसियं दिवसातिचारं चिन्तयति ॥ १५१४ ॥ 'जो हु'

जो हुज्ज उ असमत्थो, बालो वुड्ढो गिलाण परितंतो। सो विकहाइविरहिओ, झाइज्जा जा गुरू ठंति॥१५१५॥

यः साधुः कायोत्सर्गे स्थातुमसमर्थः स्यात् स कीदृगित्याह—बालवृद्धग्लानपरितान्ताः श्रान्तो गुरुवैयावृत्यादिना स विकथादिविरहितः सन् सूत्रार्थं ध्यायेत् यावद्गुरवः कायोत्सर्गे तिष्ठन्ति ॥ १५१५ ॥ अथ गाथाभिरग्रतो विधिमाह 'जा दे'

जा देवसिअं दुगुणं, चिंतइ गुरू अहिंडओऽचिट्ठं। बहुवावारा इअरे, एगगुणं ताव चिंतंति ॥१५१६॥

कृतिकर्म्म ददति । तत्र द्वितीयोत्सर्गे पञ्चाशदुच्छ्वासकायोत्सर्गं कृत्वा नमस्कारेण पारयित्वा पठित्वा दर्शनविशुद्ध्यै कायोत्सर्गं चिकीर्षवः ( पुनरिदं सूत्रम् ) पठन्ति ॥ १५१८ ॥

**सव्वलोए अरिहंतचेइयाणं करेमि काउस्सग्गं वंदणवत्तियाए पूअणवत्तियाए सक्कारवत्तियाए सम्माणवत्तियाए बोहिलाभवत्तियाए निरुवसग्गवत्तियाए सद्धाए मेहाए धिइए धारणाए अणुप्पेहाए वड्ढमाणीए ठामि काउस्सग्गं ( सूत्रम् ) ॥**

लोक्यते ज्ञानिभिरिति लोकः, सर्वस्मिन् लोके चित्तैकाग्र्यकृच्चैत्यं,अर्हतां प्रातिहार्यादिपूजायुजां जिनानां चैत्यान्यर्हच्चैत्यानि । तेषां सम्बन्धिनं कायोत्सर्गं कायस्योत्सर्गं कृताकारस्य स्थानमौनध्यानैरन्यक्रियोज्झनं करोमीत्यात्मनोपक्र(तमाऽभ्युपग)मज्ञप्त्यै । किमर्थमित्याह—वन्दनप्रत्ययं त्रिधा शुद्ध्या नत्यर्थं तत्फलं कायोत्सर्गादस्त्वित्यर्थः, एवं पूजनप्रत्ययं गन्धमालाद्यर्चाफलार्थं । सत्कारो वस्त्रभूषादिभिरर्चनं तत्प्रत्ययं । साधूनां द्रव्यस्तवानधिकाराद्भावपूजैवोक्ता । सन्मानः स्तुत्यादिभिर्गुणोन्नतिकृतिः मनःप्रीतिविशेषो वा तत्प्रत्ययं तन्निमित्तं, बोधिलाभः प्रेत्य धर्म्मावाप्तिरुच्यते तन्निमित्तं, निरुपसर्गो मोक्षस्तत्प्रत्ययं, श्रद्धया, मेधया मर्यादापटुतया, धृत्या मनस्तुष्ट्या न तु रागाद्याकुलतया, धारणयाऽर्हद्गुणादिस्मृत्याऽनुप्रेक्षया गुणानां पुनःपुनरविच्युत्या, वर्द्धमानयेति श्रद्धादिषु सर्वासु योज्यं यथा वर्द्धमानया श्रद्धयेत्यादि, एवं कायोत्सर्गे तिष्ठामि । प्राक् ' करेमि काउस्सग्गमि'त्युक्त, ' तत्र वर्त्तमानसामीप्ये वर्त्तमानवद्वा' इति करिष्यामीत्यर्थः । अत्र तु तिष्ठामि कायोत्सर्गं कुर्वे इत्यर्थः । शेषं

प्राग्वत् । तत्र पञ्चविंशत्युच्छ्वासैरुद्योतकरं ध्यात्वा नमस्कारेण पारयित्वा श्रुतज्ञानवृद्ध्यै अतीचारशुद्ध्यै च श्रुतज्ञानस्य स्तुति तत्प्ररूपकनमस्कारपूर्वं परया भक्त्या पठन्ति—

पुक्खरवरदीवड्ढे, धायइसंडे य जंबुद्दीवे य। भरहेरवयविदेहे, धम्माइगरे नमंसामि ॥१॥ तम-तिमिरपडलविद्धंसणस्स सुरगणनरिंदमहिअस्स। सीमाधरस्स वंदे, पप्फोडियमोहजालस्स ॥ २ ॥ जाईजरामरणसोगपणासणस्स, कल्लाणपुक्खलविसालसुहावहस्स । को देवदानवनरिंदगणच्चिअस्स, धम्मस्स सारमुवलब्भ करे पमायं ? ॥ ३ ॥ सिद्धे भो ! पयओ णमो जिणमए नंदी सया संजमे, देवंनागसुवण्णकिण्णरगणस्सब्भूअभावच्चिए। लोगो जत्थ पइट्ठिओ जगमिणं तेलुक्कमच्चासुरं, धम्मो वड्ढउ सासओ विजयओ धम्मुत्तरं वड्ढउ ॥ ४ ॥ सुअस्स भगवओ करेमि काउस्सग्गं वंदण० अन्नत्थ० । ( सूत्रम् )

पुष्कराण्यब्जानि तैर्वरो द्वीपः पुष्करवरद्वीपस्तस्यार्द्धे मानुषोत्तराचलार्वाग्भागे । धातकीयुतानि खण्डानि वनानि यत्र तस्मिन् धातकीखण्डद्वीपे, जम्बूवृक्षप्रधाने द्वीपे जम्बूद्वीपे, पुष्करादीनि शाश्वतानि रत्नमयान्येव ज्ञेयानि। एषु स्थानेषु पञ्चसु भरतैरवतमहाविदेहेषु श्रुतधर्मस्यादिकरान् जिनान्नमस्यामि ॥ १ ॥ एवं श्रुतधर्मतीर्थकरस्तुतिमुक्त्वाऽथ श्रुतधर्मं स्तौति ।

गुरुरहिंडकश्चेष्टां व्यापाररूपामकुर्वन् दैवसिकं द्विगुणं द्वौ वारौ चिन्तयति । इतरे साधवो बहुव्यापारास्तावदेकगुणं एकवारं तावच्चिन्तयति ॥ १५१६ ॥ 'पव'

**पव्वइयाण व चिट्ठं, नाऊण गुरू बहुं बहुविहीअं। कालेण तदुचिएणं, पारेई थोवचिट्ठोऽवि (॥प्र० १)॥**

प्रव्रजितानां वा चेष्टां व्यापारं गुरुर्बह्वीं बहुविधिकां ज्ञात्वा स्तोकचेष्टोऽपि तदुचितेन कालेन कायोत्सर्गं पारयति ।१। 'नमो'

**नमोकारचउवीसगकिइकम्मालोअणं पडिक्कमणं। किइकम्मदुरालोइअ, दुप्पडिक्कंते य उस्सग्गो॥१५१७॥**

कायोत्सर्गपारणे 'नमो अरिहंताणं'ति नमस्कारं उक्त्वा चतुर्विंशतिस्तवं पठित्वा ततो गुरुं वंदिउंकामा संडासयं पडिलेहित्ता उवविसन्ति, तओ मुहणंतगं पडिलेहिय ससीसोवरियं कायं पमज्जंति, पमज्जित्ता परेणं विणएणं तिगरणसुद्धं कृतिकर्म्म वन्दनकं ददति। उक्तं च 'आलोयणवागरणासंपुच्छणपूयणाए सज्झाए। अवराहे य गुरूणं, विणओ मूलं च वंदणगं' ।१। वंदित्ता उत्थाय उभयकरगहियरओहरणा अद्धावणयकाया स्मृतपूर्वदोषान् रत्नाधिकं संयतभाषया यथा गुरवः शृण्वन्ति तथा पवड्ढमाणसंवेगा मायामयविप्पमुक्का अप्पणो विसुद्धिनिमित्तमालोएन्ति। यथात्मना ज्ञातं तथा गुरुरपि ज्ञाप्यः। एवमालोच्य गुरुदत्तप्रायश्चित्ताः सामायिकपूर्वं समभावे स्थित्वा सम्यगुपयुक्ताः पदं पदेन प्रतिक्रमणं कुर्वन्ति। ततः क्षामणानिमित्तं प्रतिक्रमणनिवेदनार्थं कृतिकर्म्म कृत्वाऽऽचार्यादीन् क्षामयन्ति। उक्तं च 'आयरियउवज्झाए, सीसे साहंमिए कुलगणे य। जे मे केऽवि कसाया, सव्वे तिविहेण खामेमि ॥ १ ॥ सव्वस्स समणसंघस्स, भगवओ अंजलिं करिय सीसे। सव्वं खमावइत्ता, खमामि सव्वस्स

सबस्स अहयंपि ' ॥ ३ ॥
अहयंपि ॥ २ ॥ सबस्स जीवरासिस्स, भावओ धम्मनिहियनियचित्तो । सबं खमावइत्ता, खमामि सबस्स अहयंपि ' ॥ ३ ॥ आचार्योपाध्यायान्, शिष्यान्, साधर्मिकान्, कुलं एकाचार्यसन्तानं, गच्छं बह्वाचार्यसन्तानं वाऽऽश्रित्य ये मया कषायाः कृताः, सर्वांस्त्रिविधेन मनआदिना क्षामयामि । ' सबस्स० ' शीर्षेऽञ्जलिं हस्तयोजनं कृत्वा सर्वस्य श्रमणसङ्घस्य भगवतः सर्वामाशातनां क्षामयित्वाऽहमपि तस्य सर्वस्य शिक्षां ददतो वैयावृत्त्यं कारयतः क्षमे सम्यक् सहे । 'सबस्स०' सर्वस्य जीवराशेः सर्वं धर्मे निहितनिजचित्तः सन् क्षमयित्वाऽहमपि सर्वस्य तस्य क्षमे तत्कृतदोषं सहे, क्रोधं शान्तिं प्रापये इत्यादि । ' दुरालोइयदुप्पडिक्कंते य काउस्सग्गे 'त्ति विस्मृत्यादिना सम्यगालोचितं न स्यादतः पुनः कृतसामायिकाश्चारित्रविशुद्ध्यर्थं कायोत्सर्गं कुर्युः । तथा वृत्तिश्चूर्ण्यादिष्वदृष्टा काप्यादर्शे गाथा दृश्यते ' दुन्नि य हुन्ति चरित्ते दंसणनाणे य एक्कमेक्को य । सुयखित्तदेवयाए थुइअंते पंचमंगलया '।१। चारित्रशोधये द्वौ उद्योतकरौ स्तः, दर्शनज्ञानयोरेकैक उद्योतकरः स्यात् । श्रुतक्षेत्रदेवतयोः स्तुतेरन्ते पञ्चमङ्गलं नमस्कारो भण्यः, परं उत्तरार्द्धार्थः सिद्धान्ते मया न ज्ञातोऽस्ति, स्तुतिशब्दो देव्या दुर्घट इति ॥ १५१७ ॥ ' एस '

एस चरित्तुस्सग्गो,दंसणसुद्धीइ तइयओ होइ । सुयनाणस्स चउत्थो,सिद्धाण थुई अ किइकम्मं ॥१५१८॥

एष चारित्रशुद्धये मूलतो द्वितीय उत्सर्गः, दर्शनशुद्धये तृतीय उत्सर्गः स्यात्, श्रुतज्ञानस्य चतुर्थः, सिद्धानां स्तुतेरनु-

१ दीपिकाकारस्यैतन्मन्तव्यं दृश्यते ।

कृतिकर्म्म ददति । तत्र द्वितीयोत्सर्गे पञ्चाशदुच्छ्वासकायोत्सर्गं कृत्वा नमस्कारेण पारयित्वा पठित्वा दर्शनविशुद्ध्यै कायोत्सर्गं चिकीर्षवः ( पुनरिदं सूत्रम् ) पठन्ति ॥ १५१८ ॥

**सव्वलोए अरिहंतचेइयाणं करेमि काउस्सग्गं वंदणवत्तियाए पूअणवत्तियाए सक्कारवत्तियाए सम्माणवत्तियाए बोहिलाभवत्तियाए निरुवसग्गवत्तियाए सद्धाए मेहाए धिइए धारणाए अणुप्पेहाए वड्ढमाणीए ठामि काउस्सग्गं ( सूत्रम् ) ॥**

लोक्यते ज्ञानिभिरिति लोकः, सर्वस्मिन् लोके चित्तैकाग्र्यकृच्चैत्यं,अर्हतां प्रातिहार्यादिपूजायुजां जिनानां चैत्यान्यर्हच्चैत्यानि। तेषां सम्बन्धिनं कायोत्सर्गं कायस्योत्सर्गं कृताकारस्य स्थानमौनध्यानैरन्यक्रियोज्झनं करोमीत्यात्मनोपक्र(त्माऽभ्युपग)मज्ञप्त्यै। किमर्थमित्याह—वन्दनप्रत्ययं त्रिधा शुद्ध्या नत्यर्थं तत्फलं कायोत्सर्गादस्त्वित्यर्थः, एवं पूजनप्रत्ययं गन्धमालाद्यर्चाफलार्थं। सत्कारो वस्त्रभूषादिभिरर्चनं तत्प्रत्ययं । साधूनां द्रव्यस्तवानधिकाराद्भावपूजैवोक्ता । सन्मानः स्तुत्यादिभिर्गुणोन्नतिकृतिः मनःप्रीतिविशेषो वा तत्प्रत्ययं तन्निमित्तं, बोधिलाभः प्रेत्य धर्म्मावाप्तिरुच्यते तन्निमित्तं, निरुपसर्गो मोक्षस्तत्प्रत्ययं, श्रद्धया, मेधया मर्यादापटुतया, धृत्या मनस्तुष्ट्या न तु रागाद्याकुलतया, धारणयाऽर्हद्गुणादिस्मृत्याऽनुप्रेक्षया गुणानां पुनःपुनरविच्युत्या, वर्द्धमानयेति श्रद्धादिषु सर्वासु योज्यं यथा वर्द्धमानया श्रद्धयेत्यादि, एवं कायोत्सर्गे तिष्ठामि । प्राक् 'करेमि काउस्सग्गमि'त्युक्त, 'तत्र वर्त्तमानसामीप्ये वर्त्तमानवद्वा' इति करिष्यामीत्यर्थः । अत्र तु तिष्ठामि कायोत्सर्गं कुर्वे इत्यर्थः । शेषं

प्रागत् । तत्र पञ्चविंशत्युच्छ्वासैरुद्योतकरं ध्यात्वा नमस्कारेण पारयित्वा श्रुतज्ञानवृद्ध्यै अतीचारशुद्ध्यै च श्रुतज्ञानस्य स्तुतिं नम्ररूपकनमस्कारपूर्वं परया भक्त्या पठन्ति—

पुक्खरवरदीवड्ढे, धायइसंडे य जंबुद्दीवे य। भरहेरवयविदेहे, धम्माइगरे नमंसामि ॥१॥ तम-तिमिरपडलविद्धंसणस्स सुरगणनरिंदमहिअस्स। सीमाधरस्स वंदे, पप्फोडियमोहजालस्स ॥ २ ॥ जाईजरामरणसोगपणासणस्स, कल्लाणपुक्खलविसालसुहावहस्स । को देवदानवनरिंदगणच्चिअस्स, धम्मस्स सारमुवलब्भ करे पमायं ? ॥ ३ ॥ सिद्धे भो ! पयओ णमो जिणमए नंदी सया संजमे, देवंनागसुवण्णकिण्णरगणसब्भूअभावच्चिए। लोगो जत्थ पइट्ठिओ जगमिणं तेलुक्कमच्चासुरं, धम्मो वड्ढउ सासओ विजयओ धम्मुत्तरं वड्ढउ ॥ ४ ॥ सुअस्स भगवओ करेमि काउस्सग्गं वंदण० अन्नत्थ० । ( सूत्रम् )

पुष्कराण्यम्बुजानि तैर्वरो द्वीपः पुष्करवरद्वीपस्तस्यार्द्धे मानुषोत्तराचलार्वाग्भागे । धातकीयुतानि खण्डानि वनानि यत्र तस्मिन् धातकीखण्डद्वीपे, जम्बूवृक्षप्रधाने द्वीपे जम्बूद्वीपे, पुष्करादीनि शाश्वतानि रत्नमयान्येव ज्ञेयानि। एषु स्थानेषु पञ्चसु भरतैरवतमहाविदेहेषु श्रुतधर्मस्यादिकरान् जिनान्नमस्यामि ॥ १ ॥ एवं श्रुतधर्मतीर्थकरस्तुतिमुक्त्वाऽथ श्रुतधर्मं स्तौति ।

'तम०' गाहा–तमः पापं तदेव तिमिरं तमस्तिमिरं तस्य पटलं तस्य विध्वंसकं, अज्ञानहीनस्यैवात्र प्रवृत्तेः, आगमस्य सुरैर्महिम्नः क्रियमाणत्वात् सुरगणनरेन्द्रमहितं, सीमां मर्यादां धरतीति सीमाधरः संयमस्तं वन्देऽत्र द्वितीयायां षष्ठी, आगमवतां सदा मर्यादावत्वात् । प्रस्फोटितं मोहजालं येन, आगमे सति विवेकिनो मोहजालविलयात् ॥ २ ॥ 'जाइ' जन्मजरामरणशोकप्रणाशकस्य, कल्याणं अरोगं पुष्कलं पूर्णं विशालं सुखं आवहति प्रापयतीति कल्याणपुष्कलविशालसुखावहस्तस्य, देवदानवनरेन्द्रगणार्चितस्य धर्म्मस्य सारं तत्त्वं उपलभ्य कः प्रमादं कुर्यात् ? कर्त्तुमयुक्त इत्यर्थः । ततः सुरगणनरेन्द्रमहितमित्युक्तेऽपि देवदानवनरेन्द्रगणार्चितस्येति पदं निगमनत्वात् स्तुतित्वाददुष्टं ॥ ३ ॥ 'सिद्धे' भो इत्याह्वाने हे सिद्धाः ! यद्वा हे ज्ञानिनः ! सिद्धे प्रसिद्धे अहं प्रयतः प्रकर्षेण यत्नवानऽस्मि, जिनमताय मम नमोऽस्तु, संयमे नंदिर्वृद्धिरस्तु, किम्भूते संयमे ? देवनागसुपर्णकुमारकिंनरगणैः सद्भूतभावात् सत्यभावादर्चिते, संयमवतां सुरपूज्यत्वात् । यत्र जिनमते लोको ज्ञानं प्रतिष्ठितः, जगत इदं स्थावरत्रसरूपं, तथा त्रैलोक्यं मर्त्यासुरं द्वन्द्वे सति प्राकृतत्वात् सुरशब्दलोपः। यत्र प्रतिष्ठितः प्ररूपितः स श्रुतरूपो धर्म्मो वर्द्धतां, शाश्वतोऽर्थतया नित्यो विजयतां कुवादात्, वर्द्धयतु धर्म्मोत्तरं चारित्रधर्म्मं ॥ ४ ॥ धर्म्मस्य वृद्ध्याख्यानं मोक्षार्थिनाऽन्वहं ज्ञानवृद्धिः कार्येत्यर्थः । श्रुतस्य भगवतो माहात्म्यवतः करोमि कायोत्सर्गं, वन्दनादि अर्हद्वत् श्रुतस्याऽपि ज्ञेयं । पञ्चविंशत्युच्छ्वासैः पारयित्वा शुद्धातीचारा मंगलाय चरणदर्शनश्रुतदर्शकानां सिद्धानां स्तुतिमाहुः—

**सिद्धाणं बुद्धाणं, पारगयाणं परंपरगयाणं । लोअग्गमुवगयाणं, नमो सया सव्वसिद्धाणं ॥१॥**

जो देवाणवि देवो, जं देवा पंजली नमंसंति । तं देवदेवमहिअं, सिरसा वंदे महावीरं ॥२॥ इक्कोऽवि नमुक्कारो, जिणवरवसहस्स वद्धमाणस्स । संसारसागराओ, तारेइ नरं व नारिं वा ॥३॥ उज्जितसेलसिहरे, दिक्खानाणं निसीहिआ जस्स । तं धम्मचक्कवट्टिं, अरिट्ठनेमिं नमंसामि ॥४॥ चत्तारि अट्ठ दस दो य, वंदिआ जिणवरा चउव्वीसं । परमट्ठनिट्ठिअट्ठा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥५॥ (सूत्रम्)

सिद्धेभ्यः प्रसिद्धेभ्यः, विद्यासिद्धादयोऽपि सिद्धा उच्यन्तेऽत आह बुद्धेभ्यो ज्ञातविश्वेभ्यः, बौद्धानां ज्ञानित्वेऽपि तीर्थन्युच्छित्यां संसारेऽवतारमभ्युपगमादाह–संसारस्य कार्याणां च पारं गतेभ्यः, दर्शनज्ञानचारित्ररत्नत्रयपरम्परया यथाकर्म्मक्षयक्रमेण या सिद्धिं गतेभ्यः परोक्तस्य जगत्पतिनाम्नोऽनादिसिद्धस्यैवाभावात्, तथा सर्वत्र सिद्धानामभावज्ञप्त्यै लोकव्यापित्वाभावज्ञप्त्यै चाह–लोकाग्रमुपगतेभ्यः, नमः सदा सर्वसिद्धेभ्यः, सितं बद्धं कर्म्माध्मासित(ध्मात)मेभिरिति सिद्धाः । नन्वाद्यसमयवत् सिद्धानां पश्चादपि गतिः कथं न स्यात् ? उच्यते, चक्रभ्रमिन्यायेनैकसमय एव स्यादिति । सर्वशब्दोऽनेकसिद्धभेदज्ञप्त्यै ॥ १ ॥ अथासन्नोपकारित्वात् श्रीवीरस्तुतिमाह–'जो' यो देवानां देवः स्तुत्यः, यं देवाः प्राञ्जलयो योजिताञ्जलयो रचितकरपुटाः नमस्यन्ति, तं देवैः सुरासुरैर्महितं, शिरसा इत्यादरज्ञप्त्यै महावीरं वन्दे । एवं श्रीवीरस्य देवस्य स्तुत्यनम्याच्यर्त्वं उक्तं ॥ २ ॥ एवं स्तुतिं कृत्वा स्तुतेः फलमाह–'इक्को' तीव्रभक्त्यैकोऽपि नमस्कारः संसारसागरान्नरं नारीं वा तारयति, अयं भावः–सम्यग्दृशो नमस्कारस्तथाध्यानशुद्धिहेतुः स्यात् यथा केवलं लभते अन्यथा चारित्रादिवैफल्यापत्तेः ॥ ३ ॥ एतास्तिस्रः

स्तुतयो नियमेनोच्यन्ते । केचिदन्या अपि पठन्ति । न च तत्र नियमः । ततः संडासकौ प्रमृज्योपविशन्ति मुखपोर्तिं प्रतिलिख्य देहं प्रमार्ज्य वन्दनं ददति । किमर्थमित्याह–' सुक '

**सुकयं आणत्तिं पिव, लोगे काऊण सुकयकिइकम्मं । वड्ढंतिया थुईओ, गुरुथुइगहणे कए तिन्नि ॥१५१९॥**

यथा राज्ञो नरा आदेशे जाते नत्वादिष्टं कुर्युः, कृत्वा नत्वा च विज्ञप्तिं कुर्युः, एवमत्र लोके सुष्ठु कृतामाज्ञप्तिमिव गुर्वादेशाद्वन्दनपूर्वं चारित्रादिविशोधिं कृत्वा पुनः सुष्ठु कृतकर्म्माणः सन्तो गुरोर्निवेदयन्ति–भगवं कयं तं पेसणं आयविसोहिकारणं ति, वन्दनं दत्त्वोत्कटिका रचिताञ्जलयस्तिष्ठन्ति, वृत्तौ चूर्णौ तु सीसे अंजलिं काऊण भणंति, गुरोः स्तुतिग्रहणे आद्यस्तुतिकथने जाते सति विनयार्थं पश्चाद्वर्द्धमानवर्णादिभिस्तिस्रः स्तुतीर्भणन्ति । ततः प्रादोषिककालं लान्ति । एवं दैवसिकं गतं ॥ १५१९ ॥ रात्रिके तु आदौ सामायिकं कर्षित्वा चारित्रशुद्ध्यै पञ्चविंशत्युच्छ्वासकायोत्सर्गं कृत्वा नमस्कारेण पारयित्वा दर्शनशुद्ध्यै चतुर्विंशतिस्तवं पठित्वा पञ्चविंशत्युच्छ्वासकायोत्सर्गं च कृत्वा नमस्कारेण पारयित्वा श्रुतज्ञानशुद्ध्यै श्रुतज्ञानस्तवं कर्षित्वा तच्छुद्ध्यै कायोत्सर्गं कुर्युः । तत्र प्रादोषिकं स्तुतिकथनाद्यं अधिकृतकायोत्सर्गपर्यन्तं अतिचारं ध्यायन्ति । ननु रात्रौ आद्य एव कायोत्सर्गेऽतिचारं किं न ध्यायन्ति ? उच्यते ' निद्दा '

**निद्दामत्तो न सरइ, अइयारं मा य घट्टणंऽणोऽन्नं । किइअकरणदोसा वा, गोसाई तिन्नि उस्सग्गा ॥१५२०॥**

निद्रया मत्तोऽभिभूतो रात्र्यतिचारं सुष्ठु न स्मरेत्तेनाद्योऽतीचारचिन्तनाय कायोत्सर्गो न कार्यः, तथा क्षामणककाले

वन्दने तमसि अन्योन्यं साधूनां घट्टनं माऽस्तु, मन्दश्रद्धानां कृतिकर्म्माकरणदोषाच्च, गोसे प्रातरादौ त्रय उत्सर्गाः कार्याः ॥ १५२० ॥ ' एत्थ '

**एत्थ पढमो चरित्ते, दंसणसुद्धीए बीयओ होइ। सुयनाणस्स य ततिओ, नवरं चिंतंति तत्थ इमं ॥१५२१॥**

सामायिकपूर्वं प्रथमः कायोत्सर्गश्चारित्रे, द्वितीयो दर्शनशुद्ध्यै, तृतीयः श्रुतज्ञाने स्यान्नवरं किन्तु तत्रेमं रात्र्यतीचारं चिन्तयति ॥ १५२१ ॥ नमस्कारेण पारयित्वा सिद्धानां स्तुतिं कृत्वा प्राग्विधिना वन्दित्वाऽऽलोचयन्तीत्यादि सन्ध्यावत् यावत्तृतीयवन्दनादनूत्थायाचार्यादीन् क्षमयित्वा सामायिकादिपूर्वं चरमे उत्सर्गे चिन्तयन्ति ' कंमि निओगे निउत्ता वयं गुरुहिं ? तो तारिसं तवं पवज्जामो जारिसेण तस्स हाणी न भवइ '। नियोगो वैयावृत्त्यपठनाद्यादेशः, ततस्तत्तपः कार्यं येन गुर्वादिष्टहानिर्न स्यात्। ततः किं तपोऽद्य करिष्ये इति चिन्तयति। अत्र गाथे ' तइ ' ' अह '

**तइए निसाइयारं, चिंतइ चरमंमि किं तव काहं ?। छम्मासा एगदिणाइहाणि, जा पोरिसि नमो वा १५२२**

**अहमवि मे खामेमी तुब्भेहिं समं अहं च वंदामि। आयरियसंतियं नित्थारगा उ गुरुणो अ वयणाइं १५२३**

तृतीये निशातीचारं चिन्तयति। चरिमे कायोत्सर्गे चिन्तयति किं तपः करिष्ये ? तत्र षण्मासाद्यं एकदिनान्तं तपश्चिन्तयति यथा—षण्मासतपः कुर्वे, न शक्नोमि, ततः एकाहोनं, तथाप्यशक्तः, ततः ५-४-३-२-१ मासा एकाहोनाश्चिन्त्याः। ततोऽर्द्धमासो यावच्चतुर्थं चिन्त्यं। तत आचाम्लं एकस्थानं यावन्नमस्कारसहितं वा। एवं यत्तपोऽशठः कर्त्तुं

क्षमस्तव् हृदये धरति । पच्छा वंदिता गुरुसक्खियं पवज्जंति । सव्वे नमोक्कारइत्ता समगं उट्ठेति वोसिरावेंति निसीयंति य, एवं पोरिसिमाइसु विभासा । ततस्तिस्रः स्तुतीः प्राग्वत् । परमल्पस्वरं वदन्ति यथा गृहकोकिलादिसत्त्वा न जाग्रति । तओ देवे वंदंति । ततो बहुवेलं संदिसाविंति । ततो मुहणंतगं पडिलेहित्ता रयहरणं पडिलेहिंति । पुणो उवहिं संदिसाविंति पडिलेहिंति य । तओ वसहिं पडिलेहिय कालं निवेएन्ति । अन्ये आहुः स्तुतेरनु कालप्रवेदना, एवं च पडिक्कमणकालं तुलेंति, जहा पडिक्कंताणं थुइअवसाणे चेव पडिलेहणवेला भवइ ॥ १५२२-२३ ॥ गतं रात्रिकं इदाणिं पक्खियं, जाहे देवसियं पडिक्कंता भवन्ति निवट्टगपडिक्कमणेणं ताहे गुरू निविसंति, तओ साहू वंदित्ता भणन्ति-' इच्छामि खमासमणो पक्खियं खामणगं 'ति । एत्थ पढमं खामणसुत्तं ' इच्छामि '

**इच्छामि खमासमणो! उवट्ठिओमि अब्भिंतरपक्खियं खामेउं, पन्नरसण्हं दिवसाणं पन्नरसण्हं राईणं जं किंचि अपत्तियं परपत्तियं भत्ते पाणे विणए वेयावच्चे आलावे संलावे उच्चासणे समासणे अंतरभासाए उवरिभासाए जं किंचि मज्झ विणयपरिहीणं सुहुमं वा बायरं वा तुब्भे जाणह अहं न याणामि तस्स मिच्छामि दुक्कडं ( सूत्रम् )**

हे क्षमाश्रमण ! श्राम्यतीति श्रमणः क्षमादिदशविधधर्मप्रधानः श्रमणः क्षमाश्रमणस्तस्याह्वानं, ओकारान्तत्वं प्राकृतत्वात्, अहं इच्छामि क्षमयितुं, न केवलं इच्छामि किन्तु अभ्युत्थितोऽस्मि आरब्धोऽस्मि । पक्षाभ्यन्तरभवमतीचारं

पाक्षिकं क्षमयितुं । 'पञ्चरमण्हं०' पञ्चदशानां दिवमानां पञ्चदशानां रात्रीणां अभ्यन्तरे इति शेषः । इह तिथयः पञ्चदशैव स्युः । तिथ्यर्द्धं पूर्वं दिनः पाश्चात्यं तु रात्रिः । एवं चतुर्मासिके चतुर्णां मासानां अष्टानां पक्षाणां विंशत्युत्तरशतदिनरात्रीणां अभ्यन्तरे इति, सांवत्सरे तु द्वादशानां मासानां चतुर्विंशतिपक्षाणां षष्ट्यधिकत्रिशतरात्रिदिनानां मध्ये इति शेषः । अत्र रात्रिशब्दस्यादानं रात्रौ प्रतिक्रमणकृतेः अन्यथा दिनस्यैव प्राधान्यं । तत्र त्रिंशत्तिथिभिर्मास इत्यादि । वार्षिकेऽधिकमासो मासनामादियुक्तया मध्य एवान्तर्भूतस्तेन ३६० तिथयः । अधिकमासक्षेपे तु ३९० तिथयः स्युः । परं मासस्याभिन्नत्वात्तिथयोऽप्यधिकमासस्याभिन्ना एव विवक्षिताः, तेन व्यवहाराद् द्वादश मासा उच्यन्ते । व्यवहारोऽपि मान्यः यतो व्यवहारादेव वन्दनादिव्यवहारोऽस्ति, अन्यथा शिष्योऽपि मुक्तौ गुरुरपि दुर्गतौ गच्छन् श्रूयते । 'जं किंचि, यत्किञ्चिन्मामान्यतोऽशेषं वा 'अपत्तियं'ति प्राकृतत्वादप्रीतिकं अप्रीतिमात्रकं 'परपत्तियं' प्रकृष्टमप्रीतिकं परप्रत्ययं वा परहेतुकं उपलक्षणादात्मप्रत्ययं वा मद्विषये मम जातं, भवतां वा मया जनितं इति शेषः, तस्य मिथ्या मे दुष्कृतं इति सम्बन्धः । तथा भक्ते भोजने पाने विनयेऽभ्युत्थानादिरूपे, वैयावृत्त्ये औषधपथ्यदानादिनोपष्टम्भकरणरूपे, आलापे सकृज्जल्पे, संलापे मिथःकथायां, उच्चासने समासने च, अन्तरभाषायां पूज्यस्य वदतोऽन्तरे वचने, एवं गुरुवाक्यानन्तरमेव तस्यैवार्थस्य भाषणं उपरिभाषायां. यत्किञ्चिन्ममत्तं सामान्यतो वा, मम विनये परिहीणं शिक्षारहितत्वं जातं सूक्ष्मं वा बादरं वा यूयं जानीथ यत्किञ्चिदहं पुनर्न जानामि मूढत्वात्तस्य दोषस्य मिथ्यादुःकृतं, इमं दोषं त्यजामीत्यर्थः । अत्र गुरुवाक् 'अहमवि खामेमि तुब्भे' अहमपि युष्मान् क्षमयामि एवं क्षामणानि कृत्वा जघन्येन त्रीन् उत्कृष्टं सर्वान् क्षमयेत् । ततो गुरुरुत्थायोर्ध्वस्थ एव क्षमयति ।

साधवोऽपि सर्वे यथाक्रमं नतशीर्षा वदन्ति 'दैवसिकं प्रतिक्रान्तं पाक्षिकं क्षमयामः पन्नरसण्हं दिवसाणं इत्यादि' एवं शेषा अपि यथारत्नाधिकं क्षमयन्ति ततो वन्दित्वा भणन्ति दैवसिकं प्रतिक्रान्तं पाक्षिकं प्रतिक्रमयत। ततो गुरुस्तत्सन्दिष्टो वा पाक्षिक-प्रतिक्रमणं कर्षति। सेसा जहासत्ति काउस्सग्गसंठिया धम्मज्झाणोवगया सुणन्ति। इहाद्यान्त्यार्हत्साधुभिः पाक्षिकादिषु विशेषेण प्रतिक्रन्तव्यं, यथा-पृथ्वीपुरे जितारिसुप्रियाभूर्नन्दनः सुतोऽभूद्राज्ञा माऽस्य रोगो भावीत्यनागतचिकित्सायै वैद्यानूचे। तेष्वेकोऽवग् मदौषधं सन्तं रोगं हन्ति नीरोगं तु हन्ति। द्वितीयोऽवग् मदगदं रोगं हन्ति नीरोगे तु साम्यकृत्। तृतीयो मदौषधं रोगं निर्म्मूलं हन्ति नीरुजस्तु बलवर्णरूपादि वर्द्धयेचतस्तेन सुतश्चिकित्सितः। एवमिदमावश्यकं सत्पापं हन्ति, अपापस्य तु गुणकृत्, एवमावश्यकयुक्तिः। अथ पाक्षिकचूर्णिः-इह किर साहुणो कयसयलवेयालियकरणिज्जा सुरत्थमणवेलाए सामाइयाइसुत्तं कढित्ता दिवसाइयारचिंतणत्थं काउस्सग्गं करन्ति, तत्थ य गोसमुहणंतगाइयं अहिगयचेट्ठाकाउस्सग्गपज्जवसाणं दिवसाइयं चिन्तन्ति। नमोक्कारेण पारित्ता चउवीसत्थयं पढन्ति। तओ संडासगे पडिलेहित्ता उक्कडुयनिविट्ठा ससीसोवरियं कायं पमज्जन्ति। तओ परेण विणएण तिगरणविसुद्धं किइकम्मं करेन्ति एवं वंदित्ता उत्थाय उभयकरगहियरओहरणा अद्धावणयकाया पुव्वपरिचिंतिए दोसे जहारायणियाए संजयभासाए जहा गुरु सुणंति तहा पवड्ढमाणसंवेगा मायामयविप्पमुक्का (अप्पणो विसुद्धिनिमित्तं) आलोएन्ति, जइ नत्थि अइयारो ताहे सीसेण संदिसहत्ति भणिए गुरुहिं पडिक्कमहत्ति भणियव्वं। अह अइयारो तो पायच्छित्तं पुरिमड्ढाई दिंति। गुरुदिन्नपडिवन्नपायच्छित्ता विहिणा निसीइत्ता समभावट्ठिया सम्ममुवउत्ता अणवत्थपसंगभीया पए पए संवेगमावज्जमाणा दंसमसगाइ देहे अगणेमाणा पयंपएण सामाइयमाइयं पडिक्कमणसुत्तं

करेंति जा तस्स सम्मत्तत्ति पदं, तओ उट्ठिया अब्भुट्ठिओमि ( आराहणाए इच्चाइयं जाव वन्दामि ) जिणे चउवीसंति भणित्ता गुरू निविसन्ति । तओ साहू वंदित्ता भणन्ति 'इच्छामि खमासमणो उवट्ठिओमि अब्भितरपक्खियं खामेउं' गुरू भणइ 'अहमवि खामेमि तुब्भेत्ति' ताहे साहू भणंति 'पन्नरसण्हं दिव०' एवं जहण्णेण तिन्नि वा पंच वा, चउमासिए संवच्छरिएसुं सत्त, उक्कोसेणं तिसु ठाणेसु सव्वेवि खामिज्जन्ति । एयं तु संबुद्धाखामणं रायणियस्स भणियं । संबुद्धो वृद्धस्य स्वयमेव लघुः क्षमयतीत्यर्थः । तओ कयकिइकम्मा उट्ठिया पत्तेयखामणं करेंति । तत्थ गुरू अन्नो वा जेट्ठो पढमं उट्ठेऊण कणिट्ठं भणइ 'अमुगनामधेया अब्भितरपक्खियं खामेमो पन्नरसण्हं दिव०'। इमोवि भूनिहियजाणुसिरो कयंजली भणइ 'भगवं अहमवि खामेमि तुब्भे पन्नरसण्हं०'। किं गुरू उट्ठित्ता खामेइ ? उच्यते सव्वजइजाणावणत्थं जहा एस महप्पा मुत्तमहंकारं जहा दव्वओ अब्भुट्ठिओ खामेइ, एवं भावओवि समुट्ठिओ खामेइ । किं च जे गुरुगम्भीराओ उत्तमतमा नज्जाऽएहिं मा ते चिंतिज्जा एस नीयतरो अम्हे उत्तमतमत्ति काउं नयसिरो खामेइत्ति, एवं सेसावि । ताहे सव्वे कयकिइकम्मा भणन्ति देवसियं आलोएउं पडिक्कंता पक्खियं पडिक्कमामो ? गुरू भणइ–सम्मं पडिक्कमहत्ति ।

अथ पाक्षिकसूत्रं 'तित्थंकरे'

तित्थंकरे अ तित्थे, अतित्थसिद्धे अ तित्थसिद्धे य । सिद्धे जिणे रिसी, महरिसी य नाणं च वंदामि ॥ १ ॥ जे अ इमं गुणरयणसायरमविराहिऊण तिण्णसंसारा । ते मंगलं करित्ता, अहमवि

आराहणाभिमुहो ॥ २ ॥

तीर्थकरान्, तीर्थे इति गणधरसंघौ, तथाऽतीर्थसिद्धांश्च मरुदेव्यादीन्, तीर्थस्थापनायाः प्राक् सिद्धान्, तीर्थे सिद्धान् तीर्थे उत्पन्ने सति सिद्धान्, अन्यांश्चाऽप्यनेकभेदान् सिद्धांश्च, जिनान् सदेहकेवलिनः, ऋषीन् जिनकल्पिकस्थविरकल्पिकादीन् सामान्यान्, महर्षीन् लब्धिप्राप्तान्, ज्ञानमिति पञ्चज्ञानानि, चशब्दाद्दर्शनचारित्रे च वन्दे, चशब्दः समुच्चये ॥१॥ तथा 'जे अ' ये च एवार्थे, इमं वक्ष्यमाणं, गुणाः साधुगुणास्त एव रत्नानि सर्वोत्तमगुणा इत्यर्थस्तेषां प्राचुर्यात् सागरमिव सागरं अविराध्य तीर्णसंसारा जाताः तान् मङ्गलं कृत्वा शुभमनोगीःकायगोचरमानीयाहमपि मवोत्तारायाराधनाभिमुखोऽस्मि ॥२॥ तथा 'मम'

**मम मंगलमरिहंता, सिद्धा साहू सुयं च धम्मो अ । खंती गुत्ती मुत्ती, अज्जवया मद्दवं चेव ॥ ३ ॥**

अर्हदाद्याः, धर्मश्चारित्रधर्म्मः अहिंसादीनि च मङ्गलं कुर्युः । गुप्तिः संलीनता, मुक्तिर्निर्लोभताऽऽर्जवता निर्मायता । अर्हदादीनां पूर्वगाथोक्तावपि प्राक् प्रणामायात्र तु मङ्गलाधिकारे भणनान्न दोषः ॥ ३ ॥ अथाराधनायै महाव्रतानि वक्तुमना आह 'लोगं'

**लोगंमि संजया जं, करिंति परमरिसिदेसिअमुआरं। अहमवि उवट्ठिओ तं महव्वयउच्चारणं काउं ॥४॥**

लोके तिर्यग्लोके संयता ऋषयो यां परमर्षिभिर्गणधरादिभिर्दिष्टां उक्तां उदारां भव्यां महाव्रतोच्चारणां सामान्यत उभयसन्ध्यं विशेषतः पक्षान्तादिषु कुर्वन्ति, अहमपि तां कर्त्तुं उपस्थितः आदृतः ॥ ४ ॥ 'से किं'

से किं तं महव्वयउच्चारणा ? महव्वयउच्चारणा पंचाविहा पण्णत्ता राइभोअणवेरमणछट्ठा, तंजहा—सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं १ सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं २ सव्वाओ अदिन्ना-दाणाओ वेरमणं ३ सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं ४ सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं ५ सव्वाओ राइ-भोअणाओ वेरमणं ६ ।

तत्थ खलु पढमे भंते ! महव्वए पाणाइवायाओ वेरमणं, सव्वं भंते ! पाणाइवायं पच्चक्खामि, से सुहुमं वा बायरं वा तसं वा थावरं वा नेव सयं पाणे अइवाएज्जा नेवन्नेहिं पाणे अइवायाविज्जा पाणे अइवायंते वि अन्नं न समणुजाणामि जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि, तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि । से पाणाइवाए चउव्विहे पन्नत्ते, तंजहा—दव्वओ खित्तओ कालओ भावओ, दव्वओ णं पाणाइवाए छसु जीवनिकाएसु, खित्तओ णं पाणाइवाए सव्वलोए, कालओ णं पाणाइवाए दिआ वा राओ वा, भावओ णं पाणाइवाए रागेण वा दोसेण वा, जं मए इमस्स धम्मस्स केवलि-

पण्णत्तस्स अहिंसालक्खणस्स सच्चाहिट्ठियस्स विणयमूलस्स खंतिप्पहाणस्स अहिरण्णसोवन्नियस्स उवसमपभवस्स नवबंभचेरगुत्तस्स अपयमाणस्स भिक्खावित्तियस्स कुक्खीसंबलस्स निरग्गिसरणस्स संपक्खालियस्स चत्तदोसस्स गुणग्गाहियस्स निव्वियारस्स निव्वित्तिलक्खणस्स पंचमहव्वयजुत्तस्स असंनिहिसंचयस्स अविसंवाइअस्स संसारपारगामिअस्स निव्वाणगमणपज्जवसाणफलस्स पुव्विं अन्नाणयाए असवणयाए अबोहीए अणभिगमेणं अभिगमेण वा पमाएणं रागदोसपडिबद्धयाए बालयाए मोहयाए मंदयाए किड्डयाए तिगारवगुरुयाए चउक्कसाओवगएणं पंचिंदिओवसट्टेणं पडिपुण्णभारियाए सायासोक्खमणुपालयंतेणं इहं वा भवे अन्नेसु वा भवग्गहणेसु पाणाइवाओ कओ वा काराविओ वा कीरंतो वा परेहिं समणुन्नाओ तं निंदामि गरिहामि, तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं अईअं निंदामि पडुपन्नं संवरेमि अणागयं पच्चक्खामि सव्वं पाणाइवायं जावज्जीवाए, अणिस्सिओहं नेव सयं पाणे अइवाएज्जा नेवन्नेहिं पाणे अइवायावेज्जा पाणे अइवा-यंतेवि अन्ने न समणुजाणिज्जा, तंजहा—अरिहंतसक्खियं सिद्धसक्खियं साहुसक्खियं देवक्खियं

अप्पसाविखअं, एवं भवइ भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे दिआ वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा, एस खलु पाणाइवायस्स वेरमणे हिए सुहे खमे निस्सेसिए आणुगामिए[ पारगामिए ], सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूयाणं सव्वेसिं जीवाणं सव्वेसिं सत्ताणं अदुक्खणयाए असोयणयाए अजूरणयाए अतिप्पणयाए अपीडणयाए अपरिआवणयाए अणुद्दवणयाए महत्थे महागुणे महाणुभावे महापुरिसाणुचिन्ने परमरिसिदेसिए पसत्थे, तं दुक्खक्खयाए कम्मक्खयाए मोक्खयाए बोहिलाभाए संसारुत्तारणाएत्तिकट्टु उवसंपज्जित्ता णं विहरामि । पढमे भंते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं ॥ १ ॥

'ते' अथ किं तन्महाव्रतोच्चारणाख्यं वस्तु ? इतिविनीतमध्यस्थसद्बुद्धिशिष्यप्रश्ने गुरुरादराय शिष्यवचनं उच्चार्याह-महाव्रतोच्चारणा पञ्चविधा प्रज्ञप्ता आद्यान्त्यार्हद्भ्यां, रात्रिभोजनविरमणं षष्ठं यस्यां सा रात्रिभोजनविरमणषष्ठी । तद्यथा तन्महाव्रतोच्चारणं यथा—सर्वस्मात् प्राणातिपाताद्विरमणं, सर्वस्मान्मृषावादाद्विरमणं, सर्वस्माददत्तादानाद्विरमणं, सर्वस्मान्मैथुनाद्विरमणं, सर्वस्मात्परिग्रहाद्विरमणं, सर्वस्माद्रात्रिभोजनाद्विरमणं । तत्र खलु हे भदंत ! हे गुरो ! प्रथमे महाव्रते प्राणातिपाताद्विरमणं निवर्त्तनं जिनैरुक्तं, ततो मया ग्राह्यमिति ध्यात्वा हे भदंत ! सर्वं प्राणातिपातं प्राणा इन्द्रियोच्छ्वासाद्यास्तेषामतिपातं

जीवाद्वियोजनं तं प्रत्याख्यामि त्यजामि । 'से' यथा सूक्ष्मं लघु बादरं स्थूलं वा, निश्चये त्रसं वा स्थावरं वा, जीवं आश्रित्य सूक्ष्मस्त्रसः कुन्थ्वादिः स्थावरो वनस्पत्यादिः, बादरस्त्रसो गवादिः स्थावरः पृथिव्यादिः, प्राणान् इन्द्रियादीन् स्वयं नैवातिपातये न हन्मि नैवान्यैः प्राणानतिपातये घातये । प्राणानतिपातयतो मतोऽपिशब्दादन्यान् घातयतो हिंसायां अनुज्ञापयतोऽन्यान्न समनुजानेऽनुज्ञां न ददे । यावज्जीवया आयुष्कावधिना परतोऽचिन्तनात्, त्रिविधं त्रिप्रकारं प्राणातिपातं करोति कारयतीत्यादिरूपं त्रिविधेन मनसा वाचेत्यादिकरणेन विरमामि, यथा 'मणेणं०' मनसा हिंसां न कुर्वे वाचा न कुर्वे कायेन न कुर्वे । तथा मनसा न कारयामि वाचा न कारयामि कायेन न कारयामि । मनसाऽन्यं हिंसां कुर्वन्तं अपिशब्दादन्यं कारयन्तं अनुजानन्तमपि न समनुजानामि । एवं वाचा, एवं कायेन । तत्र प्राक् 'नेव सयं पाणे अइवाएज्जा इत्याद्युक्तेऽपि यत् मणेणं० न करोमीत्यादिरु(द्यु)क्तिस्तच्चित्तशुद्ध्यै करणपूर्वकयोगनिषेधाख्यानं व्यक्त्या । हे भदंत ! तस्यातीतकालकृतप्राणातिपातस्य प्रतिक्रमामि निवर्त्ते निन्दामि स्वसाक्षि, गर्हामि गुरोः पुरः, आत्मानं हिंसाकारिणं व्युत्सृजामि त्यजामि । अत्र यथा न करोमि० इत्यादि हिंसाविषयं उक्तं तथाऽग्रे शेषव्रतेषु स्वस्वदोषनिषेधो वाच्यः, यथा मृषावादे न करेमि न कारवेमि इत्यादौ मृषावादं मनसा न करोमि वाचा न करोमि कायेन न करोमीत्यादि स्वयं ज्ञेयम् । 'से पाणाइवाए० वोसिरामि' स प्राणातिपातश्चतुर्विधः प्रज्ञप्तः सर्वजिनैरुक्तः, तद्यथा–तच्चतुर्विधत्वं यथा स्यात्तथाह–द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतः भावतः स्यात् । तत्र द्रव्यतः प्राणातिपातः जीवद्रव्यानाश्रित्य ज्ञेयः षट्सु जीवनिकायेषु स्यादिति । क्षेत्रतः सर्वलोकरूपे चतुर्दशरज्जुमाने हिंसा स्यात्, यतो जन्तुः सर्वत्रावतरन् जन्तून् हन्ति सर्वलोके च जीवाः सन्ति । कालतो दिवा रात्रौ वा । भावतो रागेण शरीरविषया-

प्राणातिपातः स्यादेवं चतुर्द्धा। तथा द्रव्यतो हिंसा
दीनामिच्छया, द्वेषेण अप्रीतया, मायालोभौ रागः क्रोधमानौ द्वेषः, भावतो हिंसा न द्रव्यात् रौद्रध्यायिनोऽयतस्य,
भावतश्च हिंसकानां, द्रव्यतो हिंसा न भावात् अप्रमत्तपेर्गत्तादौ, भावतो हिंसा न द्रव्यात् रौद्रध्यायिनोऽयतस्य,
भावतश्च हिंसकानां, द्रव्यतो हिंसा न भावात् अप्रमत्तस्थितस्य ४ एवं चतुर्भङ्गी ज्ञेया। तत्र द्रव्यतो बाह्यतः भावतस्त्वभ्यन्तर इत्यर्थः। तथा
न द्रव्यतः न भावतः अप्रमत्तस्थितस्य ४ एवं चतुर्भङ्गी ज्ञेया। तत्र द्रव्यतो बाह्यतः
'जं पि य मए०' (जं मए०) यदपि मयाऽस्य केवलिभिः प्रज्ञप्तस्य १ अहिंसालक्षणस्य अहिंसारूपस्य २ सत्येनाधिष्ठि-
तस्य ३, विनयमूलस्य ४, क्षान्तिप्रधानस्य ५, हिरण्यं अघटितं सुवर्णं रूप्यं च, सुवर्णं घटितं, ताभ्यां रहितस्याहिरण्यसौवर्णि-
कस्य, सुवर्णमेव सौवर्णिकं स्वार्थे ठकण् ६, उपशमात् इन्द्रियमनोनिग्रहात् प्रभवस्य उत्पद्यमानस्य ७, नवविधब्रह्मचर्येण
गुप्तस्य गुप्तेन्द्रियस्य ८, अपचमानस्य पचनरहितस्य ९, भिक्षावृत्तेः भिक्षया वृत्तिर्धर्म्महेतुदेहपालनं तत्रायुक्तस्य १०, कुक्षौ
उदरे एव शंबलं यत्र संचयरहितत्वेन तस्य कुक्षिशंबलस्य ११, निरग्निशरणस्य निर्गतोऽग्निः शरणं गृहं च यस्मात् स
निरग्निशरणः तस्य १२, स्वभावनिर्म्मलत्वेन सम्प्रक्षालितस्य चोक्षस्य १३, त्यक्तमिथ्यात्वादिदोषस्य १४, गुणग्राहिणः
१५, निर्विकारस्य विषयोन्मादरहितस्य १६, निवृत्तिरेव लक्षणं रूपं यस्य जिनधर्म्मस्य दयाविरतिरूपत्वात् १७, पञ्चमहाव्रत-
युक्तस्य १८, असंनिधिसंचयस्य संनिधिर्निशयाहारस्थापनं तस्य संचयेन रहितस्य १९, अविसंवादिनः विसंवादरहितस्य २०,
संसारपारगामिनः २१, निर्वाणगमनपर्यवसानफलस्य निर्वाणगमनमेव पर्यवसाने सर्वोत्कृष्टसुकृतस्यान्ते फलं यस्य तस्य २२,
एवं द्वाविंशतिविशेषणविशिष्टधर्मस्येति विशेष्यपदं इमस्स धम्मस्स सम्बन्धे ज्ञेयं। ततो धर्म्मस्य 'पुव्विं अन्नाण०' पूर्वम-
ज्ञानतया १ अश्रवणतया २ अबोध्याऽसम्यग्रुच्या ३ गुरोर्व्याख्यातोऽपि अनभिगमेन तत्त्वानधिगमेन ४ एवं चतुर्भिः

प्रकारैः, तथाऽभिगमेन वा धर्म्मस्याधिगमेनाऽपि वा सता प्रमादेन यतनाऽनुपक्रमेण १, रागद्वेषप्रतिबद्धतया २, बालतया शिशुतया ३, मोहतया शरीरद्रव्यादिमोहेन ४, मन्दतया मूर्खतया ५, क्रीडतया केलिप्रियतया ६, ऋद्धिरससुखरूपैस्त्रिभिर्गौरवैर्गुरुतया सगर्वतया, तत्र गौरवं ऋद्ध्यादीनां प्रार्थनं प्राप्तौ च गर्वः ७, चतुर्भिः कषायैरुपगतेन युक्तेन ८, पञ्चेन्द्रियोपवशार्त्तेन पञ्चेन्द्रियाणां उप सामीप्ये वशेन आयत्ततया आर्त्तेन पीडितेन ९, प्रतिपूर्णभारितया भारः कर्म्मबलं तदस्यास्तीति भारी तस्य भावेन १०, सातसुखं संसारसुखं अनुपालयताऽनुभवता ११, एवमेकादशकारणैः इहभवेऽन्येषु वा भवग्रहणेषु प्राणातिपातः कृतो वा कारितो वा परैः क्रियमाणो वा सम्यगनुज्ञातः। तं त्रिविधं प्राणातिपातं त्रिविधेन करणेन मनआदिना निन्दामि गर्हामि। अत्र 'अन्नाणयाए' मुख्याश्चत्वारो हिंसामृषावादादीनां हेतवः, प्रमादादीन्येकादश च कारणानि। एवमग्रेऽपि। तथा अतीतं प्राणातिपातं निन्दामि, प्रत्युत्पन्नं संवृणोमि अकरणेन, अनागतं प्रत्याख्यामि निषेधेन, सर्वं त्रिकालप्राणातिपातं निषिध्य, यावज्जीवयाऽनिश्रितः इहलोकाद्याशंसामुक्तोऽहं। क्वाऽप्यत्र 'नेव सयं पाणे अइवाइज्जे'त्यादि पाठोऽपि। कतिसाक्षिकं व्रतं प्रपन्न इत्याह, तद्यथा–अर्हत्साक्षिकं, सिद्धसाक्षिकं, साधुसाक्षिकं, देवा भवनपत्याद्याश्चैत्याद्यधिष्ठायिनोऽन्ये वा प्रयुक्तावधयो यत्र तद्देवसाक्षिकं यतो 'विरइपडिवत्तिकाले चिइवंदणोवयारेण अवस्स महासन्निहिया देवया सन्निहाणंमि भवन्ति, अउ देवसक्खियं' इति चूर्णिः। तथा आत्मसाक्षिकं आत्मनः शुद्धपरिणामात्प्रत्यक्षं। तथा एवं भवति भिक्षुः भिक्षुणी वा। संयतः सप्तदशभेदसंयमवान्, विरतो विरतिमान्, प्रतिहतं अल्पबलं कृतं, प्रत्याख्यातं हेत्वभावेन वृद्ध्यभावान्निषिद्धं पापकर्म्म येन स संयतविरतप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्म्मा, दिवा रात्रौ वा, एको वा पर्षद्गतः साधुः सभागतो वा, सुप्तो वा निशो द्वौ यामौ

आगुरा, एवं भवेत् प्राणातिपातनिवृत्तिमान्। 'एस०' एतत् खलु प्राणातिपातविरमणं हितं, हितकारि पथ्यवत्। सुखं सुखकारि क्षीणाम्युपानवत्, क्षमं युक्तं, निःश्रेयसिकं मुक्तिदं, अनुगामिकं अनुगमनशीलं भवान्तरे सुखदानात्, पारगामिकं संसारपारगामिकं, सर्वेषां प्राणानां, प्राणा द्वित्रिचतुरिन्द्रियाः, भूताः वृक्षाः, जीवाः पञ्चेन्द्रियाः, सत्त्वाः शेषात्मानस्तेषामदुःखतया, दुःखस्याकरणेन, अशोचनया शोकानुत्पादनेन। अजूरणया भारवाहनादिना देहजीर्णताऽनुत्पादेन, अतापनया स्वेदलालाऽश्रुपातकारणावर्जनेन, अपीडनयाऽपरितापनया, पीडा पदाक्रमणादिना देहपीडा, परितापस्तापादिसहनं मनःसन्तापनं वा। अनुपद्रावणया उपद्रवाकरणेन, उपद्रवो हिंसा उत्त्रासनं वा। ततोऽयमर्थः–सर्वप्राणादीनां अदुःखनादिना इदं महाव्रतं स्यात्। व्रतमिदं 'महत्थे' महार्थं महाफलं, महागुणं महागुणैः क्षमादिभिर्युक्तं, महानुभावं, महापुरुषैरर्हदादिभिरनुचीर्णं पालितं, परमर्षिभिर्दिष्टं उक्तं, प्रशस्तं भव्यं, तद् दुःखक्षयाय, कर्मक्षयाय, मोक्षतायै मोक्षलक्ष्म्यै, बोधिलाभाय सम्यक्त्वशुद्धिकरणेन, भवान्तरे च सम्यक्त्वलाभकृत्या तद्भव एव वा बोधिलाभाय, संसारोत्तारणाय भवत्विति कृत्वा, उपसम्पद्य स्वीकृत्य विहरामि, मासकल्पादिनान्यत्रव्रतप्रपत्तेस्थैर्यार्थात्। अथ निगमयति 'पढमे भंते' हे भदंत! प्रथमे महाव्रते उप सामीप्येन तत्परिणामापत्त्या स्थितोऽस्मि, इतः सर्वस्मात्प्राणातिपाताद्विरमणं ममाऽभूत्। अत्राऽपि भदंतपदेन, एवं आदिमध्यान्तेषूपन्यस्तेन गुर्वपृच्छया किञ्चिन्न कार्यं, कृतं च तस्मै ज्ञाप्यं। एवं आराधकः स्यादित्याह–उक्तमाद्यं व्रतं ॥ १ ॥ अथ द्वितीयमाह 'अहावरे दोच्चे०'

अहावरे दोच्चे भंते ! महव्वए मुसावायाओ वेरमणं, सव्वं भंते ! मुसावायं पच्चक्खामि, से

कोहा वा १ लोहा वा २ भया वा ३ हासा वा ४ नेव सयं मुसं वएज्जा नेवन्नेहिं मुसं वायावेज्जा मुसं वयंतेवि अन्नं न समणुजाणामि, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं, मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि, तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि। से मुसावाए चउव्विहे पन्नत्ते, तंजहा—दव्वओ १ खेत्तओ २ कालओ ३ भावओ ४, दव्वओ णं मुसावाए सव्वदव्वेसु, खित्तओ णं मुसावाए लोए वा अलोए वा, कालओ णं मुसावाए दिआ वा राओ वा, भावओ णं मुसावाए रागेण वा दोसेण वा, जं मए इमस्स धम्मस्स केवलिपण्णत्तस्स अहिंसालक्खणस्स सच्चाहिट्ठियस्स विणयमूलस्स खंतिप्पहाणस्स अहिरण्णसोवन्नियस्स उवसमपभवस्स नवबंभचेरगुत्तस्स अपयमाणस्स भिक्खावित्तियस्स कुक्खीसंबलस्स निरग्गिसरणस्स संपक्खालियस्स चत्तदोसस्स गुणग्गाहियस्स निव्वियारस्स निव्वित्तिलक्खणस्स पंचमहव्वयजुत्तस्स असंनिहिसंचयस्स अविसंवाइअस्स संसारपारगामियस्स निव्वाणगमणपज्जवसाणफलस्स पुव्विं अन्नाणयाए असवणयाए अबोहीए अणाभिगमेणं

मोहयाए मंदयाए किड्डयाए तिगारव-अभिगमेण वा पमाएणं रागदोसपडिबद्धयाए बालयाए मोहयाए मंदयाए किड्डयाए तिगारवगुरुयाए चउक्कसाओवगएणं पंचिंदिओवसट्टेणं पडिपुन्नभारियाए सायासोक्खमणुपालयंतेणं इहं वा भवे अन्नेसु वा भवग्गहणेसु मुसावाओ भासिओ वा भासाविओ वा भासिज्जंतो वा परेहिं समणुन्नाओ तं निंदामि गरिहामि, तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए कायेणं अईअं निंदामि पडुपन्नं संवरेमि अणागयं पच्चक्खामि सव्वं मुसावायं जावज्जीवाए, अणिस्सिओहं नेव सयं मुसं वएज्जा नेवन्नेहिं मुसं वायावेज्जा मुसं वयंतेवि अन्ने न समणुजाणिज्जा। तंजहा—अरिहंतसक्खिअं सिद्धसक्खिअं साहुसक्खिअं देवसक्खिअं अप्पसक्खिअं, एवं भवइ भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे दिआ राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा, एस खलु मुसावायस्स वेरमणे हिए सुहे खमे निस्सेसिए आणुगामिए [ पारगामिए ] सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूयाणं सव्वेसिं जीवाणं सव्वेसिं सत्ताणं अदुक्खणयाए असोअणयाए अजूरणयाए अतिप्पणयाए अपीडणयाए अपरिआवणयाए, अणुद्दवणयाए महत्थे महागुणे महा-

णुभावे महापुरिसाणुचिन्ने परमरिसिदेसिए पसत्थे तं दुक्खक्खयाए कम्मक्खयाए मोक्खयाए बोहिलाभाए संसारुत्तारणाएत्तिकट्टु उवसंपज्जित्ता णं विहरामि। दोच्चे भंते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं ॥ २ ॥

अथाऽपरस्मिन् द्वितीये हे भदंत! महाव्रते सर्वस्मान्मृषावादात् असत्यवादाद्विरमणं करोमि । सर्वं भदंत! मृषावादं प्रत्याख्यामि यथा क्रोधाद्वा लोभाद्वा हास्याद्वा, नैव स्वयं मृषां वदामि, प्राकृतत्वाद्विभक्तिव्यत्ययः, नैवान्यैर्मृषां वादये, मृषां वदतोऽप्यन्यान्न समनुजानामि । तथा यावज्जीवं मृषावादं त्रिविधं वदनवादनानुमतिरूपं, त्रिविधेन करणेन न करोमीत्यादि । तस्यातीतकालमृषावादस्य प्रतिक्रमामि, मिथ्यादुःकृतेन आत्मानं मृषाभाषिणं व्युत्सृजामि । मृषावादश्चतुर्विधः प्रज्ञप्तः तद्यथा तन्मृषावादप्ररूपणं यथा स्यात्तथा वक्ष्ये द्रव्यत इत्यादि । द्रव्यतो मृषावादः सर्वद्रव्येष्विति षड्द्रव्याणामलीकस्वरूपादिभाषणेन । क्षेत्रतः सर्वलोकेऽलोके च विषये वितथस्वरूपोक्त्या । कालभावौ स्पष्टौ । रागेण मृषा यथा स्वः सदोषोऽप्यदोषः । द्वेषेण परोऽदोषोऽपि दोषीत्युच्यते । तथाऽन्यथा चतुर्द्धा मृषा यथा सन्निह्नवः १ असत्थापनं २ अन्यार्थाख्यानं ३ गर्हा ४ । तत्र सतां निह्नवः यथा–नास्त्यात्मा १ । असतां स्थापनं अणुमात्र आत्मा २ । अन्यार्थाख्यानं गौरश्वः ३ । गर्हा इहलोके गर्हिते काणे काणस्त्वमिति, परलोकगर्हिते क्षेत्रं कृषेत्याद्या । तथा सत्ये चतुर्भङ्गी द्रव्यतो मृषा न भावात् १, भावतो मृषा न द्रव्यात् २, द्रव्यभावाभ्यां मृषा ३, न द्रव्यान्न भावान्मृषा ४, तत्राद्यो भङ्गो दययाऽसत्यं वदतः १, द्वितीयो भङ्गो मिथ्यां वक्ष्यामीति

ध्याना मन्यं वदतः २, तृतीयो ज्ञात्वाऽसत्यं वदतः ३, तुर्यो मनःशुद्ध्यासत्यं वदतः ४। 'जं मए' इत्यादि प्राग्वत्। धर्मस्य अज्ञाततयाऽश्रवणतया मृषावादः स्वयं भाषितोऽन्यैर्भाषितो परैर्भाष्यमाणो वा समनुज्ञात इत्यादिमवं मृषावादाभिलापेन पूर्ववद् व्याख्येयं। तत्र मृषावादादपि परस्य दुःखशोकजीर्णतादयो भावाः स्युस्तत आह–'अदुक्खणयाए' इत्यादि। एवमदत्तादानादिष्वपि स्वधिया ज्ञेयं, यतोऽदत्तादानात् अदत्तादानं वा कुर्वतो दुःखादि जायते। अथ 'दोच्चे भंते महव्व०' उपस्थितोऽस्मि आदतोऽस्मि मृषावादाद्विरमणं कृतं। २। 'अहावरे तच्चे'

अहावरे तच्चे भंते! महव्वए अदिन्नादाणाओ वेरमणं। सवं भंते! अदिन्नादाणं पच्चक्खामि। से गामे वा नगरे वा अरण्णे वा अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा नेव सयं अदिन्नं गिण्हिज्जा नेवन्नेहिं अदिन्नं गिण्हाविज्जा अदिन्नं गिण्हंते वि अन्ने न समणुजाणामि जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि। से अदिन्नादाणे चउविहे पन्नत्ते, तंजहा–दव्वओ खित्तओ कालओ भावओ। दव्वओ णं गहणधारणिज्जेसु दव्वेसु, खित्तओ णं अदिन्नादाणे गामे वा नगरे वा अरण्णे वा, कालओ णं

अदिन्नादाणे दिआ वा राओ वा, भावओ णं अदिन्नादाणे रागेण वा दोसेण वा, जं मए इमस्स धम्मस्स केवलिपन्नत्तस्स अहिंसालक्खणस्स सच्चाहिट्ठिअस्स विणयमूलस्स खंतिप्पहाणस्स अहिरण्णसोवण्णियस्स उवसमपभवस्स नवबंभचेरगुत्तस्स अपयमाणस्स भिक्खावित्तियस्स कुक्खीसंबलस्स निरग्गिसरणस्स संपक्खालिअस्स चत्तदोसस्स गुणग्गाहिअस्स निविआरस्स निव्वित्तिलक्खणस्स पंचमहव्वयजुत्तस्स असंनिहिसंचयस्स अविसंवाइयस्स संसारपारगामियस्स निव्वाणगमणपज्जवसाणफलस्स पुव्विं अन्नाणयाए असवणयाए अबोहीए अणभिगमेणं अभिगमेण वा पमाएणं रागदोसपडिबद्धयाए बालयाए मोहयाए मंदयाए किड्डयाए तिगारवगुरुयाए चउक्कसाओवगएणं पंचिंदिओवसट्टेणं पडिपुण्णभारियाए सायासोक्खमणुपालयंतेणं इहे वा भवे अन्नेसु वा भवग्गहणेसु अदिन्नादाणं गहिअं वा गाहाविअं वा घिप्पंतं वा परेहिं समणुन्नायं तं निंदामि गरिहामि तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं अईअं निंदामि पडुपन्नं संवरेमि अणागयं पच्चक्खामि सव्वं अदिन्नादाणं जावज्जीवाए अणिस्सिओहं नेव सयं अदिन्नं गिण्हिज्जा नेवन्नेहिं

अदिन्नं गिण्हाविज्जा अदिण्णं गिण्हंते वि अन्ने न समणुजाणिज्जा तंजहा—अरिहंतसक्खिअं सिद्धसक्खिअं साहुसक्खिअं देवसक्खिअं अप्पसक्खिअं एवं भवइ भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजय-विरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे दिआ वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा एस खलु अदिन्नादाणस्स वेरमणे हिए सुहे खमे निस्सेसिए आणुगामिए [पारगामिए] सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूयाणं सव्वेसिं जीवाणं सव्वेसिं सत्ताणं अदुक्खणयाए असोयणया अजूरणयाए अतिप्पणयाए अपीडणयाए अपरिआवणयाए अणुद्दवणयाए महत्थे महागुणे महाणुभावे महा-पुरिसाणुचिण्णे परमरिसिदेसिए पसत्थे तं दुक्खक्खयाए कम्मक्खयाए मोक्खयाए बोहि-लाभाए संसारुत्तारणाएत्तिकट्टु उवसंपज्जिता णं विहरामि । तच्चे भंते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं ॥ ३ ॥

अथाऽपरस्मिन् तृतीये महाव्रते सर्व्वस्मादद्त्तादानाद्विरमणं अस्तु यथा ग्रामे वा नगरे वाऽरण्ये वा, अल्पं वा मूल्ये-नाल्पं तृणादि, बहु वा बहुमूल्यं रत्नादि । अणु लघुप्रमाणं वज्रादि, स्थूलं असारं रूतादि । यद्वाल्पं स्तोकं बहु धनं अणु सूक्ष्मं स्थूलं प्रोढं, किं तत् ? चित्तमत् सचितं, अचित्तमत् अचित्तं, वाशब्दा अप्यर्थाः । नैव स्वयं अदत्तं गृह्णीयान्नैवान्यैरदत्तं

ग्राहये, अदत्तं गृह्णतोऽप्यन्यान्न समनुजानामि । यावज्जीवतया त्रिविधं अदत्तादानं कृतकारितानुमतिरूपं त्रिविधेन करणेन त्यजामि यथा 'मणेणं' इत्यादि । तस्य भदंत ! अतीतादत्तादानस्य प्रतिक्रमामि० । अदत्तादानं चतुर्द्धा प्रज्ञप्तं–द्रव्यतो ग्रहणधारणीयेष्विति ग्रहणार्हेषु धरणार्हेषु च द्रव्येषु वस्त्रादिषु, क्षेत्रतो ग्रामेषु वा, कालभावौ स्पष्टौ । अत्र चतुर्भङ्गी द्रव्यतो भावतोऽदत्तादानं स्पष्टं १, द्रव्यतोऽदत्तादानं न भावात् अरक्तद्विष्टार्थे अनुज्ञाप्य तृणादेर्ग्रहणे २, भावतोऽदत्तादानं न द्रव्यतः दुष्टात्मनः साधोः ३, न द्रव्यतो न भावतः स्पष्टं ४ । 'जं मए' इत्यादि । अदत्तादानं गृहीतं वाऽन्यैर्ग्राहीतं वा गृह्यमाणं परैः समनुज्ञातं तन्निन्दामि० सर्वं प्राग्वत् । एवं भदंत ! तृतीये महाव्रते अदत्तादानाद्विरमणं कृतं । ३ ।

अहावरे चउत्थे भंते ! महव्वए मेहुणाओ वेरमणं। सव्वं भंते! मेहुणं पच्चक्खामि । से दिव्वं वा माणुसं वा तिरिक्खजोणिअं वा। नेव सयं मेहुणं सेविज्जा नेवन्नेहिं मेहुणं सेवाविज्जा मेहुणं सेवंते वि अन्ने न समणुजाणामि जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि । से मेहुणे चउविहे पन्नत्ते, तंजहा–दव्वओ खित्तओ कालओ भावओ । दव्वओ णं मेहुणे रूवेसु वा रूवसहगएसु वा । खित्तओ णं मेहुणे उड्ढलोए वा अहोलोए वा तिरियलोए वा ।

कालओ णं मेहुणे दिआ वा राओ वा। भावओ णं मेहुणे रागेण वा दोसेण वा। जं मए इमस्स धम्मस्स केवलिपण्णत्तस्स अहिंसालक्खणस्स सच्चाहिट्ठिअस्स विणयमूलस्स खंतिप्पहाणस्स अहिरन्नसोवन्निअस्स उवसमपभवस्स नवबंभचेरगुत्तस्स अपयमाणस्स भिक्खावित्तियस्स कुक्खीसंबलस्स निरग्गिसरणस्स संपक्खालिअस्स चत्तदोसस्स गुणग्गाहिअस्स निव्विआरस्स निव्वित्तिलक्खणस्स पंचमहव्वयजुत्तस्स असंनिहिसंचयस्स अविसंवाइअस्स संसारपारगामिअस्स निव्वाणगमणपज्जवसाणफलस्स पुव्विं अन्नाणयाए असवणयाए अबोहीए अणाभिगमेणं अभिगमेण वा पमाएणं रागदोसपडिबद्धयाए बालयाए मोहयाए किड्डुयाए तिगारवगुरुयाए चउक्कसाओवगएणं पंचिंदिओवसट्टेणं पडिपुण्णभारिआए सायासोक्खमणुपालयंतेणं इहं वा भवे अन्नेसु वा भवग्गहणेसु मेहुणं सेविअं वा सेवाविअं वा सेविज्जंतं वा परेहिं समणुन्नायं तं निंदामि गरिहामि तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं, अईयं निंदामि पडुपन्नं संवरेमि अणागयं पच्चक्खामि, सव्वं मेहुणं जावज्जीवाए अणिस्सिओहं नेव सयं मेहुणं सेविज्जा नेवन्नेहिं मेहुणं सेवाविज्जा मेहुणं सेवंते वि अन्ने न समणुजाणिज्जा तं-

जहा—अरिहंतसक्खिअं सिद्धसक्खिअं साहुसक्खिअं देवसक्खिअं अप्पसक्खिअं एवं भवइ भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे दिआ वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा एस खलु मेहुणस्स वेरमणे हिए सुहे खमे निस्सेसिए आणुगामिए [पारगामिए] सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूयाणं सव्वेसिं जीवाणं सव्वेसिं सत्ताणं अदुक्खणयाए असोयणयाए अजूरणयाए अतिप्पणयाए अपीडणयाए अपरिआवणयाए अणुद्दवणयाए महत्थे महागुणे महाणुभावे महापुरिसाणुचिन्ने परमरिसिदेसिए पसत्थे तं दुक्खक्खयाए कम्मक्खयाए मोक्खयाए बोहिलाभाए संसारुत्तारणाएत्तिकट्टु उवसंपज्जित्ता णं विहरामि। चउत्थे भंते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं ॥ ४ ॥

अथ चतुर्थे महाव्रते मैथुनाद्विरमणं कुर्वे, तद्यथा दिव्यं देवसम्बन्धि मैथुनं, मानुषं मनुष्यसम्बन्धि, तिर्यग्योनिकं पशुसम्बन्धि, वाप्यर्थे, नैव स्वयं मैथुनं सेवे, नैवान्यैर्मैथुनं सेवयेऽन्यान् मैथुनं सेवयमानान्न समनुजानामि। त्रिविधं मैथुनं कृतकारितानुमतिरूपं त्रिविधेन करणेन मनआदिना न करोमि०। 'से मेहुणे' मैथुनं चतुर्द्धा—द्रव्यतः रूपेषु निर्जीवलेप्यादिरूपेषु वा, रूपसहगतेषु वा सजीवदेहेषु द्रव्येषु। क्षेत्रत ऊर्ध्वलोके सूर्यकरप्रसरयोजनशता(सूर्यमण्डला)दूर्ध्वाकाशदेशेषु।

अधोलोके सूर्यकरप्रसराधस्तनाकाशदेशेषु। तिर्यग्लोके सूर्यमण्डलाधस्तनकरप्रसरक्षेत्रेऽष्टादशशतयोजनरूपे। भावतो द्वेषेण परनिगोपनार्थं क्रोधमानाभ्यां च मैथुनं। 'जं मए०' इत्यादि। तत्र द्रव्यतो मैथुनं न तु भावादरक्तद्विष्टस्त्रियो बलात्कारे, शेषभङ्गाः स्वयं ज्ञेयाः। मैथुनं स्वयं सेवितं वा परैः सेवितं कारितमित्यर्थः परैः सेव्यमानं वा समनुज्ञातं। वाशब्दोऽत्र समुच्चये। तन्निन्दामीत्यादि। तथा त्रिविधं कृतकारितादिभेदं मैथुनं त्रिविधेन मनआदिनाऽतीतं निन्दामीत्यादि। ४।

अहावरे पंचमे भंते! महव्वए परिग्गहाओ वेरमणं। सव्वं भंते! परिग्गहं पच्चक्खामि। से अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा, नेव सयं परिग्गहं परिगिण्हिज्जा, नेवन्नेहिं परिग्गहं परिगिण्हाविज्जा, परिग्गहं परिगिण्हंते वि अन्ने न समणुजाणामि, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि, तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि। से परिग्गहे चउव्विहे पन्नत्ते, तं-जहा–दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ। दव्वओ णं परिग्गहे सचित्ताचित्तमीसेसु दव्वेसु, खित्तओ णं परिग्गहे सव्वलोए, कालओ णं परिग्गहे दिआ वा राओ वा, भावओ णं परिग्गहे अप्पग्घे वा

महग्घे वा रागेण वा दोसेण वा । जं मए इमस्स धम्मस्स केवलिपन्नत्तस्स अहिंसालक्खणस्स सच्चाहिट्ठिअस्स विणयमूलस्स खंतिप्पहाणस्स अहिरण्णसोवन्नियस्स उवसमपभवस्स नवबंभचेरगुत्तस्स अपयमाणस्स भिक्खावित्तियस्स कुक्खीसंबलस्स निरग्गिसरणस्स संपक्खालिअस्स चत्तदोसस्स गुणग्गाहिअस्स निव्विआरस्स निव्वित्तिलक्खणस्स पंचमहव्वयजुत्तस्स असंनिहिसंचयस्स अविसंवाइअस्स संसारपारगामिअस्स निव्वाणगमणपज्जवसाणफलस्स पुव्विं अन्नाणयाए असवणयाए अबोहीए अणभिगमेणं अभिगमेण वा पमाएणं रागदोसपडिबद्धयाए बालयाए मोहयाए मंदयाए किड्डयाए तिगारवगुरुयाए चउक्कसाओवगएणं पंचिंदिओवसट्टेणं पडिपुण्णभारियाए सायासोक्खमणुपालयंतेणं इहं वा भवे अन्नेसु वा भवग्गहणेसु परिग्गहो गहिओ वा गाहाविओ वा घिप्पंतो वा परेहिं समणुन्नाओ तं निंदामि गरिहामि तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं। अईअं निंदामि पडुपन्नं संवरेमि अणागयं पच्चक्खामि सव्वं परिग्गहं । जावज्जीवाए अणिस्सिओहं नेव सयं परिग्गहं परिगिण्हिज्जा नेवन्नेहिं परिग्गहं परिगिण्हाविज्जा परिग्गहं परिगिण्हंतेवि

अन्ने न समणुजाणिज्जा तंजहा—अरिहंतसक्खिअं सिद्धसक्खिअं साहुसक्खिअं देवसक्खिअं अप्पसक्खिअं एवं भवइ भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे दिआ वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा। एस खलु परिग्गहस्स वेरमणे हिए सुहे खमे निस्सेसिए आणुगामिए [पारगामिए] सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूयाणं सव्वेसिं जीवाणं सव्वेसिं सत्ताणं अदुक्खणयाए असोयणयाए अजूरणयाए अतिप्पणयाए अपीडणयाए अपरिआवणयाए अणुद्दवणयाए महत्थे महागुणे महाणुभावे महापुरिसाणुचिन्ने परमरिसिदेसिए पसत्थे तं दुक्खक्खयाए कम्मक्खयाए मोक्खयाए बोहिलाभाए संसारुत्तारणाएत्तिकट्टु उवसंपज्जिता णं विहरामि। पंचमे भंते! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं ॥ ५ ॥

अथ परिग्रहे—' से गामे वा ' यथा ग्रामे वा नगरे वाऽल्पं वा इत्यादि तृतीयव्रतवत्। द्रव्यतः परिग्रहः सचित्ताचित्तमिश्रेषु। सचित्तं सजीवं अचित्तं निर्जीवं, मिश्रं सवस्त्रनरादिरूपं इत्यादिद्रव्येषु, यत्र सर्वद्रव्येष्विति पाठस्तत्राकाशादिषु सर्वेषु द्रव्येषु। यच्चूर्णिः ' गामघरंगणाइएएसेसु ममीकाराओ आगासदव्वपरिग्गहो ' गमणाकुंचणपसारणाइसु धम्मदव्वपरिग्गहो, ठाणनिसीयणाइएएसु ममीकाराओ अधम्मदव्वपरिग्गहो, मायापिइमाइएसु जीवेसु ममत्तकरणाओ जीवदव्वपरिग्गहो,

हिरन्नसुवन्नाइएसु ममत्तकरणाओ पुग्गलदव्वपरिग्गहो, सीउण्हवरिसकालेसु रिउच्छके वा मुच्छियस्स कालपरिग्गहो, क्षेत्रतः परिग्रहो यत्र 'लोए वा अलोए वा' पाठस्तत्र तदाकाशममत्वात्। 'सव्वलोए वा' पाठेऽप्येवं। [ग्रामेषु वा इत्यादि पाठः स्पष्टः]। कालतो दिनराज्यभिलापात्। भावतोऽल्पार्थेऽल्पमूल्ये महार्थे वा वस्तुनि मूर्च्छया, सर्वत्र रागो मायालोभाभ्यां द्वेषः कोधमानाभ्यां। तत्र द्वेषेणापरसत्कं आदाय परिगृह्णाति। तथा द्रव्यतः परिग्रहो न भावात् यतीनां धर्म्मोपकरणं, भावतः परिग्रहो न द्रव्यात् अप्राप्तौ वाञ्छावतां, शेषभङ्गौ स्पष्टौ। परिग्रहो गृहीतो वा, परैर्ग्राहितो वा, गृह्यमाणो वा समनुज्ञातः। पञ्चमे महाव्रतेऽभ्युत्थितोऽस्मि स्थितोऽस्मि सर्वस्मात्परिग्रहाद्विरमणं। ५।

अहावरे छट्ठे भंते! राईभोअणाओ वेरमणं। सव्वं भंते! राईभोअणं पच्चक्खामि। से असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा नेव सयं राइं भुंजिज्जा नेवन्नेहिं राइं भुंजाविज्जा राइं भुंजंते वि अन्ने न समणुजाणामि जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि तस्स भंते पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि। से राईभोअणे चउव्विहे पन्नत्ते, तंजहा—दव्वओ खित्तओ कालओ भावओ। दव्वओ णं राईभोअणे असणे वा पाणे वा खाइमे वा साइमे वा। खित्तओ णं राईभोअणे समय-

खित्ते । कालओ णं राईभोअणे दिआ वा राओ वा । भावओ णं राईभोअणे तित्ते वा कडुए वा कसाये वा अंबिले वा महुरे वा लवणे वा रागेण वा दोसेण वा । जं मए इमस्स धम्मस्स केवलिपण्णत्तस्स अहिंसालक्खणस्स सच्चाहिट्ठिअस्स विणयमूलस्स खंतिप्पहाणस्स अहिरण्णसोवण्णिअस्स उवसमपभवस्स नवबंभचेरगुत्तस्स अपयमाणस्स भिक्खावित्तियस्स कुक्खीसंबलस्स निरग्गिसरणस्स संपक्खालिअस्स चत्तदोसस्स गुणग्गाहिअस्स निव्विआरस्स निव्वित्तिलक्खणस्स पंचमहव्वयजुत्तस्स असंनिहिसंचयस्स अविसंवाइअस्स संसारपारगामिअस्स निव्वाणगमणपज्जवसाणफलस्स पुव्विं अन्नाणयाए असवणयाए अबोहीए अणभिगमेणं अभिगमेण वा पमाएणं रागदोसपडिबद्धयाए बालयाए मोहयाए मंदयाए किड्डयाए तिगारवगुरुयाए चउक्कसाओवगएणं पंचिंदिओवसट्टेणं पडिपुण्णभारिआए सायासोक्खमणुपालयंतेणं इहं वा भवे अन्नेसु वा भवग्गहणेसु राईभोअणं भुत्तं वा भुंजाविअं वा भुंजंतं वा परेहिं समणुन्नायं तं निंदामि गरिहामि तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं । अईअं निंदामि पडुप्पण्णं संवरेमि अणागयं पच्चक्खामि

सव्वं राईभोअणं । जावज्जीवाए अणिस्सिओहं नेव सयं राईभोअणं भुंजिज्जा नेवन्नेहिं राईभोअणं भुंजाविज्जा राईभोअणं भुंजंते वि अन्ने न समणुजाणिज्जा तंजहा—अरिहंतसक्खिअं सिद्धसक्खिअं साहुसक्खिअं देवसक्खिअं अप्पसक्खिअं एवं भवइ भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजयविरपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे दिआ वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा । एस खलु राईभोअणस्स वेरमणे हिए सुहे खमे निस्सेसिए आणुगामिए [ पारगामिए ] सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूयाणं सव्वेसिं जीवाणं सव्वेसिं सत्ताणं अदुक्खणयाए असोयणयाए अजूरणयाए अतिप्पणयाए अपीडणयाए अपरिआवणयाए अणुद्दवणयाए महत्थे महागुणे महाणुभावे महापुरिसाणुचिन्ने परमरिसिदेसिए पसत्थे तं दुक्खक्खयाए कम्मक्खयाए मोक्खयाए बोहिलाभाए संसारुत्तारणाएत्तिकट्टु उवसंपज्जित्ता णं विहरामि । छट्ठे भंते ! उवट्ठिओमि सव्वाओ राईभोअणाओ वेरमणं ॥६॥
इच्चेइआइं पंचमहव्वयाइं राईभोअणवेरमणछट्ठाइं अत्तहियट्ठयाए उवसंपज्जित्ता णं विहरामि ॥

अथाऽपरस्मिन् षष्ठे व्रते रात्रिभोजनाद्विरमणं कुर्वे, रात्रिभोजनं यथा अशनं वा, क्रमात् ओदन १, आरनाल २, लड्डुक (खर्जूर)

३, दर्शनक्यादि ४, नैव स्वयं रात्रौ भुञ्जे, नैवान्यैः रात्रौ भोजये, भुञ्जानानन्यान्ना न समनुजाने। समयक्षेत्रे इति मनुष्य-क्षेत्रे अर्द्धतृतीयद्वीपद्विसमुद्रमाने समयादिप्ररूपणायास्तत्रैव भावनात्, परतोऽहोरात्र्यभावात्। कालतो दिवा रात्रिभोजनं अन्धकारे, संकटमुखे भोजने, संनिधेः परिभोगे वा सति। भावतस्तिक्तादेर्द्रव्यस्यास्वादे, तत्र कषायिले कषायं, अम्बिले अम्लं, लवणे क्षारं, ... अनाहारस्यापि रात्रौ मुखे क्षेपः शय्यायां स्थापनं च रात्रिभोजनमेव, रागेण इच्छया द्वेषेण गुर्वादिषु कलहादिना। ... द्रव्यतो निशाभोज्यं न भावात् कारणे रक्ताद्विष्टस्यानुदयेऽस्तमिते वा भुञ्जानस्य, न द्रव्यतो भावात् रात्रौ भोजने-च्छयाऽप्राप्तौ, शेषभङ्गौ स्पष्टौ। रात्रिभोजनं भुक्तं वा परैर्भोजितं वा भुज्यमानं वा परैः समनुजातं तन्निन्दामि स्वसाक्षि, गर्हामि गुरुसाक्षि। त्रिविधं कृतकारितानुमतिभेदं रात्रिभोजनं त्रिविधेन मनआदिना करणेनातीतं निन्दामि, प्रत्युत्पन्नं वर्त्तमान-कालसम्बन्धि संवृणोमि त्यजामि, अनागतं भविष्यकालसम्बन्धिरात्रिभोज्यं प्रत्याख्यामि निषिध्ये सर्वं रात्रिभोज्यमिति। तथा रात्रौ गृहीतं रात्रौ भुक्तं, रात्रौ गृहीतं दिवा भुक्तं, दिवा गृहीतं रात्रौ भुक्तं, एते त्रयोऽशुद्धाः, दिवा गृहीतं दिवा भुक्तं शुद्धः। ४। 'छट्ठे भंते वए०' षष्ठं व्रतमाद्यान्त्यार्हतोरेव ऋजुजडवक्रजडार्थं, विदेहार्हतां मध्यमार्हतां ऋजुप्रज्ञानुद्दिश्योत्तरगुणेषु स्थापितं, इत्येतानि पञ्चमहाव्रतानि रात्रिभोजनविरमणं षष्टं येषां तानि आत्महितार्थाय मोक्षाय उपसम्पद्य स्वीकृत्य विहरामि मासकल्पादिविधिना तिष्ठामि चलामि च।

अथ महाव्रतदोषानाह—'अप्पसत्था य जे जोगा'

**अप्पसत्था य जे जोगा, परिणामा य दारुणा। पाणाइवायस्स वेरमणे, एस वुत्ते अइक्कमे ॥१॥**

१०

तिव्वरागा य जे भासा, तिव्वदोसा तहेव य। मुसावायस्स वेरमणे, एस वुत्ते अइक्कमे ॥२॥ उग्गहं सि अजाइत्ता, अविदिन्ने य उग्गहे। अदिन्नादाणस्स वेरमणे, एस वुत्ते अइक्कमे ॥ ३ ॥ सद्दा रूवा रसा गंधा—फासाणं पवियारणे। मेहुणस्स वेरमणे, एस वुत्ते अइक्कमे ॥ ४ ॥ इच्छा मुच्छा य गेही य, कंखा लोभे य दारुणे। परिग्गहस्स वेरमणे, एस वुत्ते अइक्कमे ॥ ५ ॥ अइमत्ते य आहारे, सूरखित्तंमि संकिए। राईभोअणस्स वेरमणे, एस वुत्ते अइक्कमे ॥ ६ ॥ दंसणनाणचरित्ते, अविराहित्ता ठिओ समणधम्मे। पढमं वयमणुरक्खे, विरयामो पाणाइवायाओ ॥७॥ दंसणनाणचरित्ते, अविराहित्ता ठिओ समणधम्मे। बीअं वयमणुरक्खे, विरयामो मुसावायाओ ॥८॥ दंसणनाणचरित्ते, अविराहित्ता ठिओ समणधम्मे। तइअं वयमणुरक्खे, विरयामो अदिन्नादाणाओ ॥९॥ दंसणनाणचरित्ते, अविराहित्ता ठिओ समणधम्मे। चउत्थं वयमणुरक्खे, विरयामो मेहुणाओ ॥ १० ॥ दंसणनाणचरित्ते, अविराहित्ता ठिओ समणधम्मे। पंचमं वयमणुरक्खे, विरयामो परिग्गहाओ ॥ ११ ॥ दंसणनाणचरित्ते, अविराहित्ता ठिओ समणधम्मे। छट्ठं वयमणुरक्खे; विरयामो राईभोअणाओ ॥ १२ ॥ आलय-

विहारसमिओ, जुत्तो गुत्तो ठिओ समणधम्मे। पढमं वयमणुरक्खे, विरयामो पाणाइवायाओ ॥१३॥ आलयविहारसमिओ, जुत्तो गुत्तो ठिओ समणधम्मे। वीअं वयमणुरक्खे, विरयामो मुसावायाओ ॥१४॥ आलयविहारसमिओ, जुत्तो गुत्तो ठिओ समणधम्मे। तइअं वयमणुरक्खे, विरयामो अदिन्नादाणाओ ॥ १५ ॥ आलयविहारसमिओ, जुत्तो गुत्तो ठिओ समणधम्मे। चउत्थं वयमणुरक्खे, विरयामो मेहुणाओ ॥१६॥ आलयविहारसमिओ, जुत्तो गुत्तो ठिओ समणधम्मे। पंचमं वयमणुरक्खे, विरयामो परिग्गहाओ ॥१७॥ आलयविहारसमिओ जुत्तो गुत्तो ठिओ समणधम्मे। छट्ठं वयमणुरक्खे, विरयामो राईभोअणाओ ॥ १८ ॥ आलयविहारसमिओ, जुत्तो गुत्तो ठिओ समणधम्मे ! तिविहेण अप्पमत्तो, रक्खामि महव्वए पंच ॥ १९ ॥ सावज्जजोगमेगं, मिच्छत्तं एगमेव अन्नाणं। परिवज्जंतो गुत्तो, रक्खामि महव्वए पंच ॥२०॥ अणवज्जजोगमेगं, सम्मत्तं एगमेव नाणं तु। उवसंपन्नो जुत्तो, रक्खामि महव्वए पंच ॥ २१ ॥ दो चेव रागदोसे, दुण्णि य झाणाइं अट्टरुद्दाइं। परिवज्जंतो गुत्तो, रक्खामि महव्वए पंच ॥ २२॥ दुविहं चरित्तधम्मं, दुन्नि य झाणाइं धम्मसुक्काइं।

उवसंपन्नो जुत्तो, रक्खामि महव्वए पंच ॥ २३ ॥ किण्हा नीला काऊ, तिन्नि य लेसाओ अप्पसत्थाओ । परिवज्जंतो गुत्तो, रक्खामि महव्वए पंच ॥ २४ ॥ तेऊ पम्हा सुक्का, तिन्नि य लेसाओ सुप्पसत्थाओ । उवसंपन्नो जुत्तो, रक्खामि महव्वए पंच ॥ २५ ॥ मणसा मणसच्चविऊ, वायासच्चेण करसच्चेण । तिविहेण वि सच्चविऊ, रक्खामि महव्वए पंच ॥ २६ ॥ चत्तारि य दुहसिज्जा, चउरो सन्ना तहा कसाया य । परिवज्जंतो गुत्तो, रक्खामि महव्वए पंच ॥ २७ ॥ चत्तारि य सुहसिज्जा, चउव्विहं संवरं समाहिं च । उवसंपन्नो जुत्तो, रक्खामि महव्वए पंच ॥ २८ ॥ पंचेव य कामगुणे, पंचेव य अण्हवे महादोसे । परिवज्जंतो गुत्तो, रक्खामि महव्वए पंच ॥ २९ ॥ पंचिंदियसंवरणं, तहेव पंचविहमेव सज्झायं । उवसंपन्नो गुत्तो, रक्खामि महव्वए पंच ॥ ३० ॥ छज्जीवनिकायवहं, छप्पि य भासाउ अप्पसत्थाउ । परिवज्जंतो गुत्तो, रक्खामि महव्वए पंच ॥ ३१ ॥ छव्विहमब्भिंतरयं, बज्झं पि य छव्विहं तवोकम्मं । उवसंपन्नो जुत्तो, रक्खामि महव्वए पंच ॥३२॥ सत्त य भयठाणाइं, सत्तविहं चेव नाणविब्भंगं । परिवज्जंतो गुत्तो, रक्खामि महव्वए पंच ॥ ३३ ॥ पिंडेसण पाणेसण, उग्गह

सत्तिकिया महज्झयणा । उवसंपन्नो जुत्तो, रक्खामि महव्वए पंच ॥३४॥ अट्ठ य मयठाणाइं, अट्ठ य कम्माइं तेसिं बंधं च । परिवज्जंतो गुत्तो, रक्खामि महव्वए पंच ॥ ३५ ॥ अट्ठ य पवयणमाया, दिट्ठा अट्ठविहनिट्ठिअट्ठेहिं । उवसंपन्नो जुत्तो, रक्खामि महव्वए पंच ॥ ३६ ॥ नव पावनिआणाइं, संसारत्था य नवविहा जीवा । परिवज्जंतो गुत्तो, रक्खामि महव्वए पंच ॥ ३७ ॥ नवबंभचेरगुत्तो, दुनवविहं बंभचेरपरिसुद्धं । उवसंपन्नो जुत्तो, रक्खामि महव्वए पंच ॥ ३८ ॥ उवघायं च दसविहं, असंवरं तह य संकिलेसं च । परिवज्जंतो गुत्तो, रक्खामि महव्वए पंच ॥३९॥ सच्चसमाहिट्ठाणा, दस चेव दसाओ समणधम्मं च । उवसंपन्नो जुत्तो रक्खामि महव्वए पंच ॥४०॥ आसायणं च सव्वं, तिगुणं इक्कारसं विवज्जंतो । उवसंपन्नो जुत्तो, रक्खामि महव्वए पंच ॥ ४१ ॥ एवं तिदंडविरओ, तिगरणसुद्धो तिसल्लनीसल्लो । तिविहेण पडिक्कंतो, रक्खामि महव्वए पंच ॥ ४२ ॥

ये योगा अयतनाचलनभाषणादिव्यापारा अप्रशस्ता विरूपाः । च एवार्थे । परिणामाश्च ये दारुणा रौद्राः प्राणातिपातस्य विरमणे । एषोऽतिक्रमोऽतीचार उक्तोऽर्हद्भिः १ । या भाषा तीव्ररागाऽतिरागेणोच्यते अथवोत्कटविषया, तीव्रद्वेषा अप्रीतिपूर्विका भाषा च मृषावादविरमणे २ । 'उग्ग०' अयाचित्वाऽवग्रहे स्थानं अदत्ते वा स्वामिनाऽवग्रहे स्थानं अदत्तादानस्य

विरमणे ३ । 'सद्दा०' शब्दरूपरसगन्धस्पर्शाणां प्रविचारणा शुभतया तत्परतया च चिन्तनं मैथुनस्य विरमणे ४ । 'इच्छा०' असतां भावानां इच्छा, सतां वस्तूनां संग्रहे नष्टादिदुःखे वा मूर्च्छा, गृद्धिरतृप्तिः, काङ्क्षा रम्यं रम्यं दृष्ट्वा वाञ्छा, लोभोऽदानं, दारुणं ५ । 'अइमत्ते०' अतिमात्रो द्वात्रिंशत्कवलमान उदरषड्भागोनो वा बहुराहारः, रात्रौ गन्धोद्गारादि कृत्वा तदुद्गारगलने च महादोषात् । सूरक्षेत्रे सूर्योदयास्तरूपे शङ्किते किं सूर्य उदितो न वेत्यादौ आहारेत्तत एतानतिक्रमान् त्यजामि ६ । एवं व्रतानि निर्दोषाणि स्वीकृत्य तेषां पालनमाह—'दंसण०' दर्शनं सम्यक्त्वं, ज्ञानं नवतत्त्वज्ञानं, चारित्रं सर्वविरतिस्तान्यविराध्य श्रमणधर्म्मे क्षान्त्यादौ स्थितः, प्रथमं व्रतमनुरक्षामि विरतोऽस्मि प्राणातिपातात् । तत्र दर्शनविराधना पञ्चधा—दर्शनप्रभावकशास्त्राणां संमत्यादीनां प्रत्यनीकता, किमेभिः कलहशास्त्रैरिति कुभावः, सम्यक्त्वस्य वा अनास्था १, दर्शनप्रभावकशास्त्राणां पठनेऽन्तरायकरणं सम्यक्त्वग्रहणे वाऽन्यस्यान्तरायकृतिः २, सम्यक्त्वस्य दर्शनप्रभावकशास्त्राणां च पात्रे अदाने अपात्रे दाने च, सति उपघातकरणं, शङ्काकाङ्क्षाद्यतीचारपञ्चकेन वा दर्शनोपघातः ३ । दर्शनप्रभावकशास्त्रपुस्तकादीनां प्रद्वेषः केवलसम्यग्दृशः प्रद्वेषो वा, तथा तपस्विप्रशंसाधर्म्मस्थिरीकृतिसाधर्म्मिकवात्सल्यशासनोन्नतिप्रद्वेषश्च ४ । दर्शनशास्त्रगुरोः सम्यक्त्वगुरोर्वा निह्नवः ५ । एवं ज्ञानविषयेऽपि श्रुतस्य दोषाख्याने श्रुतज्ञानी सम्यग् न वेत्ति, श्रुतवानपि नरकं याति । एवं ज्ञानवतां च कुभावे, अकालानध्याययोगाकरणादिना च पाठे प्रत्यनीकता १, ज्ञानं पठतामन्तरायकृतिः २, पात्रे श्रुतादानादुपघातः पुस्तकाद्याशातनया वा ३, तथा किं यतीनां ज्योतिश्चक्रयोन्यादिविचारैरित्याद्युक्त्या प्रद्वेषः ४, गुरुनिह्नवः ५ । चारित्रविराधना सावद्येन । एवं रत्नत्रयं अविराध्य श्रमणधर्म्मे

शान्त्यादौ स्थितः प्रथमं व्रतं अनुरक्षामि पालयामि विरतोऽस्मि प्राणातिपातात् ७। एवं सर्वगाथाः ६। पुनर्विशेषात्पालनमाह– 'आलय०' आलये रमतो विहारे च समितः समितिमान् अस्नानलोचपरीषहसहनादन्तधावनगुरुकुलवासादिसाधुगुणैर्युक्त इन्द्रि- येगुप्तः श्रमणधर्मे स्थितः प्रथमं व्रतमनुरक्षामि १३, गाथाः ६। 'आलय०' त्रिविधेन करणेन मनआदिना वशीकृतेनाप्रमत्तः सन् पञ्चमहाव्रतानि रक्षामि १९। अथ महाव्रतविरोधिनो महाव्रतापकारकांश्च वक्ति–सावद्यं योगं सपापं व्यापारं एकं, मिथ्यात्वं एकं, अज्ञानं एकं, एतत्त्रयं, परिवर्जयेत् गुप्तः पञ्चमहा० २०। 'अनवद्ययोगं' निःपापव्यापारं एकं, सम्यक्त्वं एकं, सज्ज्ञानं प्रधानज्ञानं एकं उपसम्पन्न आश्रितः गुणैर्युक्तः २१। द्वौ रागद्वेषौ द्वे ध्याने आर्त्तरौद्रे परिवर्जयन्। तथा ऋतं दुःखं तत्र भवं आर्त्तं। दुःखार्त्त- स्य दुःखहानं सुखवर्द्धादिप्रार्थं च गाढाध्यवसायो रोदयति नरके जन्तुमिति रौद्रं, हिंसामृषास्तेयपरिग्रहादिगाढाशयाः २२। त्रिविधं चारित्रधर्मं देशसर्वविरतिरूपं, द्वे ध्याने धर्म्यशुक्ले च। तत्र धर्माय हितं धर्म्यं जिनोदितक्रियातत्त्वादिगाढाभिप्रायः, शुचं क्लमयतीति शुक्लं रूपातीतादि नीरागं ध्यानं, प्ररूपकतया कर्तृतया चोपसम्पन्न आदृतः २३। 'किण्हा' कृष्णनीलकापोताख्या अप्रशस्तास्तिस्रो लेश्या परिवर्ज्य तेजःपद्मशुक्लास्तिस्रो लेश्याः सुष्ठु प्रशस्ता उपसम्पन्न आश्रितः, लेश्याः प्रतिक्रमणाध्ययने व्याख्याताः। तत्र कृष्णैर्विगन्धैस्तीक्ष्णैर्महाकटुभिर्हिंसादिप्रवृत्तिकरैः कर्मपुद्गलैर्निष्पन्न आत्मपरिणामः कृष्णलेश्या १। नीलैर्विगन्धैस्तिक्तैस्तीक्ष्णैररित्यारम्भादिप्रवृत्तिकरैः कर्माणुभिर्नीललेश्या २। किञ्चिन्नीलः किञ्चिद्रक्तो वर्णः कापोतः, कापोतवर्णैस्तीक्ष्णैरम्लैर्विगन्धैर्मायादिकरैरणुभिः कापोतलेश्या ३। रक्तैः सुगन्धैर्मधुरैः सुकुमारैर्विनयादिभिर्गुणकरैरणुभिः तेजोलेश्या ४। पीतैः सुगन्धैर्गाढमधुरैः स्तोकरागद्वेषादिहेतुभिः पद्मलेश्या ५। श्वेतसुगन्धसरसमधुरसुकुमारैर्धर्मादि-

ध्यानकरैः कर्म्माणुभिर्निष्पन्न आत्मपरिणामः शुक्ललेश्या ६ ।२४-२५। 'मण' मनसा शुभभावरूपेण चेतसा रक्षामि महाव्रतानीति सम्बन्धः । किम्भूतोऽहं मनःसत्यं, मनःसंयमोऽकुशलमनोरोधकुशलमनःप्रवृत्तिरूपस्तं वेद्मीति मनःसत्यवित् । एवं वाक्सत्यज्ञो वाक्सत्येन अयोग्यवाक्त्यागी योग्यवक्ता । करणसत्यज्ञः करणसत्येन कार्ये यतनाचेष्टाकृदन्यथा स्थिरः, एवं त्रिविधेनाऽपि करणेन सत्यविद्वान् । अत्र सत्यसप्तभङ्गी-मनःसत्यमित्यादि ३, मनोवाक्सत्यं ४, मनःकायसत्यं ५, वाक्कायसत्यं ६, मनोवाक्कायसत्यं ७। एवं पञ्चमहाव्रतानि रक्षामि २६। 'चत्ता०' चतस्रो दुःखशय्या यथा शङ्का १, परलाभप्रार्थनं २, कामभोगप्रार्थना ३, मर्दनोद्वर्त्तनस्नानादिप्रार्थनं ४।शङ्काऽर्हन्मताश्रद्धा १। एता एव विपरीताः सुखशय्याः । चतस्रः संज्ञा आहाराद्याः प्रतिक्रमणे व्याख्याताः । चतुरः कषायांश्चापरिवर्जयन् । चतस्रः सुखशय्या जिनमतश्रद्धा १, स्वलाभेच्छा २, कामाद्यप्रार्थन ३, शिरोलोचरोगादिवेदनासम्यक्सहन४रूपाः । चतुर्विधं संवरं मनो १ वा२कायो३पकरणसंवररूपं ४, तत्रोपकरणसंवरः प्रतिक्रमणाध्ययनोक्तोऽजीवसंयमो ज्ञेयः। चतुर्विधं समाधिं विनय १ श्रुत २ तप ३ आचारसमाधिरूपं उपसम्पन्नः । ज्ञान १ दर्शन २ चारित्र ३ तपः ४ समाधिरूपं च २७-२८। 'पंचे०' पञ्च कामगुणान् इच्छाहेतून् शब्दरूपादीन्, पञ्च आस्रवान् प्राणातिपातादीन् महादोषान् । पञ्चेन्द्रियाणि श्रोत्र १ दृग् २ नासा ३ जिह्वा ४ शरीरा५ख्यानि तेषां संवरणं । पञ्चविधं स्वाध्यायं सुष्ठु आ मर्यादया ध्यानरूपं, वाचना १, प्रच्छना २, परिवर्त्तना ३ऽनुप्रेक्षा ४ धर्मकथारूपं ५। तत्र वाचना सूत्रपरिपाटिदानग्रहणे, प्रच्छना सूत्रार्थयोः पृच्छा २, परिवर्त्तना गुणनाभ्यसने ३, अनुप्रेक्षा चिन्तनं ४, धर्म्मकथा स्पष्टा ५ २९-३०। 'छज्जी०' षट् जीवनिकायवधं, षट् चाऽप्रशस्ता भाषाः-अलीकं १, हीलितं २, खिंसितं ३, परुषं ४, गर्वबहुलं ५,

व्युत्सृष्टोदीरणं च ६। हीलितमवज्ञा, खिंसितं मर्मोक्त्या, परुषं कठोरं, व्युत्सृष्टानां मर्मवचनानां उदीरणं कथनं ३१। 'कृति०' अभ्यन्तरं लौकिकैरज्ञातत्वादन्यतीर्थिकैश्च परमार्थतोऽनासेव्यमानत्वात् मोक्षप्राप्त्यन्तरंगत्वाच्च, तदेवाभ्यन्तरकं तपःकर्म्म। तत्र 'पायच्छित्तं विणओ वेयावच्चं तहेव सज्झाओ। झाणं उस्सग्गोवि य अब्भितरओ तवो होइ'। १। इह चित्तं जीव उच्यते, ततः प्रायो बाहुल्येन चित्तं जीवं विशोधयत्यतिचारजनितकर्म्ममलरहितं करोतीति प्रायश्चित्तं आलोचनादिदशविधं इति कायोत्सर्गनिर्युक्तौ व्याख्यातं १। विनीयते क्षिप्यतेऽष्टप्रकारं कर्म्मानेनेति विनयः, स च ज्ञानदर्शनचारित्रमनोवचनकायलोकोपचारविनयभेदात्सप्तधा। तत्र ज्ञानमाभिनिबोधिकादि पञ्चधा, तदेव विनयो ज्ञानस्य वा विनयः भक्त्यादिकरणं ज्ञानविनयः, उक्तं च-'भत्ती १ तह बहुमाणे २ तद्दिट्ठत्थाण सम्म भावणया ३। विहिगहण ४ब्भासो-वि य एसो विणओ जिणाभिहिओ'। १। भक्तिर्बाह्या सेवा, बहुमानं आन्तरप्रीतिः। दर्शनं सम्यक्त्वं तदेव विनयो दर्शनस्य वा विनयो दर्शनगुणाधिकानां शुश्रूषणाऽनाशातनारूपो विनयो दर्शनविनयः, यतः 'सुस्सूसणा अणासायणा य विणओ उ दंसणे दुविहो। दंसणगुणाहिएसुं, कज्जइ सुस्सूसणाविणओ। १। सक्कार १ ब्भुट्ठाणे २ सम्माणा ३ सणपरिग्गहो ४ तहय। आसणमणुप्पयाणं ५ किइकम्मं ६ अंजलिग्गहो य। २। इंतस्सणुगच्छणया ८ ठियस्स तह पज्जुवासणा भणिया ९। गच्छंताणुव्वयणं १० एसो सुस्सूसणाविणओ'। ३। इह सत्कारः स्तवनवन्दनादिः, अभ्युत्थानं विनयार्हस्य दर्शनादेवासनत्यजनं। सन्मानो वस्त्रपात्रादिपूजनं। आसनाभिग्रहस्तिष्ठत आदरेणासनानयनपूर्वकमुपविशतात्रैवं भणनं। आसनानुप्रदानं तु आसनस्य स्थानात् स्थानान्तरसञ्चारणं। कृतिकर्म्म द्वादशावर्त्तवन्दनं, शेषं स्पष्टं। उचितकरणक्रियारूपोऽयं दर्शने शुश्रूषाविनयः।

अनाशातनाविनयस्तु अनुचितक्रियाविनिवृत्तिरूपोऽयं, अनाशातना भक्तिबहुमानवर्णजननभेदात्त्रिधा। स च पञ्चदशानां स्यादिति पञ्चचत्वारिंशद्विधः, यतः 'तित्थयर १ धम्म २ आयरिय ३ वायगे ४ थेर ५ कुल ६ गणे ७ संघे ८। संभोगिय ९ किरियाए १० मइनाणाईण य तहेव १५'। १। सांभोगिका एकसमाचारिकाः, क्रिया अस्तिकता। अत्र भावना—तीर्थकराणामाशातनायां न वर्त्तितव्यमित्यादि, 'कायव्वा पुण भत्ती बहुमाणो तह य वन्नवाओ य। अरिहंतमाइयाणं केवलनाणावसाणाणं' ।१। उक्तो दर्शनविनयः। अथ चारित्रविनयः चारित्रमेव चारित्रस्य वा विनयः श्रद्धानादिरूपः, यतः 'सामाइयाइचरणस्स सद्दहणया १ तहेव काएणं २। संफासणं परूवणमहपुरओ सव्वसत्ताणं ३'ति। मनोवचनकायविनयास्तु मनःप्रभृतीनां विनयार्हेषु कुशलप्रवृत्त्यादिरूपाः, यतः—'मणवयकायविणओ आयरियाईण सव्वकालंपि। अकुसलमणाइरोहो कुसलाण उदीरणं तह य' ।१। लोकानामुपचारो व्यवहारस्तेन स एव वा विनयो लोकोपचारविनयः सप्तधा—'अब्भासत्थाण १ छंदाणुवत्तणं २ कयपडिकित्ती तहय ३ कारियनिमित्तकरणं ४ दुक्खत्तगवेसणा तहय ५ तह देसकालजाणण ६ सव्वत्थेसु तह अणुमई भणिया ७'। तत्राभ्यासस्थानं गुरुसमीपे स्थानं १ छन्दोनुवर्त्तित्वं गुर्वभिप्रायवर्त्तित्वं २ तथा कृतप्रतिकृतिं कृते भक्तादिनोपचारे प्रसन्ना गुरवः प्रतिकृतिं प्रत्युपकारं सूत्रादिदानतो विधास्यन्ति न तु निर्जरैवेति ३, तथा कारितनिमित्तकरणं कोऽर्थः येन श्रुतं प्रापितस्तस्य विनये वर्त्तितव्यं तदनुष्ठानं कार्यं ४, तथार्त्तस्यपीडितस्य गवेषणमौषधादेरार्त्तगवेषणा ५, तथा देशकालज्ञता ६, तथा सर्वार्थेष्वप्रतिलोमतानुकूल्यं ७। यद्वा मनोविनयः प्रशस्तः सप्तधा—अपापः १, असावद्यः २, अक्रियः ३, निरुपक्लेशः ४, अनाश्रवः ५, अच्छविः ६, अभूताभिशङ्कनः ७, सपापाद्यस्तु सप्तधाऽप्रशस्तमनोविनयो विपरीतः। वाग्विनयोप्येवं सप्त-

विधः। द्विधा कायविनयः, प्रशस्त उपयुक्तेन गमन १ स्थान २ निषीदन ३ त्वग्वर्त्तन ४ उल्लङ्घन ५ प्रलङ्घन ६ सर्वेन्द्रियव्यापार ७ भेदात् सप्तधा, स एवानुपयुक्तेन सप्तधाऽप्रशस्तः। इह पापं सामान्येन सावद्यं क्रोधाद्यं। क्रिया कायिकाद्याः कर्म्मयोगजनया सप्तधा, स एवानुपयुक्तेन सप्तधाऽप्रशस्तः। छविः क्रविः स्वान्ययोर्विषये प्रमादायासः। भूतानां वन्धिन्यः, उपक्लेशः शोकाद्यः, आश्रवः प्राणातिपाताद्याश्रवकरणं। ज्छविः क्रविः स्वान्ययोर्विषये प्रमादायासः। भूतानां प्राणिनां शङ्काजनकं भूताभिशङ्कनं, तथा उल्लङ्घनं उड्डयनं, प्रलङ्घनं गर्त्तादिप्लवनं, उक्तो विनयः। व्यावृत्तभावो धर्म्मार्थं अन्नादिदानप्रवर्त्तनकं वैयावृत्त्यं दशधा–'आयरिय १ उवज्झाए २ थेर ३ तवस्सी ४ गिलाण ५ सेहाणं ६। साहम्मिय ७ कुल ८ गण ९ संघ १०, संगयं तमिह कायव्वं'। १। आचार्यः पञ्चधा दीक्षाचार्यो दिगाचार्यः सूत्रसमुद्देशानुज्ञाचार्यो वाचनाचार्यः, तत्र दिगाचार्यो ग्रहणासेवनाशिक्षागुरुः। उपाध्यायः पाठकः, स्थविरो जातिश्रुतपर्यायैर्गच्छसाधुर्धैर्यकृद्वा। तपस्वी अष्टमाधिकतपाः, ग्लानो रोगी, शिक्षको नवदीक्षः साधर्म्मिको लिङ्गात् न प्रवचनतः, कुलं एकाचार्यसन्ततिः, गणः सापेक्षद्वित्रिकुलसंगमः। संघः शासनं साधवः। सुष्ठु आ मर्यादयाऽध्यायः स्वाध्यायः पञ्चधा–वाचनाऽध्यापनं, प्रच्छना सूत्रस्यार्थस्य वा, परिवर्त्तना गुणनमभ्यसनं च वाचा, अनुप्रेक्षा तु मनसा, धर्म्मकथाऽहिंसादिधर्मोपदेशः ५। ध्यानं इन्द्रियमनोव्यापारचिन्तारोधः शुक्लं, एषां भेदाः प्राग् धर्म्मध्यानं शुक्लध्यानं च। तत्र विरतिक्रियासंयमभावं धर्म्म्यं। इन्द्रियमनोव्यापारचिन्तारोधः शुक्लं, एषां भेदाः प्राग् ध्यानशतके उक्ताः। उत्सर्गो द्विधा द्रव्यतो भावतश्च, तत्र द्रव्यतो गणशरीरोपध्याहारविषयश्चतुर्धा, भावतस्तु कषायसंसारकर्म्मव्युत्सर्गभेदात्त्रिधा। तत्र कषायाणां चतुर्णां संसारस्य चतुर्गतिरूपस्याऽष्टकर्म्मणां च व्युत्सर्गभेदाः स्पष्टाः, यतः–'काले गणदेहानां, अइरित्ताऽसुद्धभत्तपाणाणं कोहाईयाण सयं (?) कायव्वो होइ चाउ' त्ति उक्तमाभ्यन्तरं। अथ 'वज्झं पि य' त्ति, बाह्यं आसे-

न्यमानं क्रियमाणं लोकैरपि तपस्तया ज्ञायमानं बहिर्देहशोषकत्वाद्वा बाह्यं अपिचेति समुच्चये। षड्विधमनशनादि तपःकर्म्म, तपति दुनोति देहकर्म्माणीति तपः, तस्य कर्म्म करणं तपःकर्म्म। तत्राऽनशनमाहारत्यागः, तद् द्विधा इत्वरं यावज्जीवं च। इत्वरं चतुर्थादिषण्मासान्तमधिकृततीर्थमाश्रित्येति तथा श्रेणिप्रतरादितपांसि च, यावज्जीवं तु त्रिधा पादपोपगमेंगितमरण-भक्तपरिज्ञाभेदात्, तत्र पादपो वृक्षस्तस्य छिन्नपतितस्येव चेष्टारोधेनोपगमनं स्थितिः पादपोपगमनं। तथेंगिते नियमिते देशे मरणं इंगितमरणं इंगिनीमरणं वा। भक्तस्याऽऽहारस्य चतुर्विधस्य वा परिज्ञा त्यागः सचेष्टस्य भक्तपरिज्ञा। तत्र पादपोपगमनं सिंहाद्युपसर्गे कुर्व्वतो व्याघातवत्, स्वभावादेव तु निर्व्याघातं, तत्संलिखितः काले कुर्यात्। तद्विधिरुत्तराध्ययनादेर्ज्ञेयः 'चत्तारि विचित्ताइं' इत्यादि गाथाभिः। तत्र देवगुरून्नत्वा विधिना त्रिकं त्रिकेण सर्वाहारं प्रत्याख्याय गिर्यादि गत्वाऽप्रतिकर्म्मा दण्डायितादिस्थानं स्थित्वाऽऽजीवं निश्चेष्टस्तिष्ठेत्, परमाद्यसंहननीदं कुर्यात्। इंगितदेशे स्थितः त्यक्तसर्वाहारोऽन्येनोद्वर्त्तना-द्यकुर्व्व(कारय)न् स्वयं तु कुर्व्वन्निंगिनीमरणं कुर्यात्। भक्तपरिज्ञा सप्रतिकर्म्मसमर्थस्यापि। अनशनानां सविचाराविचारसपरि-कर्म्मापरिकर्म्मनिर्हारिमानिर्हारिमादिभेदाः सिद्धान्तात् ज्ञेयाः। उक्तमनशनं। अथावमोदरता द्विधा—द्रव्यतो भावतश्च। तत्र द्रव्यतः उपकरणभक्तपानविषया। तत्रोपकरणे जिनकल्पिकादीनामन्येषां वा तदभ्यासपराणां ज्ञेया नत्वन्येषां, उपध्यभावे समग्रसंयमाभावात्, अतिरिक्ताग्रहणं वा ऊनोदरता। भक्तपानोनोदरता यथाऽऽहारमानत्यागिनः, यथा ३२ कवला अविकृतास्ये क्षेपा नरस्याहारः तस्योनोदरता पञ्चधा—एकग्रासाद्या अष्टग्रासान्ताऽल्पाहाराख्या १, नवमात् द्वादशं यावत् अपार्द्धाख्या २, त्रयोदशात् षोडशं यावद्द्विभागाख्या ३, सप्तदशाच्चतुर्विंशतिं यावत्प्राप्ताख्या ४, पञ्चविंशतेरेकत्रिंशतं ग्रासं यावत् किञ्चिद्-

नाम्या ५। तत्रैककवला जघन्याऽल्पाहाराऽष्टकवलोत्कृष्टा, शेषा ग्रासा मध्या। एवं जघन्याऽपार्द्धाद्या अपि ज्ञेयाः। एवं नार्या अपि २८ ग्रासैः पूर्णाऽऽहारा ज्ञेया। भावोनोदरता क्रोधादित्यागः प्रत्यहं। तथा एकसित्थादिद्रव्योनोदरता, तथा क्षेत्रोनोदरता ग्रामादिषु शय्यागृहपाटकादिसंक्षेपः। पेटाद्या भिक्षावृत्तयो वा। कालोनोदरता तृतीयपौरुषीशेषभागे गोचरे। भावोनोदरता स्त्रीनृवेशक्रियाचेष्टावर्णवयोभूषाद्यभिग्रहः, इत्यादिभिश्चतुर्भिरूनोदर्यचरस्य पर्याय ऊनोदरता, गतोनोदरता। अथ वृत्तिर्भिक्षानयां तत्संक्षेपो अष्टगोचरभूदेहलीमध्यभूमानसप्तपिण्डैषणाद्रव्याद्यन्यतरघोराभिग्रहरूपः। रसानां क्षीरादिचतुर्णां रसानां त्यागो विकृतिगतत्यागश्च रसत्यागः। तथा कायक्लेशः देहक्लेशनं, स च शिरोलोचवीरासनादिना निश्चलत्वेनासनाभिग्रहादिरनेकधा। तथा प्रतिसंलीनता गुप्तता सा चेन्द्रियकषाययोगविषया विविक्तशयनासनता चेति चतुर्द्धा, इन्द्रियसंलीनता श्रोत्रादीन्द्रियनिग्रहैः पञ्चधा शब्दादिषु रागद्वेषनिग्रहाद्वा पंचधा। कषायसंलीनता चतुर्द्धा। योगा मनोवाक्कायास्तेषां संलीनता मनोगुप्त्याद्यास्त्रिधा। विविक्तशयनासनता त्वारामादिषु योग्यस्थानेषु एषणीयफलकादिभिः शय्यासंस्तारकमादाय स्थानं। 'सत्त' सप्त भयस्थानानि इहलोकभयादीनि। तत्रेहलोकभयं मनुष्यस्य मनुष्यादितो भयं १, एवं परलोकभयं मनुष्यस्य परलोकात् सिंहादितो भयं २, आदानभयं चौरादिभ्यो द्रव्यादानभयं ३, अकस्माद्भयं निर्हेतुकमुत्पन्नं ४, आजीवभयं कथमाजीविका भविष्यतीति ५, मरणभयं स्पष्टं ६, अश्लोकभयं अयशोभयं ७। सप्तविधं ज्ञानविभंगं यथा एकदिग्लोकाभिगमः १, पञ्चदिग्लोकाभिगमः २, क्रियावरणो जीवः ३, मुदग्गे ४, अमुदग्गे ५, रूपी जीवः ६, सर्वं जीव ७ इति। तत्र एकदिश्येव लोकोऽस्तीतिज्ञानादेकदिग्लोकाभिगमः विभङ्गता तु शेषदिक्ष्वनवगमेन तत्प्रतिषेधात् १, एवं पञ्चदिक्ष्वपि

२, क्रियावरणो जीव इति क्रियामात्रेणैवावृतो जीवो न तु कर्म्मभिः ३, 'मुदग्ग' इति देहबाह्यान्तरपुद्गलकृताङ्गो जीवोऽस्ति, भवनादिसुराणां बाह्यान्तरपुद्गलादानतो रूपकरणदर्शनात् ४, 'अमुदग्ग' त्ति न बाह्यान्तरपुद्गलाङ्गो जीवोऽस्ति सुराणामेवमपि सरूपाणां दर्शनात् ५, सुरान् दृष्ट्वा रूप्येव जीव इत्यास्था ६, वायुचालितान् पुद्गलान् दृष्ट्वा सर्वं जीव इति ७, एवं विभङ्गं परिवर्जयन्। पिण्डैषणा सप्त असंसृष्टा १, संसृष्टा २, उद्धृता ३, ऽल्पलेपा ४, ऽवगृहीता ५, प्रगृहीता ६, उज्झितधर्म्मा च ७। एताः प्रतिक्रमणाध्ययने व्याख्याताः, एवं पानैषणा अपि सप्त व्याख्याताः। अवग्रहप्रतिमा अवग्रहस्थितिस्तस्याः प्रतिमा नियमविशेषा यथा उद्दिष्टे यथेदृगेवोपाश्रयः कार्यः इति मनसा ध्याते वसनं १, अन्यसाध्वर्थं याचित्वा ततस्तदवग्रहे वसनं २, अन्यार्थं याचिते तैरगृहीते वसनं, एषा त्वहालंदिकानां प्रतिमा यतस्ते भणन्तो गुर्वर्थं याचन्ते, उत्कृष्टं पञ्चदिनानि तिष्ठन्ति ३। अवग्रहाऽयाचनाऽन्यावग्रहे तु वसनं, एषा गच्छ एवोद्यतविहारिणां परिकर्म्म कुर्वतां स्यात् ४। आत्मार्थमेवावग्रहयाचनं नान्यार्थं, एषा जिनकल्प एव स्यात् ५। कटादिसंस्तारयुक्तायामेव वसनं, अन्यथा निविष्टेनोत्कटिकादिना वाऽवस्थानं ६। यथास्तृतशिलोड्डलकादियुक्त एव नियमाद् वसनं ७, एताः सप्त प्रतिमाः। सप्त सप्तैकाख्यानि आचाराङ्गाध्ययनानि यथास्थानं १, निषीधिका २, उच्चारप्रश्रवण ३, शब्द ४, रूप ५, परक्रिया ६, अन्योन्यक्रिया ७ नामानि क्रमात्कायोत्सर्गादिस्थान १, निर्दोषनैषेधिकी २, विण्मूत्रत्यागस्थान ३, नानाशब्दनानारूपादित्याग ४–५, परकृतपादचम्पनादिक्रिया ६, मिथः क्रमचम्पनादिवैयावृत्त्यक्रियावाचीनि। महाध्ययनानि सप्त यथा सूत्रकृद्द्वितीयश्रुतस्कन्धे पुण्डरीक १ क्रियास्थान २ आहारपरिज्ञा ३ प्रत्याख्यान ४ अनगार ५ आर्द्रकुमार ६ नालिंदा ७ नामानि। एषां

पिण्डैषणादीनां श्रद्धानं करणं प्ररूपणां वोपसम्पन्नः साधुगुणैर्युक्तः रक्षामि। 'अट्ठ०' अष्ट मदस्थानानि–जाति १ लाभ २ कुल ३ ऐश्वर्य ४ बल ५ रूप ६ तपः ७ श्रुत ८ रूपाणि। अष्ट कर्म्माणि ज्ञानावरण १ दर्शनावरण २ वेदनीय ३ मोहनीय ४ आयु ५ नाम ६ गोत्र ७ अन्तराय ८ रूपाणि, तेषां कर्म्मणां बन्धं च परिवर्जयन्। अष्ट प्रवचनमातरः–पञ्चसमितिगुप्तित्रयरूपा दृष्टाः, निष्ठिताष्टविधकर्म्मरूपार्थैः क्षपितार्थकर्म्माणुभिर्जिनैरित्यर्थः। ता मातॄः उपसम्पन्न आश्रितः, प्रवचनं अर्हच्छासनं चारित्ररूपं तस्य जननात् पालनाच्च मातर इव सन्ति। नव पापनिदानानि–यथा भवान्तरे राजा भवेयं १, अलं मे बहुव्यापारेण राज्येन परमुग्रः सद्रव्यो गृही स्यां २, एवं नृकष्टं दृष्ट्वा स्त्री स्यां ३, स्त्रीपारवश्यादेः पुमान् स्यां ४, नृविषयाणामशुचित्वात् ये देवाः परदेवदेवीसेवास्वदेवदेवीत्वरूपविकुर्वणसेवनासक्तास्ते बहुरतास्तद्विषयं निदानं ५, ये देवाः स्वमेव देवत्वेन देवीत्वेन च विकुर्व्य सेवन्ते न तु परं ते स्वरताः ६, एते षड् निदानकृतो भवान्तरे दुर्लभबोधिकाः। अरता अमैथुनाः सुराः, एवं त्रयो देवभेदाः ७, साधुप्रतिलम्भकश्राद्धः स्यां ८, व्रतकाङ्क्षया दरिद्रः श्राद्धः स्यां ९, पाश्चात्यत्रीणि निदानानि क्रमात् बोधिदेशसर्वविरतिदानि न तु सिद्धिदानि। संसारस्था जीवा नवविधाः–यथा पृथ्व्यप्तेजोवायुवनस्पतिद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियभेदान्नवधा जीवास्तान् हिंस्यत्वेन परिवर्जयन्। नवब्रह्मचर्यगुप्तिभिः–स्त्र्यादियुक्तवसति १, स्त्रीकथा केवलस्त्र्युपदेशः २, स्त्रीनिषद्या ३, नृस्त्रीइन्द्रियेक्षण ४, नृस्त्रीसंयोगकुड्यान्तर ५ पूर्वक्रीडितस्मृति ६ गलत्स्नेहबिन्दुभक्तप्रणीता ७, ऽतिमात्राहार ८, विभूषावर्जनाख्याभि ९ गुप्तः। तथा द्विकृत्वो नवविधं अष्टादशधेत्यर्थः। दिव्यौदारिकभेदं कामत्यागरूपं ब्रह्मचर्यं परिशुद्धं शुद्धं उपसम्पन्न आश्रितः। चूर्णौ 'नवविहदंसणचरणं नव य नियाणाइं

नवविहा जीवा ' इति पाठः । तत्र निद्रा १, निद्रानिद्रा २, प्रचला ३, प्रचलाप्रचला ४, स्त्यानर्द्धि ५ नामकं निद्रापञ्चकं । चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनावरणानि ९ चेति नवविधं दर्शनावरणं । 'उव०' दशविधं चारित्रस्योपघातं यथा उद्गमदोषाः १६ । १ उत्पादनादोषाः १६ । २, एषणादोषाः १० । ३, त्रयं संयमोपघाताः, परिकर्म्मणा वस्त्रपात्रादिरचनं यतस्तेन स्वाध्यायदेहसंयमानामुपघातः ४ । परिहरणोपघातोऽकल्प्यालक्षणस्य चोपकरणस्य भोगः, तया संयमादेरुपघातः ५ । ज्ञान ६ दर्शन ७ चारित्राऽऽतीचारैर्ज्ञानादीनां उपघातः, अप्रीतिकेन विनयाद्युपघातः ९ । संरक्षणेनेति देहोपकरणादिमूर्च्छया पञ्चमव्रतोपघातः, दशविधोऽसंवरो यथा पञ्चेन्द्रिय ५ मनो ६ वाक्कायासंवरः ८ उपकरणासंवरः अप्रतिलेख्यानियतादिवस्त्रादिग्रहणं यद्वा विप्रकीर्णवस्त्राणां ओघोपधेरसंवरः ९ सूचीकुशाग्रादीनां देहोपघातिनां अन्येषां चोपग्राहिकाणा १० मसंवरोऽगोपनं । तथा उपधि १ उपाश्रय २ कषाय ३ भक्त ४ पान ५ मनो ६ वा ७ काय ७ ज्ञान ८ दर्शन ९ चरण १० संक्लेशात् दश, एषु स्थानेष्वशुभतादिना चित्तासमाधिरूपान् परिवर्जयन् । दश चित्तसमाधिस्थानानि—स्त्र्यादियुग्वसति १ स्त्रीकथा २ प्रणीतरस ३ अतिमात्रपानान्न ४ पूर्वक्रीडितस्मृति ५ स्त्रीनिषद्या ६ स्त्रीन्द्रियेक्षणत्यागाख्यानि सप्त चित्तसमाधिस्थानानि ७, नो शब्दरूपगन्धप्रियः स्यादित्यष्टमं ८, न श्लोकानुपाती स्यात् ख्यातिप्रिय इत्यर्थः ९, दशमं समाधिस्थानं सातोऽसौख्यत्यागरूपं १०, तत्र साता सौख्यं सातवेद्यं सुखं । दश दशा यथा—कर्म्मविपाकश्रुताङ्गाद्यश्रुतस्कन्धदशाध्ययनरूपा १ उपासकदशा २ अन्तकृद्दशा ३ अनुत्तरोपपातिकदशाः ४ सप्तमाष्टमनवमाङ्गानि दशाध्ययनात्मानि । आचारदशा दशाश्रुतस्कन्धो दशाध्ययनात्मकः ५ व्याकरणदशाः ६ प्रश्नव्याकरणदशाः दशाध्ययनरूपा ६ बन्धदशा ७ द्विगृद्धिदशा

८ द्वीपदशाः ९ संक्षेपिकदशा १० दशाध्ययननामभिः कतिकथाभिश्च स्थानाङ्गोक्ताः सन्त्यधुनात्वप्रसिद्धाः । तथा दश-विधश्रमणधर्म्मं प्रतिक्रमणोक्तं उपसम्पन्नः गुणैर्युक्तः । 'आसा' आशातनां सर्वां त्रिगुणैकादशविधां त्रयस्त्रिंशत्संख्यां विवर्जयन्, आशातनाः ३३ प्रतिक्रमणे व्याख्याताः, तथा सर्वा आशातना द्रव्यादिषु चतुर्षु समवतरन्ति यथा द्रव्या-शातना रत्नाधिकेन सहाशन् मनोज्ञं आत्मना भुङ्क्ते, एवमुपधिसंस्तारकादिष्वपि ज्ञेयं १ । क्षेत्राशातना ज्येष्ठस्यासन्नगम-नादिभ्यः २ । कालाशातना रात्रौ विकाले वा गुरोर्वदतस्तूष्णीकस्तिष्ठति ३ । भावाशातना गुरुं त्वमिति वक्ति ४ । एवं उपसर्गेन उपसम्पन्नोऽनाशातनागुणैर्युक्तः पञ्चमहाव्रतानि रक्षामि । एवं एकद्व्यादिस्थानैर्महाव्रतरक्षां उक्त्वाऽथानुक्तगुणो-क्त्या तां समर्थयति । 'एव' गाहा—एवं त्रिभ्यो दुष्टमनोवाकायरूपेभ्यो दण्डेभ्यो विरतस्त्रिकरणैर्मनोवाकायैः शुद्ध-त्रिषु माया १, निदान २, मिथ्यात्वशल्येषु ३ अकरणेन निःशल्यः, त्रिविधेन कृतकारितानुमतिभिः सावद्यत्यागरूपेण योगेन प्रतिक्रान्तः पापात् निवृत्तः पंचमहाव्रतानि रक्षामि । 'इच्चेयं महव्वयउचारणं थिरत्तं सल्लुद्धरणं इत्यादि'

इच्चेयं महव्वयउच्चारणं थिरत्तं सल्लुद्धरणं धिइबलयं ववसाओ साहणट्ठो पावनिवारणं निकायणा भावविसोही पडागाहरणं निज्जुहणाराहणा गुणाणं संवरजोगो पसत्थज्झाणोवउत्तया जुत्तया य नाणे परमट्ठो उत्तमट्ठो एस खलु तित्थंकरेहिं रइरागदोसमहणेहिं देसिओ पवय-णस्स सारो छज्जीवनिकायसंजमं उवएसियं तेलोक्कसक्कयं ठाणं अब्भुवगया । नमो त्थु ते सिद्ध

बुद्ध मुत्त नीरय निस्संग माणमूरण गुणरयणसायरमणंतमप्पमेअ । नमो त्थु ते महइमहावीरवद्धमाणसामिस्स । नमो त्थु ते अरहओ नमो त्थु ते भगवओत्तिकट्टु । एसा खलु महव्वयउच्चारणा कया, इच्छामो सुत्तकित्तणं काउं । नमो तेसिं खमासमणाणं जेहिं इमं वाइअं छव्विहमावस्सयं भगवंतं, तंजहा—सामाइअं १, चउवीसत्थओ २, वंदणयं ३, पडिक्कमणं ४, काउस्सग्गो ५, पच्चक्खाणं ६, सव्वेहिं पि एअम्मि छव्विहे आवस्सए भगवंते ससुत्ते सअत्थे सगंथे सनिज्जुत्तिए ससंगहणीए जे गुणा वा भावा वा अरिहंतेहिं भगवंतेहिं पण्णत्ता वा परूविआ वा, ते भावे सद्दहामो पत्तियामो रोएमो फासेमो (पालेमो) अणुपालेमो, ते भावे सद्दहंतेहिं पत्तिअंतेहिं रोअंतेहिं फासंतेहिं (पालंतेहिं) अणुपालंतेहिं, अंतोपक्खस्स जं वाइअं पढिअं परिअट्टिअं पुच्छिअं अणुपेहिअं अणुपालिअं तं दुक्खक्खयाए कम्मक्खयाए मुक्खयाए बोहिलाभाए संसारुत्तारणाएत्तिकट्टु उवसंपज्जित्ता णं विहरामि । अंतोपक्खस्स जं न वाइअं न पढिअं न परिअट्टिअं न पुच्छिअं नाणुपेहिअं नाणुपालिअं संते बले संते वीरिए संते पुरिसकारपरक्कमे तस्स आलोएमो पडिक्कमामो निंदामो गरि-

हामो विउट्टेमो विसोहेमो अकरणयाए अब्भुट्ठेमो अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जामो तस्स मिच्छामि दुक्कडं ।

इत्येवं महाव्रतोच्चारणं स्थिरताहेतुत्वेन पुण्यस्थिरत्वं, पापशल्योद्धरकत्वेन शल्योद्धरणं । धृतेः संतोषस्य बलं अवष्टम्भः, व्यवसायः, 'साहणट्ठो पावनिवारणं निकायणा भावविसोही पडागाहरणं इत्यादि' साधनरूपोऽर्थः पदार्थः, मुक्त्यै निकाचना प्रनाशीकारदृढनिर्बन्धः, भावविशोधिः, मल्लयुद्धादिषु वस्त्रमाभरणं वा ध्वजाग्रे बध्यते, तत्र यो युद्धादिगुणे प्रकृष्टः स पुरतो भूत्वा लातीति पताकाहरणमेवमत्रापि शुद्धचारित्रस्य पताकाया हरणं । निर्यूहणा कर्म्मारीणां निःकासनं, आराधनाऽखण्डनिष्पादकता गुणानां । संवरस्य नवकर्म्मरोधस्य योगो व्यापारः, प्रशस्तध्यानोपयुक्तता धर्म्मशुक्लध्यानोपयोगो महाव्रतोच्चारं कुर्वतः शृण्वतो वा, युक्तता च ज्ञानेन सह, परमार्थोऽकृत्रिमार्थोऽयं, सोप्युत्तमार्थ एष महाव्रतरूपः । तीर्थकरे रतिः कामो रागो ममता द्वेषः क्रोधस्तन्मथनैर्दर्शित उक्तः, प्रवचनस्य सारः सिद्धान्ततत्त्वं महाव्रतानि । तेऽर्हन्तः षड्जीवनिकायसंयमं उपदिश्य त्रैलोक्यसत्कृतं त्रैलोक्यपूजितं स्थानं सिद्धिं अभ्युपगता प्राप्ताः । महाव्रतकीर्त्तनान्ते मङ्गलाय श्रीवीरस्तुतिमाह— 'नमोत्थु'त्ति हे सिद्ध निष्ठितार्थ ! हे बुद्ध ज्ञान ! हे मुक्त अकर्म्मन् ! हे नीरजः कर्म्मरहित ! [[1]हे श्रमण समचित्त ! हे समाधि सम्यक्त्वसमयोगैः शल्यकर्त्तन शल्यछेदक ! तत्र केवलिनोऽपि क्षायिकसम्यक्त्वं समयोगश्चारित्रसामायिकं च

१ एतचिह्न [ ] गतः पाठोऽधिको भाति ।

स्यात्, हे निर्भय ! हे निराग ! हे निर्दोष ! हे निर्म्मम ! ] हे निःसंग कर्म्मसङ्गरहित ! [ हे निःशल्य ! ] हे मानमूरण गर्वछेदक ! गुणरत्नसागर ! हे अनन्त ! ज्ञानानन्त्यात् मोऽलाक्षणिकः, हे अप्रमेय छद्मस्थागम्य ! 'नमो त्थु ते'-पाठः, महति प्रस्तावात् मोक्षे स्थित ! हे महावीर महाबल ! यतः 'विदारयति यत्कर्म्म तपसा च विराजते । तपोवीर्येण युक्तश्च तस्माद्वीर इति स्मृतः' । १ । वर्द्धमानस्वामिन् ! ते तुभ्यं नमोऽस्तु अर्हते चतुःषष्ठीन्द्रपूज्याय, तथा तुभ्यं भगवते ऐश्वर्ययुक्ताय नमोऽस्तु ते त्रिकृत्वः त्रीन वारान् इत्यर्थः । इत्येषा खलु महाव्रतोच्चारणा कृता । इच्छामः श्रुतकीर्त्तनं कर्त्तुं । तत्र नमस्तेभ्यः क्षमाश्रमणेभ्यो यैरिदं वाचितं सूत्रार्थाभ्यां कृतं मह्यं दत्तं वा, षड्विधावश्यकं गुणानां आसमन्तात् वश्यं जन्तुं करोतीत्यावश्यकं, भगवत् सातिशयाभिधेयगुणयुतं वा, तद्यथा-सामायिकं 'करेमि भंते ! सामाइयं' सूत्रं १, चतुर्विंशतिस्तवः 'लोगस्सुज्जोयगरे' सूत्रं २, वन्दनं द्वादशावर्तवन्दनं ३, प्रतिक्रमणं 'इच्छामि पडिक्कमिउं' इत्यादि सूत्रं ४, कायोत्सर्गः 'तस्सुत्तरीकरणेणं' सूत्रं ५, प्रत्याख्यानं प्रसिद्धं ६ । सर्वस्मिन् षडावश्यके भगवति ससूत्रे सार्थे सग्रन्थे सूत्रार्थोभयमेलनरूपे सनिर्युक्तौ निर्युक्तिसहिते ससंग्रहणिके संग्रहणीसहिते, निर्युक्तिरेव बह्वर्थसंग्रहरूपा संग्रहणी । ये गुणाः क्षान्त्यादयो भावा औदयिकाद्या जीवादिपदार्था वाऽर्हद्भिर्भगवद्भिः प्रज्ञप्ताः कथिताः, प्ररूपिताः अन्येभ्यो दर्शिताः, वा एवार्थे तान् श्रद्दध्मो मनसा प्रतीमो वाचा वर्णयामः रोचयामो मनोवाचौ जिनमते, स्पृशामः कायेनाज्ञां सेवामहे । पालयामः पाठो न दृश्यते, अनुपालयामो यावज्जीवं जिनाज्ञां कुर्म्मः । तान् भावान् श्रद्दधानैः प्रत्ययद्भिः रोचयद्भिः स्पृशद्भिः (पालयद्भिः)अनुपालयद्भिः पक्षस्य चन्द्रमासार्द्धस्यान्तर्मध्ये, एवं चातुर्मासकस्य मध्ये, संवत्सरस्य मध्ये, यद्वाचितं

अन्येभ्यो दत्तं, पठितं मुखपाठेन, परिवर्तितं गुणितं, संशये पृष्टं वा, अनुप्रेक्षितं मनसा श्रुतं ध्यातं, अनुपालितं क्रियाकरणेन पालितं। तत् श्रुतवाचनपठनादि मम देहमनोदुःखक्षयाय कर्मक्षयायेत्यादि प्रागवत्, संसारोत्तारणाय ममेतिकृत्वा गानिनपठनाद्युपसम्पद्य विहरामो मासकल्पादिना साधुमार्गे चलामः। अन्तर्मध्ये पक्षस्य चन्द्रमासार्द्धस्य, एवं चतुर्मासकाद्रन्तर्मध्ये यन्न वाचितं इत्यादि नानुपालितं, सति बले शारीरबले, सति वीर्ये मानसबले, सति पुरुषकारपराक्रमे, पुरुषकारः शारीर उपक्रमः पराक्रमः कर्म्मारिजयाय यत्नः। तं अवाचनापठनादिकं आलोचयामः गुरवे प्रकाशयामः, प्रतिक्रामामः निन्दामः गर्हामः व्यतिवर्त्तयामः वित्रोटयामोऽवाचनादिप्रतिबन्धं विशोधयामः सप्रमादमात्मानं, अकरणतयाऽभ्युत्तिष्ठामः पुनर्न करिष्यामः इत्यर्थः। यथार्हं तपःकर्म्म निर्विकृत्यादि प्रायश्चित्तं प्रतिपद्यामहे। अत्र बहुत्वं स्वस्य सामान्यत्वात् सामान्यलोकेषु मीलनात्। तस्यातीचारस्य मिथ्यादुःकृतमस्तु। ' नमो तेसिं० '

नमो तेसिं खमासमणाणं जेहिं इमं वाइअं अंगबाहिरं उक्कालिअं भगवंतं, तंजहा—दसवेआलिअं १, कप्पिआकप्पिअं २, चुल्लकप्पसुअं ३, महाकप्पसुअं ४, उववाइअं ५, रायप्पसेणिअं ६, जीवाभिगमो ७, पन्नवणा ८, महापन्नवणा ९, नंदी १०, अणुओगदाराइं ११, देविंदत्थओ १२, तंदुलवेआलिअं १३, चंदाविज्झयं १४, पमायप्पमायं १५, पोरिसिमंडलं १६, मंडलप्पवेसो १७, गणिविज्जा १८, विज्जाचरणविणिच्छओ १९, झाणविभत्ती २० मरणविभत्ती २१, आयविसोही

२२, संलेहणासुअं २३, वीयरायसुअं २४, विहारकप्पो २५, चरणविही २६, आउरपच्चक्खाणं २७, महापच्चक्खाणं २८ । सव्वेहिंपि एअम्मि अंगबाहिरे उक्कालिए भगवंते ससुत्ते सअत्थे सगंथे सनिज्जुत्तिए ससंगहणिए जे गुणा वा भावा वा अरिहंतेहिं भगवंतेहिं पन्नत्ता वा परूविआ वा, ते भावे सद्दहामो पत्तिआमो रोएमो फासेमो (पालेमो) अणुपालेमो, ते भावे सद्दहंतेहिं पत्तिअंतेहिं रोअंतेहिं फासंतेहिं (पालंतेहिं) अणुपालंतेहिं अंतोपक्खस्स जं वाइअं पढिअं परिअट्टिअं पुच्छिअं अणुपेहिअं अणुपालिअं तं दुक्खक्खयाए कम्मक्खयाए मुक्खयाए बोहिलाभाए संसारुत्तारणाएत्तिकट्टु उवसंपज्जित्ता णं विहरामि । अंतोपक्खस्स जं न वाइअं न पढिअं न परिअट्टिअं न पुच्छिअं नाणुपेहिअं नाणुपालिअं संते बले संते वीरिए संते पुरिसकारपरक्कमे तस्स आलोएमो पडिक्कमामो निंदामो गरिहामो विउट्टेमो विसोहेमो अकरणयाए अब्भुट्ठेमो अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जामो तस्स मिच्छामि दुक्कडं ।

नमस्तेषां क्षमाश्रमणानां यैरिदं वाचितं अस्मभ्यं दत्तं सूत्रार्थतया वा रचितं अंगबाह्यं, इह यद् गणधरकृतं तदङ्गप्रविष्टं

भ्यात्तथ नियतं, यत् स्थविरकृतं तदङ्गबाह्यं तच्चानियतं । उत्कालिकं कालग्रहणं विना कालवेलाऽनध्यायं विना पाठार्हं भग-
वत् पूज्यं । तद्यथा–विकाले स्तोकशेपेऽह्नि पूर्वेभ्य उद्धृतं दशाध्ययनयुक्तमिति दशवैकालिकं १, कल्प्याकल्प्यवाचकं कल्प्या-
कल्प्यं २, स्थविरकल्पादिवाचकं क्षुल्लं लघुकल्पश्रुतं, महाकल्पश्रुत च ३–४, देवनरादिजन्मसिद्धिगत्युपपातवाचकं औपपातिकं
५, राज्ञः प्रदेशिनः प्रश्नैर्भवं राजप्रश्नीयं ६, जीवस्वरूपवाचको जीवाभिगमः ७, औपपातिकादीन्युपाङ्गानि त्रीणि आचा-
राङ्गादीनां त्रयाणां । प्रज्ञापना महाप्रज्ञापना च जीवाजीवप्ररूपकौ ग्रन्थौ समवायांगस्योपाङ्गे ८–९, पञ्चज्ञानवाचको नन्दिः
१०, अनुयोगस्य द्वाराण्युपक्रमादीनि तद्वाचकग्रन्थोऽनुयोगद्वाराणि ११, देवेन्द्रादीनां चमरादीनां स्तवनं भवनस्थित्यादि-
स्वरूपमानं यत्र स देवेन्द्रस्तवः १२, आयुःशतवर्पभोग्यतंदुलविचारयुतमध्ययनं तंदुलवैचारिकं १३, चन्द्रको यन्त्रपुत्रिका-
ऽक्षिगोलस्तद्वेध्योपमाचित्तस्थैर्याराधनार्थे ग्रन्थश्चन्द्रकवेध्यं १४ । प्रमादाप्रमादफलभापकमध्ययनं प्रमादाप्रमादं १५ । प्रति-
मण्डलं पौरुषीछाया(छाया)मानग्रन्थः पौरुषीमण्डलं १६ । चन्द्रसूर्यमण्डलप्रवेशवाचको मण्डलप्रवेशः १७ । गणेराचार्यस्य
दीक्षादौ विद्या ज्ञानं गणिविद्या १८ । विद्या ज्ञानं चरणं चारित्रं तयोः फलविनिश्चयवाची ग्रन्थो विद्याचरणविनिश्चयः १९ ।
ध्यानविशोधि(विभक्तिर्मरणविभक्ति)र्ध्यानमरणभेदवाचिग्रन्थौ २०–२१ । आत्म(वि)शोधिहेतुप्रायश्चित्तग्रन्थः आत्म(वि)-
शोधिः २२, संलेखनाश्रुतं वीतरागश्रुतं संलेखनाविधिवीतरागस्वरूपग्रन्थौ २३–२४ स्थविरकल्पादिव्यवस्थावाची विहारकल्पः
२५ । चरणमस्तनिगन्थचरणविधिः २६ । आतुरस्य चेष्टाऽयोग्यस्य दिने दिने आहारह्रासेनांते सर्वाहाराहानेन भक्तादिवैराग्या-
द्व्यागाय(त्यागादि)कृत्स्नस्य भवचरमकरणवर्णनाध्ययनं आतुरप्रत्याख्यानं २७, यत्र महत्प्रत्याख्यानं वर्ण्यते यथा स्थविर-

२२, संलेहणासुअं २३, वीयरायसुअं २४, विहारकप्पो २५, चरणविही २६, आउरपच्चक्खाणं २७, महापच्चक्खाणं २८। सव्वेहिंपि एअम्मि अंगबाहिरे उक्कालिए भगवंते ससुत्ते सअत्थे सगंथे सनिज्जुत्तिए ससंगहणीए जे गुणा वा भावा वा अरिहंतेहिं भगवंतेहिं पन्नत्ता वा परूविआ वा, ते भावे सद्दहामो पत्तिआमो रोएमो फासेमो (पालेमो) अणुपालेमो, ते भावे सद्दहंतेहिं पत्तिअंतेहिं रोअंतेहिं फासंतेहिं (पालंतेहिं) अणुपालंतेहिं अंतोपक्खस्स जं वाइअं पढिअं परिअट्टिअं पुच्छिअं अणुपेहिअं अणुपालिअं तं दुक्खक्खयाए कम्मक्खयाए मुक्खयाए बोहिलाभाए संसारुत्तारणाए त्तिकट्टु उवसंपज्जित्ता णं विहरामि। अंतोपक्खस्स जं न वाइअं न पढिअं न परिअट्टिअं न पुच्छिअं नाणुपेहिअं नाणुपालिअं संते बले संते वीरिए संते पुरिसकारपरक्कमे तस्स आलोएमो पडिक्कमामो निंदामो गरिहामो विउट्टेमो विसोहेमो अकरणयाए अब्भुट्ठेमो अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जामो तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

नमस्तेषां क्षमाश्रमणानां यैरिदं वाचितं अस्मभ्यं दत्तं सूत्रार्थतया वा रचितं अंगबाह्यं, इह यद् गणधरकृतं तदङ्गप्रविष्टं

बाहिरं कालिए भगवंते ससुत्ते सअत्थे सगंथे सनिज्जुत्तिए ससंगहणीए जे गुणा वा भावा वा अरिहंतेहिं भगवंतेहिं पण्णत्ता वा परूविआ वा ते भावे सद्दहामो पत्तिआमो रोएमो फासेमो पालेमो अणुपालेमो, ते भावे सद्दहंतेहिं पत्तिअंतेहिं रोयंतेहिं फासंतेहिं पालंतेहिं अणुपालंतेहिं अंतोपक्खस्स जं वाइअं पढिअं परिअट्टिअं पुच्छिअं अणुपेहिअं अणुपालिअं तं दुक्खक्खयाए कम्मक्खयाए मुक्खयाए बोहिलाभाए संसारुत्तारणाएत्तिकट्टु उवसंपज्जित्ता णं विहरामि । अंतोपक्खस्स जं न वाइअं न पढिअं न परिअट्टिअं न पुच्छिअं नाणुपेहिअं नाणुपालिअं संते बले संते वीरिए संते पुरिसकारपरक्कमे तस्स आलोएमो पडिक्कमामो निंदामो गरिहामो विउट्टेमो विसोहेमो अकरणयाए अब्भुट्ठेमो अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जामो तस्स मिच्छामि दुक्कडं ।

यैरिदं वाचितं अङ्गबाह्यं, कालिकमिति कालग्रहणेनाद्यचरमपौरुष्योः स्वाध्यायिकं पाठार्हं कालिकं भगवत् पूज्यं सातिशयं, तद्यथा-उत्तराणि आचारांगादुपरि वाच्यानि विनयादिगुणप्रधानानि वा सूत्रतोऽर्थतो वा श्रीवीरेण निर्वाणसमये उपदिष्टानि अध्ययनानि उत्तराध्ययनानि १। 'दसाओ' दशाश्रुतस्कन्धदशाध्ययनानि २, स्थविरकल्पादिवाची कल्पः ३, प्रायश्चित्तादिव्यवहारवाची व्यवहारः ४, ऋषयो नारदाद्या विंशतिर्नेमितीर्थे, १५ पार्श्वतीर्थे, १० श्रीवीरतीर्थे, तर्भणितानि ४५

कल्पिकानां अन्ते १२ वर्षसंलेखना, जिनकल्पे विहरन्त एव यथार्हं संलिखन्ति। सचेष्टा एव निर्व्याघाते भवचरमं प्रत्याख्यान्ति। एतदर्थाध्ययनं महाप्रत्याख्यानं २८। एवं दशवैकालिककल्प्याकल्प्यादि २८ अध्ययनानि ज्ञेयानि। सर्वस्मिन्नेतस्मिन्नंगबाह्य उत्कालिके श्रुते, इत्यादि। 'नमो तेसिं०'

नमो तेसिं खमासमणाणं जेहिं इमं वाइअं अंगबाहिरं कालिअं भगवंतं तंजहा—उत्तरज्झयणाइं १, दसाओ २, कप्पो ३, ववहारो ४, इसिभासिआइं ५, निसीहं ६, महानिसीहं, ७, जंबुद्दीवपन्नत्ती ८, सूरपन्नत्ती ९, चंदपन्नत्ती १०, दीवसागरपन्नत्ती ११, खुड्डियाविमाणपविभत्ती १२, महल्लिआविमाणपविभत्ती १३, अंगचूलिआए १४, वग्गचूलिआए १५, विवाहचूलिआए १६, अरुणोववाए १७, वरुणोववाए १८, गरुलो( धरणो )ववाए, १९ वेसमणोववाए २०, वेलंधरोववाए २१ देविन्दोववाए २२, उट्ठाणसुए २३, समुट्ठाणसुए २४, नागपरिआवलिआणं २५, निरयावलिआणं २५, कप्पिआणं २६, कप्पवडिंसयाणं २८, पुप्फिआणं २९, पुप्फचूलिआणं ३०, ( वह्लिआणं ) वह्लिदसाणं ३१, आसीविसभावणाणं ३२, दिट्ठिविसभावणाणं ३३, चारण( सुमिण ) भावणाणं ३४, महासुमिणभावणाणं ३५, तेअग्गिनिसग्गाणं ३६। सव्वेहिंपि एअम्मि अंग-

बाहिरे कालिए भगवंते ससुत्ते सअत्थे सगंथे सनिज्जुत्तिए ससंगहणीए जे गुणा वा भावा वा अरिहंतेहिं भगवंतेहिं पण्णत्ता वा परूविआ वा ते भावे सद्दहामो पत्तिआमो रोएमो फासेमो पालेमो अणुपालेमो, ते भावे सद्दहंतेहिं पत्तिअंतेहिं रोयंतेहिं फासंतेहिं पालंतेहिं अणुपालंतेहिं अंतोपक्खस्स जं वाइअं पढिअं परिअट्टिअं पुच्छिअं अणुपेहिअं अणुपालिअं तं दुक्खक्खयाए कम्मक्खयाए मुक्खयाए बोहिलाभाए संसारुत्तारणाएत्तिकट्टु उवसंपज्जित्ता णं विहरामि । अंतोपक्खस्स जं न वाइअं न पढिअं न परिअट्टिअं न पुच्छिअं नाणुपेहिअं नाणुपालिअं संते बले संते वीरिए संते पुरिसकारपरक्कमे तस्स आलोएमो पडिक्कमामो निंदामो गरिहामो विउट्टेमो विसोहेमो अकरणयाए अब्भुट्ठेमो अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जामो तस्स मिच्छामि दुक्कडं ।

येरिदं गदितं अङ्गबाह्य, कालिकमिति कालग्रहणेनाद्यचरमपौरुष्योः स्वाध्यायिकं पाठार्हं कालिकं भगवत् पूज्यं सातिशयं, तद्यथा–उत्तराणि आचारांगादुपरि वाच्यानि विनयादिगुणप्रधानानि वा सूत्रतोऽर्थतो वा श्रीवीरेण निर्वाणसमये उपदिष्टानि अध्ययनानि उत्तराध्ययनानि १। 'दसाओ' दशाश्रुतस्कन्धदशाध्ययनानि २, स्थविरकल्पादिवाची कल्पः ३, प्रायश्चित्तादिप्रकाशको व्यवहारः ४, ऋषयो नारदाद्या विंशतिर्नेमितीर्थे, १५ पार्श्वतीर्थे, १० श्रीवीरतीर्थे, तैर्भणितानि ४५

सङ्ख्याध्ययनानि सत्याध्ययनादीनि ५। निशीथेऽर्द्धरात्र इव रहःपाठार्हत्वान्निशीथं ६, सविशेषो रहोऽर्हो महानिशीथं ७, जम्बूद्वीपादीनां विचारवाचिग्रन्था जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिः सूर्यप्रज्ञप्तिः चन्द्रप्रज्ञप्तिः द्वीपसागरप्रज्ञप्तिः, केऽपि सूरप्रज्ञप्तिमुत्कालिकेऽपि पठन्ति ८–११। क्षुल्लिका लघ्वी विमानप्रविभक्तिर्महती विमानप्रविभक्तिः १२–१३, अङ्गानां चूलिका उक्तानुक्तार्थसङ्ग्रहग्रंथः १४, एवं वर्गा अध्ययनानां समूहास्तच्चूलिका १५ विवाहो भगवती विशिष्टा वाहा विचारप्रवाहा अस्मिन्निति निरुक्तेस्तच्चूलिका १६। अरुणोपपातो १७ वरुणोपपातो १८ गरुडोपपातो १९ धरणोपपातो वैश्रमणोपपातो २० वेलंधरोपपातो २१ देवेन्द्रोपपातः २२, एतान्यरुणादिस्वरूपवाचीन्यध्ययनानि। एषु गुण्यमानेषु अरुणाद्या देवाश्चलितासना महर्ध्या साधुपार्श्वायाताः संविग्नाः श्रुत्वा हृष्टाः श्रमणं वदन्ति 'सुस्वाध्यायितं वरं वृणु' साधुर्वक्ति न मे वरेणार्थः। ततो गाढतरसंविग्नाः प्रदक्षिणय्य वन्दित्वा यान्ति। उत्थानश्रुतं यस्मिन् १–२–३ वार गुण्यमाने विपक्षजनग्रामादिविलापं कुर्वन्नुद्वसति २३। एवं समुट्ठाणसुए' तेन सुग्रामादि समुत्तिष्ठते वसति, यद्वा पूर्वस्थितः साधुरोषादुत्तिष्ठते, २४ तथा नागपरिज्ञा नागकुमारवाच्यध्ययनं २५, तस्मिन् गुण्यमाने नागा भवनस्था एव साधुं नमन्ति, पुण्यकार्ये च वरदाः स्युः २६। निरयावलिका नरकयायिजीवस्वरूपवाची ग्रन्थः २७। कल्पिकाः सौधर्म्मादिकल्पवाचका ग्रन्थश्रेणयः २८। कल्पावतंसिकाः कल्पश्रेष्ठविमानविचारतद्यायिजीवदेवदेवीप्राग्भवविचारग्रन्थावल्यः २९ पुष्पिताः गृहवासत्यागात्संयमेन ये पुष्पिताः, संयमं मुक्त्वा पुनःस्वीकृत्य वा पुष्पितास्तेषां चरित्रबद्धा ग्रन्थाः २९। पुष्पचूलिका उक्तार्थविशेषवाचिग्रन्थाः ३०। वृष्णिदशाध्ययनप्रतिबद्धा वृष्णेरन्धकवृष्णेर्वक्तव्यता तद्वाच्यध्ययनं ३१। आशीविषभावना दृष्टिविषभावना चरणभावना

महास्वप्नभावना तैजसनिसर्गः स्वस्वनामार्था ग्रन्थश्रेणयस्तत्रास्यो दाढास्तासु विषं येषां वृश्चिकादीनां नृतिरिश्वामासहस्रा- महास्वप्नभावना तैजसनिसर्गः ... चारणा व्योमयायिसाधवः, महास्वप्ना गजाद्याः, तैजसनिस- र्गेनानां च शापादिना, एवं दृष्टिविषाः सर्पा नराद्याश्च, एषां व्याख्याग्रन्थाः ३२–३६ ।। एतानि ३६ अध्ययनान्युक्तानि उपलक्षणभूतानि ज्ञेयानि, यतः गंसेजोलेश्यामोचनं, २४ अर्हतां चतुर्दशसहस्रया प्रकीर्णकान्यासन्, सर्वस्मिन्नप्येतस्मिन्नङ्गबाह्ये कालिक इत्यादि०

नमो तेसिं खमासमणाणं जेहिं इमं वाइअं दुवालसंगं गणिपिडगं भगवंतं, तंजहा-आयारो १, सूअगडो २, ठाणं ३, समवाओ ४, विवाहपन्नत्ती ५, नायाधम्मकहाओ ६, उवासगदसाओ ७, अंतगडदसाओ ८, अणुत्तरोववाइअदसाओ ९, पण्हावागरणं १० विवागसुअं ११, दिट्ठिवाओ १२। सव्वेहिंपि एअंमि दुवालसंगे गणिपिडगे भगवंते ससुत्ते सअत्थे सगंथे सनिज्जुत्तिए ससंग- हणीए जे गुणा वा भावा वा अरिहंतेहिं भगवंतेहिं पन्नत्ता वा परूविआ वा, ते भावे सद्दहामो पत्तिआमो रोएमो फासेमो पालेमो अणुपालेमो, ते भावे सद्दहंतेहिं पत्तिअंतेहिं रोयंतेहिं फासं- तेहिं पालंतेहिं अणुपालंतेहिं अंतोपक्खस्स जं वाइअं पढिअं परिअट्टिअं पुच्छिअं अणुपेहिअं अणुपालिअं तं दुक्खक्खयाए, कम्मक्खयाए मुक्खयाए बोहिलाभाए संसारुत्तारणाएतिकट्टु

उवसंपज्जित्ता णं विहरामि । अंतोपक्खस्स जं न वाइअं न पढिअं न परिअट्टिअं न पुच्छिअं नाणुपेहिअं नाणुपालिअं संते बले संते वीरिए संते पुरिसकारपरक्कमे तस्स आलोएमो पडिक्कमामो निंदामो गरिहामो विउट्टेमो विसोहेमो अकरणयाए अब्भुट्ठेमो अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जामो तस्स मिच्छामि दुक्कडं ।

नमस्तेभ्यः, श्राम्यन्ति तपस्यन्तीति श्रमणाः, क्षमाप्रधानाः श्रमणाः, क्षमाश्रमणाः, क्षमाग्रहणाद्दशविधधर्म्मसूचितः, तेभ्यः यैरिदं वाचितं । तं द्वादशाङ्गगणिपिटकं, गणीनां सूरीणां पिटकं अर्थसारपात्रमित्यर्थः, तद्यथा–आचारः षट्जीवनिकायरक्षादिसाध्वाचारवाची १ । सूत्रकृतं स्वान्यसमयसूचनोपदेशादिना कृतं २ । स्थानं एकस्थानादिदशस्थानान्तार्थवाचि ३ । समवायः एकादिशतस्थानादिपदार्थसमवायवाची ४ । विवाहप्रज्ञप्तिः विशेषेण वाहा विचारसमूहा विवाहाः व्याख्या वा नवतत्त्वानां तद्विषया प्रज्ञप्तिर्विनाहप्रज्ञप्तिर्व्याख्याप्रज्ञप्तिर्वा ५ । ज्ञाताधर्म्मकथा ज्ञातैर्दृष्टान्तैर्धर्म्मकथा ६ । उपासकदशा आनन्दादिश्राद्धदशकवक्तव्यताग्रन्थः ७ । अन्तकृद्दशा मुक्तिगामिकथावाचिन्यः ८ । अनुत्तरोपपातिकदशा अनुत्तरविमानयायिकथावाचिन्यः ९ । प्रश्नव्याकरणं प्राक् प्रश्नविद्यानां व्याकरणं भापणं इदानीं तु आश्रवसंवराणां पृच्छानिर्वचनवाचि १० । विपाकश्रुतं शुभाशुभविपाकदशकथावाचि । दृष्टिवादः दृष्टीनां मतानां वादः सम्यग्योजनं स्याद्वादेन स १४ पूर्वरूपं । एवं द्वादशाङ्गे गणिपिटके भगवति सूत्रे इत्यादि प्राग्वत् । अथ श्रुतदातृपालकेभ्यो नमस्कारं स्वदोपमिथ्यादुःकृतं चाह 'नमो तेसिं खमा०'

नमो तेसिं खमासमणाणं जेहिं इमं वाइअं दुवालसंगं गणिपिडगं भगवंतं, तंजहा—सम्मं काएणं फासंति पालंति पूरंति तीरंति किट्टंति सम्मं आणाए आराहंति अहं च नाराहेमि तस्स मिच्छामि दुक्कडं । सुअदेवया भगवई, नाणावरणीअकम्मसंघायं । तेसिं खवेउ सययं, जेसिं सुअसायरे भत्ती ॥ १ ॥ इति पाक्षिकसूत्रं समाप्तं ॥

येश्चेदं द्वादशाङ्गं भगवन्तं माहात्म्यवत्, यतः ' सव्वनईणं जा होज्ज वालुया सव्वउदहि जं सलिलं । एत्तोवि अणंतगुणो अत्थो एगस्स सुत्तस्स ' । १ । एवं भगस्य रूपस्य निर्दोषत्वात्, तथा यशसः श्रियः धर्म्मस्य प्रयत्नस्य स्थानस्य । वाचितं तत्सा—ते सम्यक्कायेन स्पृशन्ति क्रियया, पालयन्ति पुनः पुनः करणाद्रक्षन्ति, पूरयन्ति मात्राक्षरादिभिः शोधयन्ति मनः शुद्ध्या, तीरयन्ति अविस्मृतं जन्मपारं नयन्ति, कीर्त्तयन्ति स्वनामभिः स्वाध्यायार्थं वदन्ति, आज्ञयाऽऽराधयन्ति । अहं च प्रमादान्नाराधयामि । तस्येति तस्याराधनायां मिथ्यादुःकृतं मे । श्रुतान्ते श्रुतदेवतां वक्ति—'सुयदे०' श्रुतदेवता श्रुताधिष्ठात्री देवता भगवती माहात्म्यवती, तेषां ज्ञानावरणीयकर्म्मसंघातं स्मरणेन क्षपयन्तु क्षपणाय सान्निध्यं करोतु येषां सततं श्रुतसागरे भक्तिः स्यात्, यतः कल्पभाष्ये ' सव्वं च लक्खणोवेयं समहिट्ठंति देवया । सुत्तं च लक्खणोवेयं जेणं सव्वण्णुभासियं ' । २ । ततः श्रुताधिष्ठात्री स्यात् । समाप्तं पाक्षिकसूत्रं ।

नमो उवहिया पक्खियपडिक्कमणसुत्तकित्तणानन्तरमाणे विहिणा निसीइत्ता करेमि भंते सामाइयमित्यादि सव्वं निवि·

ट्ठपडिकमणं कड्ढित्ता उद्धट्ठिया अब्भुट्ठिओमित्ति एयमाइयं वंदामि जिणे चउवीसंति पज्जवसाणं सुत्तं कड्ढन्ति, कड्ढिए य करेमि भंते सामाइयमिच्चाइ काउस्सग्गदंडगमुच्चारणपुरस्सरं उद्धट्ठिया चेव मुलुत्तरगुणेसु जं खंडियं तस्स पायच्छित्तनिमित्तं उस्सासंसयतिगपरिमाणं १२ उज्जोयगरकाउस्मग्गं करेन्ति, चाउम्मासिए पंचसयउस्सासमाणं वीसउज्जोयगरेहिं, संवच्छरिए अट्ठोत्तरसहस्सुस्सासमाणं चत्तालीसउज्जोयगरेहिं नमोकारेहिं च, तओ विहिणा पारित्ता चउवीसत्थयं पढन्ति । तओ पच्छा उवविट्ठा मुहणंतगं कायं च पडिलेहित्ता किइकम्मं करेन्ति । तओ धरणियलनिहियजाणुकरयलुत्तमंगा भणन्ति ' इच्छामि खमासमणो अब्भुट्ठिओमि अब्भिंतरपक्खियं खामेउं पन्नरसण्हमि 'त्यादि—

**इच्छामि खमासमणो अब्भुट्ठिओमि अब्भिन्तरपक्खियं खामेउं पन्नरसण्हं दिवसाणं पन्नरसण्हं राईणं जं किञ्चि अपत्तियं परपत्तियं भत्ते पाणे विणए वेयावच्चे आलावे संलावे उच्चासणे समासणे अन्तरभासाए उवरिभासाए जं किञ्चि मज्झ विणयपरिहीणं सुहुमं वा बायरं वा तुब्भे जाणह अहं न याणामि तस्स मिच्छामि दुक्कडं ॥**

ननु सामन्नविसेसओ य पक्खियखामणं कयन्तो किं पुणो इयाणिं पक्खियं खामेह ? उच्यते, काउस्सग्गे ठियाणं सुहभावमुवगयाणं किं चावराहपयं सुमरियं हुज्जा । तस्स खामणानिमित्तं अहवा आणा चेव पमाणंति । ततो यथा राजानं पुष्पबटवोऽतिक्रान्ते मङ्गलकार्ये बहुमन्यन्ते, यथाऽखण्डितबलस्य ते सुष्ठु कालो गतोऽन्योऽप्येवमेवोपस्थितपाक्षिकं विनयो—

प्चारं द्वितीयक्षामणकसूत्रेण गुरोः साधवः कुर्युः, यथा ' इच्छामि खमासमणो पियं च मे० '

इच्छामि खमासमणो पिअं च मे जं भे हट्ठाणं तुट्ठाणं अप्पायंकाणं अभग्गजोगाणं सुसीलाणं सुव्वयाणं सायरियउवज्झायाणं नाणेणं दंसणेणं चरित्तेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणाणं बहुसुभेण भे दिवसो पोसहो पक्खो वइक्कंतो अन्नो य भे कल्लाणेणं पज्जुवट्ठिओ सिरसा मणसा मत्थएण वंदामि ॥ तुब्भेहिं समं ॥

हे क्षमाश्रमण ! श्राम्यतीति श्रमणः क्षमाप्रधानः श्रमणः क्षमाश्रमणस्तस्याह्वानं । इच्छामि अभिलषामि, एतत् प्रियं च मे यद्भे भवतां हृष्टानां समर्थानां, तुष्टानां सन्तोषवतां, अल्पातंकानां अरोगानां, अभग्नयोगानां योगः स्वाध्यायाद्यावश्यकादिव्यापारः, सुशीलानां, सुव्रतानां शीलान्युत्तरगुणाः व्रतानि मूलगुणाः । साचार्योपाध्यायानां अनुयोगाचार्यसहितानां । ज्ञानेन दर्शनेन चारित्रेण तपसात्मानं भावयतां ज्ञानाचारादीन् कुर्वतां बहुशुभेन ईषदूनकल्याणेन भवतां पूर्णशुभाभावात् । भे भवतां ! दिवसः पौषधो धर्मपौषधः पर्वरूपः पक्षोऽर्द्धमासरूपो व्यतिक्रान्तः । अन्यश्च पक्षः कल्याणेन पर्युपस्थितः प्रक्रान्तः ' सिरसा ' इत्यादिचूर्ण्योर्नि, तथाऽहं युष्मान् शिरसा कायेन मनसा मस्तकेन वन्दे इति भावः नमामि मस्तकेन वन्दे । इतिवन्दश्च नमतो ज्ञेयः, यथा गवां गोपालः स्वामी । अत्र गुरुवाक् ' तुब्भेहिं समं ' साधुभिः समं जातमिति । पुनः ' इच्छामि खमासमणो० '

इच्छामि खमासमणो पुव्विं चेइआइं वंदित्ता नमंसित्ता तुब्भण्हं पायमूले विहरमाणेणं जे केइ बहुदेवसिया साहुणो दिट्ठा समाणा वा वसमाणा गामाणुगामं दूइज्जमाणा वा राइणिया संपुच्छंति ओमराइणिया वंदंति, अज्जया वंदंति, अज्जियाओ वंदंति, सावया वंदंति, साविियाओ वंदंति, अहंपि निस्सल्लो निक्कसाओत्तिकट्टु सिरसा मणसा मत्थएण वंदामि ॥ अहमवि वंदावेमि चेइआइं ॥ मत्थएण वंदामि अहंपि तेसिं ॥

हे क्षमाश्रमण ! इच्छामि चैत्यसाधुवन्दनं भवतां ज्ञापयितुं इत्याह–' पुव्विं चेइआइं ' पूर्वं युष्माकं पादमूले चैत्यान्यर्हत्प्रतिमा वन्दित्वा स्तुत्वा नमंसित्वा नत्वा संघसत्कचैत्यवन्दनां करोमीति प्रणिधानात्। ततो विहरता ये के बहुदिवसपर्यायाः साधवो दृष्टाः ' समाणा ' वा जंघाबलहीना नवभागान् क्षेत्रं कृत्वा विहरन्तो वृद्धवासे स्थिताः। वसमाना नवकल्पविहारिणस्तत्राष्टमासैरष्टकल्पाः, नवमकल्पो वर्षा चतुर्मासरूपः। तथा ग्रामानुग्रामं ग्रामादन्यो ग्रामो ग्रामानुग्रामः तं, द्रवन्तो यान्तः, रात्निका धर्म्मरत्नव्यवहारिणः सूरय इत्यर्थः। मां संप्रश्नयन्ति भवदारोग्यादिवार्त्तामिति भावः। अवमरान्तिका लघुपर्यायसूरयो वन्दन्ते पृच्छन्ति च कुशलं।आर्यकाः सामान्यसाधवो वन्दन्ते, आर्यिकाः साध्व्यः, श्रावकाः श्राविकाश्च वन्दन्तेऽहमपि निःशल्यो मायादिरहितः निःकषायस्तान् साधून् वन्दे वन्दितवानित्यर्थः। ' अहमवि वन्दावेमि चेइआइं ' तान् दृष्टसाध्व्यादीन् चैत्यानि वन्दापयामि वन्दापितवानित्यर्थः। यथा मयाऽत्र चैत्यानि युष्मदर्थं

नतानि तानि यूयं वन्दध्वमिति एवं शिष्योक्ते गुरुः 'मत्थएण वंदामि अहंपि तेसिं' अहमपि तान् साधून् वन्दे। अन्ये आहुः 'अहमपि वन्दावेमो 'त्ति, तिकट्टुशब्दो न दृश्यते। अथ तृतीयक्षामणकसूत्रेणात्मनिवेदनं कुरुते—

इच्छामि खमासमणो उवट्ठिओमि तुब्भण्हं संतिअं अहाकप्पं वा वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुच्छणं वा (रयहरणं वा) अक्खरं वा पयं वा (गाहां वा)सिलोगं वा (सिलोगद्धं वा) अट्ठं वा हेउं वा पसिणं वा वागरणं वा तुब्भेहिं चिअत्तेणं दिन्नं मए अविणयेण पडिच्छिअं तस्स मिच्छामि दुक्कडं ॥ आयरियसंतिअं ॥

'इच्छामि० उवट्ठिओमि०' उपस्थितः सज्जोऽस्मि। आत्मदोषक्षामणायाह–युष्मत्सत्कं यथाकल्पं शुद्ध्यमानं, वा एवार्थे, वस्त्रं वा, पतद्ग्रहं पात्रं वा, कम्बलं वा, पादप्रोञ्छनं रजोहरणं वा, तथाऽक्षरं वा, पदं वा, गाथां वा, श्लोको वा, श्लोकार्द्धं वाऽर्थः आगमस्य, हेतुः कारणं, प्रश्नः पृच्छा, व्याकरणं उत्तरं, युष्माभिः प्रीत्या दत्तं। मयाऽविनयेन प्रतीप्सितं। तस्य मिथ्या मे दुष्कृतं। गुरुराह–'आयरियसंतिअं' पूर्वाचार्यसत्कमेतत् किं ममात्रेति गर्वत्यागो गुरुषु भक्तिरुद्यापना च। अथ पश्चात्तः शिक्षणादिमनुग्रहं मन्वान आह—

इच्छामि खमासमणो अहमपुव्वाइं कयाइं च मे किइकम्माइं आयारमंतरे विणयमंतरे

सेहिओ सेहाविओ संगहिओ उवग्गहिओ सारिओ वारिओ चोइओ पडिचोइओ चिअत्ता मे पडिचोयणा ( अब्भुट्ठिओहं ) उवट्ठिओहं तुब्भण्हं तवतेयसिरीए इमाओ चाउरंतसंसारकंताराओ साहट्टु नित्थरिस्सामित्तिकट्टु सिरसा मणसा मत्थएण वंदामि ॥ नित्थारगपारगा होह ॥

हे क्षमाश्रमण ! इच्छामि अपूर्वाणि कृतिकर्म्माणि कर्त्तुमिति शेषः । कृतानि भवतां वा कृतिकर्म्माणि वैयावृत्त्यानि पूर्वं आचारं अन्तरेण युक्तिं विनेत्यर्थः, विनयं अन्तरेण विनयं विना ज्ञानाद्याचारक्रियाया अकरणेन अभ्युत्थानादिविनयाकरणेनेत्यर्थः । सेधितो निःपादितः, सेधापितो वा उपाध्यायादिभिः, तथा संगृहीतः शिष्यत्वेनाश्रितः, उपगृहीतो ज्ञानादिभिरुपष्टंभितः, स्मारितो विस्मृतपुण्यक्रियासारणेन, वारितोऽनाचारात् । नोदितः स्खलिते सति मैवं कार्यमिति । प्रतिनोदितं पुनः पुनः स्खलिते निष्ठुरवचनेन, एवं चासौ प्रीतिदा मे प्रतिनोदना, उपस्थितः सावधानोऽहं श्रामण्यस्य, तथा युष्माकं तपस्तेजःश्रियाऽहं अस्माचातुरन्तसंसारकान्ताराच्चतुर्गतिकसंसाररचनात् संहृत्य कषायादिभ्य आत्मानं विनिवृत्य निस्तरिष्यामि, 'इतिकट्टु' इति कृत्वा शिरसा मनसा० । अत्र गुरुर्निस्तारका भवदुःखानां पारगा भवन्तु । अत्रशेषं अग्रे यत् प्रतिक्रान्तं तस्मादग्रेतनं दैवसिकं प्रतिक्रामत । अत्र गुरुवाक्–' अहमवि खामेमि तुब्भेहिं समं । एवं अन्यर्षीणामपि क्षामणं वन्दनं च देयं, उत्सूरे व्याघाते वा सप्तानां–५–३–साधूनां कार्यं । ततो दैवसिकप्रतिक्रमणं केचित्सामान्येन प्रतिक्रम्यतेऽन्ये तु क्षामणादि क्रियते । अन्ये तु वा चारित्रोत्सर्गादि क्रियते इत्यादि । पच्छा देवसियं पडिकमन्ति,

तत्थ खामणानिमित्तं किइकम्मं करित्ता भणन्ति, इच्छामि खमासमणो उवट्ठिओमि अब्भितरदेवसिउं खामेउं जं किंचि अप० पच्छा माहुदुगं खामन्ति। तओ आयरियस्स अछियावणनिमित्तं किइकम्मं करिंति। तओ कयसामाइयाइसुत्तुच्चारणा गारत् सिद्धस्तुतेरनु शय्यासुर्या उत्सर्गं कुर्युः। तत्र सप्तविंशत्युच्छ्वासाः स्युः, आवश्यकचूर्णौ, आयरणाओ अट्ठत्ति। ततो मुखवस्त्रिकाप्रतिलेखनादि जाव आयरिया वद्धमाणीओ सरेणं छंदगा वा तिन्नि थुईओ भणंति। इमेवि अंजलिमउलियग्गहत्था एक्केक्काए नम्मत्तीए नमोक्कारं करेंति शिरसा नमन्तीत्यर्थः। केऽपि नमो खमासमणाणं ति आहुः। सेसगावि तिन्नि थुईओ तहेव भणन्ति। तं रयणिं नेव सुत्तपोरिसी नेव अत्थपोरिसी थयथुइओ भणंति। जस्स जत्तियाओ इंति इति पा० चू०। आवश्यकचूर्णौ तु ३ स्तुतीरक्षरैः श्लोकैः स्वरेण वर्द्धमानो गुरुर्भणति शिरःकृताञ्जलिरेवं पाक्षिकप्रतिक्रमणे आचरणानुसारेण नान्यथा विधिं किञ्चिद्वदन्ति, वृत्तौ चातुर्मासिके पञ्चशतोच्छ्वासोत्सर्गः वार्षिकेऽष्टोत्तरसहस्रोत्सर्गः कार्यः। 'चाउ'

चाउम्मासियवरिसे, आलोअण नियमसो हु दायवा। गहणं अभिग्गहाण य, पुवगहिए निवेएउं॥२३५॥

चातुर्मासिके वार्षिके च आलोचना नियमाद्दातव्या गुरूणां, ततः प्रतिक्रामन्ति, गुरुभिस्तु शान्तः पञ्चकल्याणं देयं। साधवः प्राग्गृहीताभिग्रहाणां निवेदनं कृत्वा नवाऽभिग्रहाणां ग्रहणं कुर्वन्ति, अनभिग्रहैर्न स्थेयं। सम्यगपालितेषु कुजितकर्करायितकायोत्सर्गः कार्यः। वार्षिकावश्यके कृते प्रादोषिककाले पर्युषणाकल्पः कथ्यः। सो पुण पुव्विं चेव अणागयं पंचरत्तेण कड्ढिज्जइ। आग० वृत्तौ देवसिओ कड्ढिउं चेव न कप्पइ, नावि संजइगिहत्थपासंडीणं पुरओ जत्थवि खित्तं पडुच्च कड्ढिज्जइ अहाणंदपुरे मूलचेइयघरे दिवसओ सवजणसमक्खं कड्ढिज्जइ। तत्थवि साहू न कड्ढइ। पासत्थो कड्ढइ तं साहू

सुणिज्ञा, न दोसा, पासत्थाण कड्ढगस्स असइ दंडिगेण सड्ढेहिं वा अब्भुत्थिओ ताहे दिवसओवि कड्ढइ। तत्थ इमो विही, अणागयं चेव पंचरत्तेणं अप्पणो उवस्सए पाउसिए आवस्सए कए कालं घित्तु काले सुद्धे असुद्धे वा पट्ठवित्ता कड्ढिज्जइ। एवं चउसु राईसु, पज्जोसवणाराईए पुण कड्ढिए सवे साहवो समप्पावणियं काउस्सग्गं करेन्ति, पज्जोसवणाकप्पसमप्पावणियं करेमि काउस्सग्गं, लोगस्सुज्जोयगरं चिन्तिऊण उस्सारित्ता लोगस्सु० कड्ढित्ता सवे साहवो निसीयंति जेण कड्ढिओ सो ताहे कालस्स पडिकमइ। ताहे वरिसाकालट्ठवणा ठविज्जइ, तंजहा ऊणोयरिया कायवा, विगइनवगपरिच्चाओ कायवो इत्यादि। पक्खचाउमाससंवच्छरेसु जहक्कमं चउत्थछट्ठट्ठमतवो चेइयवंदणपरिवाडी सड्ढाणं धम्मकहाइ कथेंति इति पाक्षिकचू० ॥ २३५ ॥ अथ भाष्यं–' चाउ '

**चाउम्मासियवरिसे, उस्सग्गो खित्तदेवयाए उ। पक्खिय सिज्जसुरीए, करिंति चउमासिए वेगे ॥२३६॥**

चातुर्मासिके क्षेत्रदेवतायाः कायोत्सर्गः कार्योऽवग्रहानुमतियाचनरूपः, सप्तविंशत्युच्छ्वासः। पाक्षिके शय्यासूर्याः कायोत्सर्गः, एके आचार्याश्चातुर्मासिकेऽपि शय्यासुर्युत्सर्गं कुर्वन्ति॥ २३६ ॥ ' देसि '

**देसियराइयपक्खिय–चउमासे या तहेव वरिसे य। एएसु हुंति नियया, उस्सग्गा अनिअया सेसा ॥**

दैवसिकादिप्रतिक्रमणेषु कायोत्सर्गा नियता एव। शेषा गमनादिविषया अनियताः ॥ १५२४ ॥ नियतकायोत्सर्गाणां उच्छ्वाससङ्ख्यामाह–' साय '

साय सयं गोसऽद्धं, तिन्नेव सया हुंति पक्खंमि। पंच य चाउम्मासे, अट्ठसहस्सं च वारिसए ॥१५२५॥

सन्ध्यायां १०० उच्छ्वासाः त्रिभिरुत्सर्गैः स्युः। 'गोसे' प्रातरर्द्धं ५० उच्छ्वासाः, त्रीणि शतान्युच्छ्वासाः पक्षे, पञ्चशतानि चातुर्मासिके, अष्टोत्तरसहस्रं वर्षे स्युः ॥ १५२५ ॥ 'चत्ता'

चत्तारि दो दुवालस, वीसं चत्ता य हुंति उज्जोआ। देसिअ राइय पक्खिअ, चाउम्मासे अ वरिसे य ॥

दैवसिके नाम ४, प्रातः ३ 'लोगस्सुज्जोयगरे' इत्यादि, पाक्षिके १२, चातुर्मासिके २०, वार्षिके ४० लोकोद्योतकरेभ्योऽनुनमस्कारो गम्यः। नमस्कारे च द्वावेव श्लोकौ विवक्षितौ एकः परमेष्ठिपदैरेकश्चूलिकायाः। नमस्कारे सप्तभिः पदैः सप्तोच्छ्वासाः, अष्टमो अष्टमनवाभ्यां पदाभ्यां ॥ १५२६ ॥ 'पण' 'गम'

पणवीसमद्धतेरस, सिलोग पन्नत्तरिं च बोद्धवा। सयमेगं पणवीसं, बे बावन्ना य वारिसिए ॥१५२७॥

गमणागमणविहारे, सुत्ते वा सुमिणदंसणे राओ। नावानइसंतारे, इरियावहियापडिक्कमणं ॥१५२८॥

क्रमेण चतुःपादरूपश्लोकसङ्ख्या, तत्र पञ्चविंशतिश्लोका दैवसिके, सार्द्धद्वादश रात्रिके श्लोकाः, पञ्चसप्ततिः पाक्षिके, शतं एकं पञ्चविंशत्यधिकं चातुर्मासिके। वार्षिके 'बे बावन्ने'ति २५२ श्लोकाः, यतः परमेष्ठिपदैः श्लोकः १ चूलिकाया द्वितीयः २। अनियतोत्सर्गद्वाराणि गमनागमने १ विहारे २ सूत्रेऽधीयमाने वा ३ रात्रौ स्वप्नदर्शने ४ नावा नद्याः संतरणे ५ ऐर्यापथिकीप्रतिक्रमणं स्यात् ॥ १५२७-२८ ॥ भाष्यं-'भत्ते'

११

**भत्ते पाणे सयणासणे य, अरिहन्तसमणसिज्जासु । उच्चारे पासवणे, पणवीसं हुंति उस्सासा ॥२३७॥**

भक्तार्थमन्यग्रामादौ गताः सवारायां (अवेलायां) ऐर्यापथिकीं प्रतिक्रम्य २५ उच्छ्वासोत्सर्गं कृत्वा स्वाध्यायं पठंति । आयातास्तु पुनः प्रतिक्रामन्ति । एवं शयनं संस्तारः स्थानं वासनं पीठादि, तदर्थं गता आगताश्च । अर्हच्चैत्यसाधुवसतौ च गताश्चेन्मूहूर्त्तं तिष्ठेयुर्हस्तशताद्बहिश्चेद्गतास्तदा प्रतिक्रामन्ति । तथा उच्चारे प्रश्रवणे च प्रस्थापिते ईर्यापथिकया पञ्चविंशत्युच्छ्वासाः ॥ २३७ ॥ गतं गमनागमनद्वारं १ । अथ विहारद्वारं–' निय '

**नियआलयाओ गमणं,अन्नत्थ उ सुत्तपोरिसिनिमित्तं। होइ विहारो इत्थवि,पणवीसं हुंति ऊसासा॥१॥(प्र०)**

निजालयादन्यत्र सूत्रपौरुषीनिमित्तं गमनं यत्क्रियते एष विहारो भण्यतेऽत्रापि ईर्यां प्रतिक्रम्य २५ उच्छ्वासोत्सर्गः ॥१॥ विहारद्वारं गतं २ । अथ सूत्रद्वारं ३–' उद्दे '

**उद्देससमुद्देसे, सत्तावीसं अणुन्नवणियाए । अट्ठेव य ऊसासा, पट्ठवणपडिक्कमणमाई ॥ १५२९ ॥**

सूत्रे उद्देशसमुद्देशयोरनुज्ञासु च सप्तविंशतिरुच्छ्वासाः, शय्याक्षेत्रसूर्योश्चोत्सर्गे २७ उच्छ्वासाः, स्वाध्यायप्रस्थापने गोचरचर्यायाः कालस्य च प्रतिक्रमणे ग्रहणे चाष्टोच्छ्वासाः । आदितः कार्ये यान् एकस्खलितेऽष्टोच्छ्वासोत्सर्गं कृत्वा व्रजेद्, द्वितीये षोडशोच्छ्वासोत्सर्गः तृतीये स्खलिते स्वयं न यात्यन्यः प्रस्थाप्यतेऽवश्यकार्ये देवान् वन्दित्वा पुरतोऽन्यसाधुं कृत्वा तेन सह गच्छेत् । तथा श्रुतस्कन्धगुणनं मङ्गलार्थं कायोत्सर्गं अष्टोच्छ्वासं कृत्वा कार्यं ॥ १५२९ ॥ ' जुज '

ज्ञुन्नइ अकालपढियाइएसु, दुद्दुट्ठु अ पडिच्छियाईसु। समणुन्नसमुद्देसे, काउस्सग्गस्स करणं तु ॥१५३०॥

अकालपठितादिषु, आदिशब्दाच्छ्रुतहीलादिषु, दुष्टु च प्रतीच्छितेषु, समुद्देशानुज्ञयोः कायोत्सर्गकरणं युज्यते ॥ १५३० ॥ 'जं पु'

जं पुण उद्दिसमाणा, अणइक्कंतावि कुणह उस्सग्गं। एस अकओवि दोसो, परिघिप्पइ किं मुहा भंते!?१५३१

यत्पुनरुद्दिशन्तोऽनतिक्रान्ताः श्रुतातीचारहीना अपि कायोत्सर्गं कुरुत। हे भदंत! एषोऽकृतो दोषो मुधा किं परिगृह्यते? ॥ १५३१ ॥ गुरुः 'पावु'

पावुग्घाई कीरइ, उस्सग्गो मंगलंति उद्देसो। अणुवहियमंगलाणं, मा हुज्ज कहिंचि णे विग्घं ॥१५३२॥

पापोद्घाती पापहन्ता कायोत्सर्गो मङ्गलमिति उद्देशे क्रियतेऽनुपहितमङ्गलानां कथंचन विघ्नं माऽस्तु ॥ १५३२ ॥ गतं द्वारं ३। रात्रौ स्वप्नद्वारमाह 'पाण'

पाणवहमुसावाए, अदत्तमेहुणपरिग्गहे चेव। सयमेगं तु अणूणं, ऊसासाणं हविज्जाहि ॥ १५३३ ॥

स्वप्ने प्राणवधादिष्वासेवितेषु शतमेकमन्यूनमुच्छ्वासानां भवेत् ॥ १५३३ ॥ तथा उक्तं च 'दिट्ठीविप्परियासे, सयमेहुणंमि थीविप्परियासे। ववहारेणट्ठसयं, अणभिस्संगस्स साहुस्स' ॥ १ ॥ स्वप्ने दृष्टिविपर्यासे सरागदृशि जातायां तथा स्वयं मैथुने कृते तथा स्त्रीविपर्यासे स्त्रीभोगे कृते व्यवहारेणाचरणेनानभिष्वङ्गस्य साक्षान्मैथुनासेविनः साधोरष्टोत्तरं शतं

उच्छ्वासाः स्युः । १ । गतं रात्रिस्वप्नद्वारं ४ । ' नावा नइसंतारणे ' इत्याह–' नावा '

**नावा(ए) उत्तरिउं, वहमाई तह नइं च एमेव। संतारेण चलेण व, गंतुं पणवीस ऊसासा ॥१॥ (प्र०)**

नावा वहादीनुत्तीर्य तथा नदीं चैवमेव नावादिनोत्तीर्य तेन संतारेण पद्यया चलेन स्पन्दयता गन्तुं पञ्चविंशत्युच्छ्वासोत्सर्गः कार्यः । चलया पद्यया गच्छतां क्रमरेण्वादिपातेऽश्मादीनां जलस्पर्शेऽप्कायविराधनात् ॥ १ ॥ अन्यकृतेयं । गतं नावा नदीतरणद्वारं ५ । अष्टोच्छ्वासमानमाह–' पाय '

**पायसमा ऊसासा, कालपमाणेण हुन्ति नायव्वा । एयं कालपमाणं, उस्सग्गेणं तु नायव्वं ॥ १५३४ ॥**

कालप्रमाणेन पदसमा उच्छ्वासा ज्ञातव्याः, कोऽर्थः पदस्य पदस्यान्ते उच्छ्वासो ग्राह्यः । एवं उच्छ्वाससङ्ख्ययोत्सर्गे ज्ञातव्यं ॥ १५३४ ॥ गतं सप्रपञ्चं ' निक्खेवेगट्ठविहाण ' इत्यादिमूलगाथासम्बन्धिभेदप्रमाणद्वारं, अथास्या एवाशठद्वारं । तत्र साधुना स्वहिताय शक्त्यापेक्षमुत्सर्गे स्थेयं, अन्यथाकरणे बहुदोषा यतो भाष्यं–' जो ख '

**जो खलु तीसइवरिसो, सत्तरिवरिसेण पारणाइसमो। विसमे व कूडवाही, निव्विन्नाणे हु से जड्डे ॥२३८॥**

यस्त्रिंशद्वर्षः सन्, खलुशब्दाद्बलवानातङ्करहितः सप्ततिवर्षेणान्येन वृद्धेन साधुना सह कायोत्सर्गस्य पारणे समः स्यात्, प्रारम्भेण समाप्त्या च तुल्यः । स विषमे टींबके कूटवाही चक्रवाही वृषभ इव न चटति, स निर्विज्ञान एव जडः स्वहितज्ञानशून्यो ज्ञेयः, यतः सम्यक्कायोत्सर्गकृतिः स्वहितायैव स्वकर्मक्षयफलत्वात् । दृष्टान्तमेव विवृणोति ॥ २३८ ॥ ' सम '

समभूमेवि अइभरो, उज्जाणे किमुअ कूडवाहिस्स ?। अइभारेणं भज्जइ, तुत्तयघाएहि अ मरालो ॥२३९॥

समभुव्यपि अतिभरः सन् दुष्टगौर्न याति, किमुत उद्याने ऊर्ध्वं याने टींबकादौ कूटवाहिनो गोः कथ्यते ? यतो नक्रवाही गौरतिभारेण भज्यते तस्यैवातिभारो जायते । तोत्रकघातैः प्रतोदघातैश्चोद्यमानो मरालो गलिगौस्तुद्यति ॥ २३९ ॥ 'एमे' 'माया'

एमेव बलसमग्गो, न कुणइ मायाइ सम्ममुस्सग्गं । मायावडिअं कम्मं, पावइ उस्सग्गकेसं च ॥१॥प्र०

मायाए उस्सग्गं, सेसं च तवं अकुव्वओ सहुणो । को अन्नो अणुहोही सकम्मसेसं अणिज्जरियं ? ॥१५३५॥

एवमेव बलसमग्रो मायया, सम्यगुत्सर्गं, मायाप्रत्ययं कर्म्म स प्राप्नोति । कायोत्सर्गक्लेशं च निःफलं प्राप्नोति, सर्वमनुष्ठानं निर्मायस्यानपेक्षस्य शक्त्या कुर्वतः फलतीत्यर्थः ॥ १ ॥ अन्यकृतेयं । मायादोषानाह–मायया कायोत्सर्गं शेषमुपवासादि च तपोऽकुर्वतः सहस्य समर्थस्य कोऽन्योऽनु भविष्यति स्वकर्मशेषं सम्यक्त्वाप्तेरनु शेषं उत्कृष्टं वर्त्तमानं अनिर्जरितं ? ततश्च ॥ १५३५ ॥ 'निकू'

निकूडं सविसेसं, वयाणुरूवं बलाणुरूवं च । खाणुव्व उद्धदेहो, काउस्सग्गं तु ठाइज्जा ॥ १५३६ ॥

निःकूटं सविशेषं वयोऽनुरूपं वयोयोग्यं बलानुरूपं च कायोत्सर्गं स्थाणुवदूर्ध्वदेहः कुर्यात् ॥ १५३६ ॥ अथ वयोबले आश्रित्य विधिः–' तरु '

**तरुणो बलवं तरुणो अ,दुब्बलो थेरओ बलसमिद्धो। थेरो अबलो चउसुवि,भंगेसु जहाबलं ठाई ॥१५३७॥**

तरुणो बलवान् १, तरुणो दुर्बलः २, स्थविरो बलसमृद्धः ३, स्थविरोऽबलश्च ४। चतुर्ष्वपि भङ्गेषु यथाबलं यथाशक्त्योत्सर्गे तिष्ठति न तु गर्वात्। यतः शिशोरपि गर्वाद्वृद्धतुल्यं उत्सर्गं कुर्वतोऽबलतया ग्लानत्वं जायते ॥ १५३७ ॥ गतमशठद्वारं ७। अथ शठः–' पय '

**पयलायइ पडिपुच्छइ, कंटयवियारपासवणधम्मे। नियडी गेलन्नं वा, करेइ कूडं हवइ एयं ॥१५३८॥**

कायोत्सर्गकाले मायया प्रचलायते निद्राति, प्रतिपृच्छति सूत्रमर्थं वा, कंटकमपनयेत्, तथा विचाराय पुरीषोत्सर्गाय याति। प्रश्रवणं मूत्रं तनुते, धर्म्मं कथयति। निकृत्या मायया ग्लानत्वं स्वस्य करोति। एवं कूटं अनुष्ठानं भवति ॥१५३८॥ गतं शठद्वारं। अथ विधिः–' पुवं '

**पुवं ठंति य गुरुणो, गुरुणा उस्सारियंमि पारेंति। ठायंति सविसेसं, तरुणा उ अनूणविरिया उ ॥१५३९॥**

गुरोः पूर्वं कायोत्सर्गं तिष्ठन्ति। गुरुणोत्सर्गे पारिते पारयन्ति। तरुणा अन्योन्यवीर्योन्मिथो बलविशेषाः सविशेषं कायोत्सर्गं कुर्वन्ति ॥ १५३९ ॥ ' चउ '

**चउरंगुल मुहपत्ती, उज्जूए डब्बहत्थ रयहरणं। वोसट्ठचत्तदेहो, काउस्सग्गं करिज्जाहि ॥ १५४० ॥**

चतुरङ्गुलानि पदोरन्तरं कार्यं। मुखपोतिः ऋजौ दक्षिणहस्ते, वामे हस्ते रजोहरणं। व्युत्सृष्टः परीषहसहतया त्यक्तोऽ-

ममतया देहो येन ईदृग् सन् कायोत्सर्गं कुर्यात् ॥ १५४० ॥ गतं विधिद्वारं ८ । अथ दोषाः–' घोड ' ' सीसु '

**घोडग लयाइ खंभे, कुड्डे माले अ सवरि वहुनियले। लंवुत्तर थण उद्धी, संजय खलि[णे य]वायसकविट्ठे ॥ सीसुकंपिय मूई, अंगुलिभमुहा य वारुणी पेहा। नाहीकरयलकुप्पर, उस्सारिय पारियंमि थुई ॥१५४२॥**

घोटकदोषः १, लतादोषः २, स्तम्भकुड्यदोषः ३, एवं मालदोषः ४, शवरी ५, वधू ६, निगड ७, लम्बोत्तर ८, स्तन ९, उद्धि १०, संयती ११, खलिन १२, वायस १३, कपित्थ १४, शीर्षकम्प १५, मूक १६, अङ्गुलिभ्रू १७, वारुणी १८, प्रेक्षा १९ दोषाः कायोत्सर्गे ज्ञेयाः । नाभेरधश्चोलः कार्यः, करतले अधःकार्ये कूर्परेण चोलो धार्यः । हस्तयोरुत्सारितयोः ऊर्ध्वीकृतयोर्नमस्कारेण पारिते उत्सर्गे स्तुतिर्जिनानां भण्यते ॥ १५४१–४२ ॥ दोषव्याख्यागाथा वृत्त्यव्याख्याताः–' आसोव्व विसमपायं, गायं ठावित्तु ठाइ उस्सग्गे। कंपइ काउस्सग्गे, लयव्व खरपवणसंगेणं ' ॥ १ ॥ अश्व इव विषमं पादं आकुञ्च्य यः कायोत्सर्गं तिष्ठन्ति १ । कायोत्सर्गे खरपवनसङ्गेन लतेव कम्पते २ ॥ १ ॥ ' खंभे वा कुड्डे वा, अवठंभिय ठाइ काउस्सग्गं तु । माले य उत्तमंगं, अवठंभिय ठाइ उस्सग्गं ' ॥ २ ॥ स्तम्भे कुड्ये वाऽवष्टभ्य कायोत्सर्गे तिष्ठति ३ । माले ऊर्ध्वं लगयित्वोत्तमाङ्गं शिर उत्सर्गे तिष्ठति ४ ॥ २ ॥ ' सवरी वसणविरहिया, करेहि सागारियं जह ठवेइ । ठइऊण गुज्झदेसं, करेहि तो कुणइ उस्सग्गं ' ॥ ३ ॥ शवरी वस्त्ररहिता कराभ्यां सागारिकं गुह्यं स्थगयति इति गुह्यदेशे करौ स्थापयित्वोत्सर्गं करोति ५ ॥ ३ ॥ ' अवणामिउत्तमंगो, काउस्सग्गं जहा कुलवहुव । नियलियओविव चलणे, वित्था-

रिय अहव मेलविउं ' ॥ ४ ॥ यथा कुलवधूरवनतोत्तमाङ्गा स्यात्तथा वधूवदवनामितोत्तमाङ्गः कायोत्सर्गे तिष्ठति ६ । निगडित इव चरणौ विस्तार्याथवा मेलयित्वा वोत्सर्गं करोति ७ ॥ ४ ॥ ' काऊण चोलपट्टं, अविधीए नाभिमंडलस्सुवरिं । हिट्ठा य जाणुमित्तं, चिट्ठई लंबुत्तरुस्सग्गं ' ॥ ५ ॥ चोलपट्टं अविधिना नाभिमण्डलस्योर्ध्वं कृत्वाऽधस्ताज्जानुमात्रं तिष्ठति । कायोत्सर्गे एष लम्बोत्तरदोषः ८ ॥ ५ ॥ ' अच्छाईऊण य थणे, चोलगपट्टेण ठाइ उस्सग्गं । दंसाइरक्खणट्ठा, अहवा अन्नाणदोसेणं ' ॥ ६ ॥ स्तनौ चोलपट्टेनाच्छाद्योत्सर्गे तिष्ठति, कुतः ? दंशादिरक्षार्थं अज्ञानदोषेण ९ ॥ ६ ॥ ' मेलित्तु पण्हियाओ, चलणे वित्थारिऊण बाहिरओ । ठाउस्सग्गं एसो, बाहिरउद्धी मुणेयव्वो ' ॥ ७ ॥ पार्ष्णी मेलयित्वा चरणौ अग्रं विस्तार्य उत्सर्गं करोति । एष बाह्योद्धिदोषो ज्ञातव्यः ॥ ७ ॥ ' अंगुट्ठे मेलविउं, वित्थारिय पण्हियाओ बाहिं तु । ठाउस्सग्गं एसो, भणिओ अब्भिंतरुद्धित्ति ॥ ८ ॥ अङ्गुष्ठौ मेलयित्वा पार्ष्णी पश्चाद्विस्तार्योत्सर्गं तिष्ठत्येषोऽभ्यन्तरोद्धिदोषः १० ॥ ८ ॥ ' कप्पं वा पट्टं वा, पाइणिउं संजइव्व उस्सग्गं । ठाइ य खलिणं व जहा रयहरणं अग्गओ काउं ' ॥ ९ ॥ कल्पं चोलपट्टं वा प्रावृत्य संयतीवोत्सर्गं तिष्ठति संयतीदोषः ११ । खलिनं कविकं यथाग्रतः क्रियते तथा रजोहरणं अग्रतः कृत्वोत्सर्गकृतौ खलिनदोषः १२ ॥ ९ ॥ ' भामेइ तहा दिट्ठिं, चलचित्तो वायसुव्व उस्सग्गे । छप्पइआण भएणं, कुणई अ पट्टं कविट्ठं च ' ॥ १० ॥ यथा वायसो दृष्टिं भ्रामयति तथा वायस इव चलचित्तो दृष्टिं भ्रामयतीति वायसदोषः १३ । षट्पदिकानां भयेन चोलपट्टं कपित्थमिव करोति १४ ॥ १० ॥ सीसं पकंपमाणो, जक्खाइट्ठव्व कुणइ उस्सग्गं । मूयव्व हुअहुअंतो, तहेव छिज्जंतमाईसु ' ॥ ११ ॥ यक्षाविष्टो यक्षग्रस्त इव शीर्षं प्रकम्पमान उत्सर्गं करोति १५ । ' छिज्जंतमाईसु ' छिन्दनादिकुर्वत्सु

जनेषु मूक इव शब्दरहितं हुंहुं कुर्वन् तिष्ठति १६ ॥ ११ ॥ ' अंगुलिभमुहाओवि य, चालंतो तहय कुणइ उस्सग्ग । आलावगगणणट्ठा, संठवणत्थं च जोगाणं ॥ १२ ॥ अङ्गुली भ्रुवौ च चालयन् स्यात्तथा वोत्सर्गं कुर्यात्, किमर्थं ? आलापकगणनार्थं योगानां मनोवाक्कायानां संस्थापनार्थं वा १७ ॥ १२ ॥ ' काउस्सग्गंमि ठिओ, सुरा जहा बुडबुडेइ अव्वत्तं । अणुपेहंतो तह, वानरव्व चालेइ ओट्ठपुडे ' ॥ १३ ॥ कायोत्सर्गे स्थितो बुडबुडायते यथाऽऽम्ला सुराऽव्यक्तं बुडबुडायते १८ । यथा वानरोऽनुप्रेक्षमाणश्चिंतयन् ओष्ठपुटौ चालयत्येवं वानरवदनुप्रेक्षमाण उद्योतकरं चिन्तयन्नोष्ठौ चालयेत्, एष प्रेक्षादोषः १९ ॥ १३ ॥ एए काउस्सग्गं, कुणमाणेण विवुहेण दोसा उ । सम्मं परिहरियव्वा जिणपडिकुट्ठत्तिकाऊणं ' ॥ १४ ॥ एते दोषा जिनैः प्रतिकुष्टा निषिद्धा इतिकृत्वा कायोत्सर्गं कुर्वाणेन विबुधेन सम्यक् परिहार्याः ॥ १४ ॥ उक्तं दोषद्वारं ९ । अथ कस्येति द्वारं १०–' वासी '

वासीचंदणकप्पो, जो मरणे जीविए य समसण्णो । देहे य अपडिबद्धो, काउस्सग्गो हवइ तस्स ॥१५४३॥

वासी काष्ठघटनशस्त्रं तेन तक्षणे तथा चन्दनेन विलेपनेऽपि कल्पः सम एव माध्यस्थेन, एवं परं प्रति समता । यो मरणे जीवितेऽपि समसंज्ञः समबुद्धिः एवं स्वस्मिन् समता । देहे चाप्रतिबद्धश्चशब्दादुपकरणादौ च । तस्य कायोत्सर्गो यथोक्तफलः स्यात् ॥ १५४३ ॥ तथा ' तिवि '

तिविहाणुवसग्गाणं, दिव्वाणं माणुसाण तिरियाणं । सम्ममहियासणाए, काउस्सग्गो हवइ सुद्धो ॥१५४४॥

त्रिविधानां उपसर्गाणां दिव्यानां व्यन्तरादिकृतानां मानुषाणां म्लेच्छानां तैरश्चानां सिंहादिकृतानां सम्यग् माध्य-

**अन्नं इमं शरीरं, अन्नो जीवुत्ति एव कयबुद्धी। दुक्खपरिकिलेसकरं, छिंद ममत्तं सरीराओ ॥१५४७॥**

अन्यदिदं शरीरं अशाश्वतं, अन्यो जीवः शाश्वतो कर्म्मभोक्ता य इदं त्यजति, इत्येवं कृतबुद्धिः सन् रे जीव ! दुःखं असुखं परिक्लेश आयासस्तयोः करं शरीरान्ममत्वं छिन्द्धि तथा चैवं ध्यायेत् ॥ १५४७ ॥ ' जाव '

**जावइया किर दुक्खा, संसारे जे मया समणुभूया। इत्तो दुव्विसहतरा, नरएसु अणोवमा दुक्खा ॥१५४८॥**

यावन्ति दुःखानि किल मया संसारेऽशेषगतिरूपे समनुभूतानि, ततस्तेभ्योऽपि दुर्विषहतराणि असह्यानि नरकेष्वनुपमानि उपमारहितानि दुःखानि सोढानि ॥ १५४८ ॥ ' तम्हा '

**तम्हा उ निम्ममेणं, मुणिणा उवलद्धसुत्तसारेणं। काउस्सग्गो उग्गो, कम्मक्खयट्ठाय कायव्वो॥१५४९॥**

तस्मान्मुनिना उपलब्धसूत्रसारेण ज्ञातसूत्रार्थेन निर्ममेन उग्रः शुभाध्यवसाय कर्म्मक्षयाय न तु स्वर्गाद्यर्थं कायोत्सर्गः कार्यः । उक्तोऽनुगमो नयाः प्राग्वत् ॥ १५४९ ॥ इति कायोत्सर्गाध्ययनं ।

इति श्रीमन्माणेक्यशेखरसूरिविहितदीपिकायुतं श्रीआवश्यकसूत्रगतं पंचमं कायोत्सर्गाध्ययनं संपूर्णतामगमत्

द्वितीयो विभागः ।

अथ द्वितीयः—उदितोदितो राट्ट भार्या श्रीकान्ता । तयैकदा वादे परिव्राजिका जिता । तया तस्याः पट्टे रूपं लिखित्वा वाणारसीराज्ञे दर्शितं, तेन धर्म्मरुचिनामराज्ञा दुतमुखेन सा मार्गिता । ततः ससैन्यः समेतः । उदितोदितेन जनक्षयो मा भूदिति कायोत्सर्गः कृतः । धनदेन ससैन्यो वाणारस्यां मुक्तः । अथ तृतीयः—चम्पायां सुदर्शनः श्रेष्ठिसुतोऽष्टमीचतुर्दश्यादिषु चत्वरे उपासकप्रतिमां प्रपद्यते । राजपत्न्या प्रार्थ्यमानोऽप्यनिच्छन्नन्यदोत्सर्गस्थो देव इति कृत्वा वस्त्राच्छादितोऽन्तःपुरं नीतो राज्ञ्या निर्बन्धादभ्यर्थितेऽनिच्छन् राज्ञीकृतकलकले राज्ञा वध्यत्वे आज्ञप्तो नीयमानः प्रियया मित्रवत्या श्राद्धिकया श्रुत्वा सर्वानुभूतियक्षाराधनाय कायोत्सर्गस्थितया स्कन्धेऽसौ वाहितो सर्वानुभूतियक्षेण पुष्पदाम्नि कृतोऽर्चितो मित्रवत्या कायोत्सर्गोऽपारि ३ । सोदासो यथा नमस्कारे ४ । अथ पञ्चमो दृष्टान्तः—कोऽपि विराधितदीक्षः खड्गजीव उत्पन्नः, पथि जनान् हन्ति । साधून् गच्छतो दृष्ट्वा यातः, साधवः कायोत्सर्गेऽस्थुः । ततोऽशक्तः शान्तोऽभूत् ॥ १५४५ ॥ कायोत्सर्गे कथं कर्म्मक्षयः ? इत्यत्र भाष्यं ' जह '

जह करगओ, निकिंतइ, दारुं इंतो पुणोवि वच्चंतो । इअ कंतंति सुविहिआ, काउस्सग्गेण कम्माइं ॥२४०॥

यथा करपत्रं यात् आयाद्वा पुनः काष्टानि निकृन्तति, एवं सुविहिताः साधवः कायोत्सर्गेण कर्माणि कृन्तन्ति ॥२४०॥ 'काउ

काउस्सग्गे जह, सुट्ठियस्स भज्जंति अंगमंगाइं । इय भिंदंति सुविहिया, अट्ठविहं कम्मसंघायं ॥१५४६॥

कायोत्सर्गे सुस्थितस्य यथाङ्गोपाङ्गानि भज्यन्ते, एवं मुनिवराश्चित्तरोधादष्टविधं कर्म्मसंघातं भिंदन्ति । ननु देहक्लेशदः कायोत्सर्गः कथं क्रियते ? उच्यते ॥ १५४६ ॥ ' अन्नं '

स्थ्येनातिसंहननायां कायोत्सर्गः शुद्धो भवति ॥ १५४४ ॥ गतं कस्यद्वारं १० । अथ फलद्वारं ११–' इह '

**इहलोगंमि सुभद्दा, राया उइओद् ।सिट्ठिभज्जा य । सोदासखग्गथंभण, सिद्धि सग्गो य परलोए॥१५४५॥**

इहलोके कायोत्सर्गफले दृष्टान्ताः–सुभद्रा १ राजा उदितोदितः २ श्रेष्ठिभार्या सुभद्रा ( मित्रवती ) च ३ सोदासः ४ खड्गस्तम्भनं ५। तथा सिद्धिः स्वर्गश्चशब्दाचक्रित्वादि च परलोके फलं। तत्राद्यो दृष्टान्तः–वसन्तपुरे जितशत्रु राट्, जिनदत्तः श्रेष्ठी, सुभद्रा च सुताऽश्राद्धे श्रेष्ठी असाधर्मिके सुतां न दत्तेऽन्यदा चम्पायातो बौद्धश्राद्धः सुभद्रारूपं दृष्ट्वा कपटश्रावको जातोऽर्हतोऽर्चन्, कालेन भावश्राद्धो भूत्वा गुरूनालोचयत् । तैरपि मार्गं शिक्षितः । जिनदत्तेन भावं ज्ञात्वा सुता दत्ता । विवाहादनु ससुभद्रश्चम्पां गतस्तन्मात्रादिभिः सुभद्राहीलने भर्त्रा भिन्नगृहं कृतं । तत्रानेके साधुसाध्व्य आयान्ति, ततो मात्रादिभिः सुतायोक्तं–एषातीव साधुष्वनुरक्ता, पतिर्न मन्यते । सरूपे साधौ भिक्षायाते वातोऽधूते तृणेऽक्ष्णि पतिते सुभद्रया जिह्वयाऽऽकृष्टे साधुभाले पुण्ड्रे संक्रान्ते साधुना व्याक्षिप्तचित्तेनाज्ञाते बहिर्निर्गते मात्रादिभिः तत्पत्युः पुण्ड्रोऽदर्शि । तेनासम्भाव्यमिदं, परं विषया बलिनोऽनेकभवानुगा इति मन्दस्नेहता कृता । सुभद्रा क्वापि ज्ञात्वा शासनोड्डाहस्फोटनाय शासनसुरीमभिसंधार्य रात्रौ कायोत्सर्गे स्थिता । काऽप्यासन्नसुरी तच्छीलं ज्ञात्वाऽऽगतोचे ' किं ते कुर्वे ?' तयोक्तं ' उड्डाहं रक्ष ' । सुर्योचे प्रातः पुरीद्वाराणि स्तम्भयामि, ततो जने व्याकुले नभस्था वक्ष्यामि, यथान्यो नरो मनसा नार्थितः सा चालिन्यामम्बु क्षिप्त्वा वारत्रयं द्वाराणि आच्छोटयोद्घाटयतु । ततः सर्वस्त्रीभिरेवमभवति त्वयोद्घटिष्यन्तीत्युड्डाहो निवर्त्स्यते, त्वच्छीलं वर्णिष्यते । तथैव च सुर्या कृतमित्यादि यावद् द्वारत्रयमुद्घाटितमेकं पिहितं स्थापितं ।

तयैकदा वादे परिव्राजिका जिता । तया तस्याः पट्टे रूपं लिखित्वा
अथ द्वितीयः-उदितोदितो राट् भार्या श्रीकान्ता । तयैकदा वादे परिव्राजिका जिता । तया तस्याः पट्टे रूपं लिखित्वा
अथ द्वितीयः-उदितोदितो राट् भार्या श्रीकान्ता । उदितोदितेन जनक्षयो मा
वाणारसीराज्ञे दर्शितं, तेन धर्मरुचिनामराज्ञा दुतमुखेन मा मार्गिता । ततः ससैन्यः समेतः । उदितोदितेन जनक्षयो मा
भूदिति कायोत्सर्गः कृतः । धनदेन ससैन्यो वाणारस्यां मुक्तः । अथ तृतीयः-चम्पायां सुदर्शनः श्रेष्ठिसुतोऽष्टमीचतुर्दश्या-
दिषु चत्वरे उपासकप्रतिमां प्रपद्यते । राजपत्न्या प्रार्थ्यमानोऽप्यनिच्छन्नन्यदोत्सर्गस्थो देव इति कृत्वा वस्त्राच्छादितोऽन्तःपुरं
नीतो राज्ञ्या निर्बन्धादभ्यर्थितेऽनिच्छन् राज्ञीकृतकलकले राज्ञा वध्यत्वे आज्ञप्तो नीयमानः प्रियया मित्रवत्या श्राद्धिकया
श्रुत्वा सर्वानुभूतियक्षाराधनाय कायोत्सर्गस्थितया स्कन्धेऽसौ वाहितो सर्वानुभूतियक्षेण पुष्पदाम्नि कृतोऽर्चितो मित्रवत्या
कायोत्सर्गोऽपारि ३ । सोदामो यथा नमस्कारे ४ । अथ पञ्चमो दृष्टान्तः-कोऽपि विराधितदीक्षः खड्गजीव उत्पन्नः, पथि
जनान् हन्ति । साधून् गच्छतो दृष्ट्वा यातः, साधवः कायोत्सर्गेऽस्थुः । ततोऽशक्तः शान्तोऽभूत् ॥ १५४५॥ कायोत्सर्गे कथं
कर्मक्षयः ? इत्यत्र भाष्यं ' जह '

जह करगओ, निकिंतइ, दारुं इंतो पुणोवि वच्चंतो। इअ कंतंति सुविहिआ, काउस्सग्गेण कम्माइं॥२४०॥

यथा करपत्रं यात् आयाद्वा पुनः काष्ठानि निकृन्तति, एवं सुविहिताः साधवः कायोत्सर्गेण कर्माणि कृन्तन्ति ॥२४०॥ 'काउ'

काउस्सग्गे जह, सुट्ठियस्स भज्जंति अंगमंगाइं। इय भिंदंति सुविहिया, अट्ठविहं कम्मसंघायं ॥१५४६॥

कायोत्सर्गे सुस्थितस्य यथाङ्गोपाङ्गानि भज्यन्ते, एवं मुनिवराश्चित्तरोधादष्टविधं कर्मसंघातं भिंदन्ति । ननु देह-
प्रत्ययः कायोत्सर्गः कथं क्रियते ? उच्यते ॥ १५४६ ॥ ' अन्नं '

**अन्नं इमं शरीरं, अन्नो जीवुत्ति एव कयबुद्धी। दुक्खपरिकिलेसकरं, छिंद ममत्तं सरीराओ ॥१५४७॥**

अन्यदिदं शरीरं अशाश्वतं, अन्यो जीवः शाश्वतो कर्म्मभोक्ता य इदं त्यजति, इत्येवं कृतबुद्धिः सन् रे जीव ! दुःखं असुखं परिक्लेश आयासस्तयोः करं शरीरान्ममत्वं छिन्द्धि तथा चैवं ध्यायेत् ॥ १५४७ ॥ ' जाव '

**जावइया किर दुक्खा, संसारे जे मया समणुभूया। इत्तो दुविसहतरा, नरएसु अणोवमा दुक्खा ॥१५४८॥**

यावन्ति दुःखानि किल मया संसारेऽशेषगतिरूपे समनुभूतानि, ततस्तेभ्योऽपि दुर्विषहतराणि असह्यानि नरकेष्वनुपमानि उपमारहितानि दुःखानि सोढानि ॥ १५४८ ॥ ' तम्हा '

**तम्हा उ निम्ममेणं, मुणिणा उवलद्धसुत्तसारेणं। काउस्सग्गो उग्गो, कम्मक्खयट्ठाय कायव्वो॥१५४९॥**

तस्मान्मुनिना उपलब्धसूत्रसारेण ज्ञातसूत्रार्थेन निर्ममेन उग्रः शुभाध्यवसाय कर्म्मक्षयाय न तु स्वर्गाद्यर्थं कायोत्सर्गः कार्यः । उक्तोऽनुगमो नयाः प्राग्वत् ॥ १५४९ ॥ इति कायोत्सर्गाध्ययनं ।

इति श्रीमन्माणेक्यशेखरसूरिविहितदीपिकायुतं श्रीआवश्यक-
सूत्रगतं पंचमं कायोत्सर्गाध्ययनं संपूर्णतामगमत्
द्वितीयो विभागः ।